सत्यं शिवं सुन्दरम्

सुन्दर साहित्यमाला

सम्पादक

रामलोचनशरण बिहारी

सुन्दर साहित्यमाला—२०

रस-कलस

[रस-सम्बन्धी अनूठा काव्यग्रंथ]

रचयिता

साहित्य-रत्न

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय और पटना

मूल्य ४)

प्रकाशक—
पुस्तक-भण्डार
लहेरियासराय

मुद्रक—हनुमा
विद्यापति
लहेरियासरा
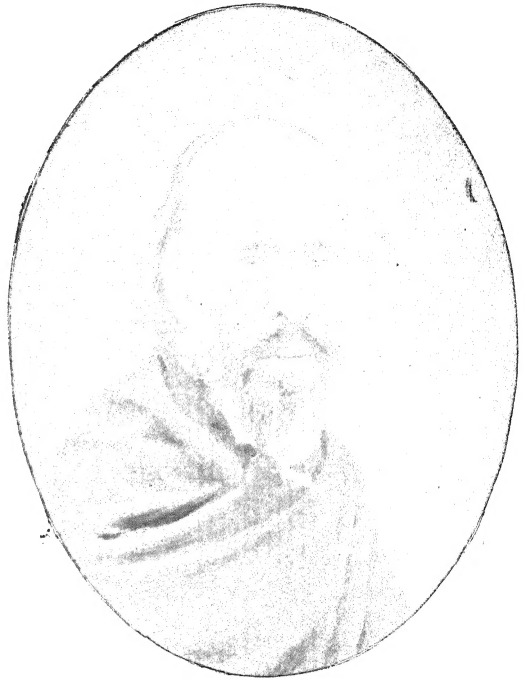
हरिऔध

(कवि-सम्राट्)

प्राक्कथन

अत्यन्त प्रसन्नता का अवसर है कि इधर हमारी भाषा और हमारे साहित्य की उत्तरोत्तर श्रीवृद्धि होती जा रही है, प्रत्येक विद्वान् और सुयोग्य महानुभाव इनकी उन्नति के लिये अनुदिन तन-मन-धन से प्रयत्नशील हो रहा है। नये-नये सुन्दर-सराहनीय ग्रंथ-रत्नों से भाषा-भंडार के भरने का स्तुत्य कार्य किया जा रहा है। विशेष प्रसन्नता होती है यह देखकर कि अब हमारे विद्वज्जन स्थायी साहित्य के निर्माण में भी नवीन विधानों के साथ, वैज्ञानिक ढंग से, अपनी सुरुचि दिखलाने लगे हैं, और ऐसे-ऐसे ग्रंथ-रत्न उपस्थित करने लगे हैं जिनपर वास्तव में हिन्दी-भाषा-भाषियों को गर्व हो सकता है और जो अन्य भाषाओं के रत्नों की श्रेणी में रक्खे जाकर भी निस्संकोच भाव से मूल्यवान कहे जा सकते हैं। प्रस्तुत ग्रंथ-रत्न "रस कलस" इसी प्रकार का एक परम मूल्यवान्, नया अथच न्यारा रत्न है। हम मुक्तकंठ से कहते हैं कि यह ग्रंथ-हिन्दी-साहित्य की रीति-ग्रन्थ-माला में सुमेरु के समान ही सर्व-शिरोमणि है। रस-सिद्धान्त पर इधर वैज्ञानिक विवेचन की शैली से कोई भी सुन्दर सर्वांग पूर्ण ग्रंथ न लिखा गया था, अतएव इस प्रकार के एक ग्रंथ की महती आवश्यकता थी, जिसकी पूर्ति श्री० उपाध्यायजी ने इस ग्रन्थ-रत्न के द्वारा करके हिन्दी-साहित्य तथा तत्प्रेमियों का चिरस्मरणीय हित किया है। प्राचीन कवियों में से कुछ ने इस विषय पर अपने रीति-ग्रंथों में प्रकाश डाला है अवश्य, किन्तु बहुत ही सूक्ष्म रीति से। उनका प्रधान उद्देश्य अपने काव्य एवं कवित्व का प्रदर्शन करना मात्र था, वे वास्तव में कवि-कर्म-कुशल कलाकार

थे, काव्य-शास्त्र-सुधारसाम्बुधि-सिद्धान्त-तरंगस्नात आचार्य न थे। इसीलिये उन्होंने केवल मूल बातें देकर उनकी उदाहरण-रचना को ही अपना अभीष्ट लक्ष रक्खा था, और तदनुसार आचरण भी किया था। उनके ग्रंथों में सिद्धान्त-समीक्षा या मीमांसा तो एक प्रकार से गौण और उदाहरण-रचना-कौशल का प्रदर्शन ही प्रधान है। इसके साथ ही कुछ कवियों ने तो रस-सिद्धान्त का पूरा प्रदर्शन भी नहीं किया, उसके किसी एक विशेष अङ्ग पर ही प्रकाश डाला है। नखशिख-वर्णन और नायक-नायिका का भेद ही प्रायः रचना के लिये प्रधान विषय रहे हैं, जगद्विनोदादिक पुस्तकें इसके उदाहरण हैं। तात्पर्य यह है कि इस विषय की मार्मिक तथा विस्तृत विवेचना की ओर हमारे विद्वानों ने कोई विशेष ध्यान न दिया था।

यद्यपि इस समय इस विषय की दो-चार पुस्तकें हिन्दी-साहित्य-सद्म में उपस्थित हैं, जिनमें से श्री अयोध्या-नरेश कृत "रस-कुसुमाकर", "हिन्दी काव्य में नव रस" एवं "काव्य-प्रभाकर" अति प्रधान और प्रचलित मानी जाती हैं, किन्तु वास्तव में ये सब पुस्तकें सर्वांग-पूर्ण, सुव्यवस्थित तथा वैज्ञानिक विवेचन की दृष्टि से संतोषप्रद नहीं सिद्ध होतीं। इस अभाव की ऐसे सुन्दर ग्रन्थ के द्वारा स्तुत्य पूर्त्ति करने के लिये श्री० उपाध्यायजी को जितना भी साधुवाद दिया जाय, थोड़ा ही है। इस ग्रंथ-रत्न से उपाध्यायजी कवि-काव्याचार्य-श्रेणी में उच्चस्थान प्राप्त कर अमर यश के भव्य भाजन होते हुए शाश्वत् स्मरणीय हो गये हैं।

यथार्थ में काव्यशास्त्र के ऐसे गूढ़ और जटिल विषयों पर प्रकाश डालने के लिये कमनीय कवि-कर्म-कौशल, काव्य-कला कोविदत्व और विशद विद्वत्ता की आवश्यकता है। केवल कवि-प्रतिभा ही न तो इसके शास्त्रीय विवेचन में सफल और समर्थ सिद्ध होती है और न केवल विद्वत्ता या आचार्य्यता ही सर्वथा पर्याप्त हो

सकती है। वस्तुतः काव्य-शास्त्र के मार्मिक विवेचन के लिये कवि-प्रतिभा और विद्वत्ता दोनों की समान रूप से आवश्यकता है। कहा भी गया है—

"कविः कवयते काव्यं मर्म जानाति पंडितः"—तथा—

"अपूर्वो भाति भारत्याः काव्यामृत फले रसः"

"चर्वणे सर्वसामान्यं स्वादुवित्केवलं कविः"।

कहना न होगा कि श्री उपाध्यायजी में दोनों गुण सुन्दर रूपों में विद्यमान हैं। आप उच्चकोटि के "कवि-सम्राट" भी हैं और प्रशस्त काव्याचार्य भी हैं, इसीलिये आप काव्य-कला के सभी प्रकार मान्य मर्मज्ञ, और काव्य-कौशल-तत्वज्ञ हैं। हो सकता है कि कुछ लोग हमारे इस कथन पर किसी कारण कुछ किन्तु-परन्तु करते हुए नाक-भौं सिकोड़ें, किन्तु न्याय के लिये हम उसकी सर्वथा उपेक्षा ही करते हैं। "सत्ये नास्ति भयम् कचित्" पर विश्वास रखकर हम स्पष्टवादिता तथा सत्यप्रियता को ही महत्व देते हुए उपाध्यायजी को वर्तमान समय का एक मात्र महाकवि तथा प्रशस्त आचार्य कहने में रंचक भी नहीं हिचकिचाते।

यदि सत्य और न्याय को हृदय में रखकर देखा और कहा जाय तो उपाध्यायजी का स्थान इस समय हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में सर्वोच्च सिद्ध होता है। भाषा के समस्त प्रधान और साहित्यिक रूपों पर—चाहे वह खड़ी बोली हो, चाहे ठेठ हिन्दी या कथित (So called) हिन्दुस्तानी, (चलती हुई बामुहावरा साधारण हिन्दी) चाहे व्रजभाषा हो और चाहे अवधी, सभी पर आप को असाधारण और पूरा अधिकार प्राप्त है। उनके सब रूपों की समस्त उत्कृष्ट और साधारण शैलियों के सुप्रयोग में भी आप सर्वथा सफल और प्रशस्तरूपेण पटु सिद्ध हुए हैं। आप के 'प्रिय-प्रवास', चोखे चौपदे, बोलचाल, ठेठ हिन्दी का ठाठ, कबीर-वचनावली की भूमिका,

सभापति के रूप में दिये गये भाषण आदि रचनाओं से आपकी खड़ी बोली के विविध रूपों और ढंगों में प्रकामाभिराम पटुता तो हिन्दी-संसार को प्रकट ही हो चुकी है, अब इस "रस-कलस" के द्वारा आपकी व्रजभाषा-मर्मज्ञता का भी यथेष्ट परिचय प्राप्त हो जायगा। वास्तव में ऐसी बहुमुखी प्रतिभा तथा पांडित्य-परिपुष्ट काव्य-कला-कुशलता के साथ भाषा-भांडार-भांडारिता बिरले ही महापुरुषों के सौभाग्य में देखी जाती है। हम कह सकते हैं कि न केवल इस वर्त्तमान समय में ही उपाध्याय जी हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में सर्वोच्च कवि-कीर्ति की कल कमनीय-कान्ति-कौमुदी के कलित कलाधर हो रहे हैं, वरन् इसी प्रकार चिरकाल तक बने रहेंगे।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास से यह सर्वथा स्पष्ट है कि हिन्दी-साहित्य के अलंकृत या कला-काल में रीति-ग्रंथों की रचना करने की एक परिपाटी चल पड़ी थी, जो लगभग दो सौ वर्ष तक बड़ी प्रबलता और प्रचुरता के साथ साहित्यागार को रुचिर रीति-ग्रंथों से सुसज्जित करती रही। इसी परिपाटी या प्रणाली के प्राबल्य-प्रभाव से प्रेरित होकर आचार्य महाकवि केशव, मतिराम, भूषण, देव, दास, पद्माकर आदि कविवरों ने अलंकार एवं रसादि सम्बन्धी कतिपय सुन्दर ग्रंथ रचे थे। इस परंपरा को १८०० ई० के लगभग से शिथिलता प्राप्त हो चली और धीरे-धीरे वर्त्तमान समय में इसका एक प्रकार से लोप सा हो गया। इधर की ओर कुछ महानुभावों ने देश-काल के अनुसार रीति-ग्रंथों की रचना-शैली में कुछ रूपान्तर उपस्थित करने का सफल प्रयास किया और दोहों आदि छंदों में न देकर गद्य में ही अलंकारादि की परिभाषाएँ देने तथा उनकी मार्मिक विवेचना करने की नव-पद्धति चलाई। परन्तु प्रायः विद्वानों ने अलंकार-विवेचन पर ही विशेष ध्यान दिया था, रस-सिद्धान्त के विवेचन की ओर वे अग्रसर न हुए थे। सच

पूछिये तो रस, नायक नायिका-भेद तथा नख-शिख-वर्णन वाली परम्परा की इस नव युग में एक प्रकार से इतिश्री ही हो गई थी। परन्तु श्री० उपाध्यायजी ने इस परम्परा को भी ठीक उसी प्रकार नये जीवन का दान दिया, जिस प्रकार आपने अपने परम प्रशस्त "प्रिय-प्रवास" के द्वारा कृष्ण-काव्य की परम्परा को विशेषत्व प्रदान किया है। कृष्ण-काव्य की रचना-परम्परा में ब्रजभाषा का ही प्राधान्य रहा है क्योंकि वह उस व्रज की मंजु-मधुर भाषा है, जहाँ व्रज-विपिन-विहारी ने अपनी अति प्रिय शीला ललित लीला की थी। उपाध्यायजी ने उसमें खड़ी बोली का संचार कर युगान्तर ही उपस्थित नहीं कर दिया, वरन् खड़ी बोली को भी कृष्ण-लीला के सुधारस से सिंचित कर संजीवन रस प्रदान किया है। इतना ही नहीं, खड़ी बोली की कविता-कामिनी को भी उन्होंने सुधेय गेय गोविन्द-पदारविन्द-मकरंदानंद-सेविनी मलिन्द-महिषी होने का सुअवसर दिया और इस प्रकार उसे सौभाग्यशालिनी भी बनाया है। संस्कृत सरस पद-विन्यास संयुक्त, भावमय, सुप्रवृत्ति-सम्पन्न, सुवर्ण-वृत्तालंकृत और मोहन-मन-मोहिनी बनाकर उन्होंने सदा के लिये उसे जिस सरस सुमनासन पर बिठला दिया है, वह भी सर्वसुलभ नहीं।

जिस प्रकार "प्रिय-प्रवास" के वाणी-विलासकर-अनुपम-आवास में आपने लोकोपकारादि अन्य, स्वभावजन्य, गेय गुणों को, विशद विकाश-प्रकाश देनेवाले, नये न्यारे रम्य रंगों से अनु-रंजित, विविध विचार-विधि-व्यंजित, वृजेश के विचित्र-चारु-चित्र चित्रित कर, समयानुकूल मंजु-मौलिकता दिखलाई है, उसी प्रकार इस "रस कलस" में भी देश-कालोपयुक्त, युक्ति-युक्त, पाश्चात्य दुर्गुण-विमुक्त आर्यावर्तीय सभ्यता-संस्कृति-सुकृति सूचक, ध्रुवधार्य, आर्य कार्य के आदर्श उपस्थित कर, ब्रजभाषा की प्राचीन रचना-परम्परा में, भव्य रूपेण नव्य-मौलिकतामयी-जीवन

स्फूर्ति के द्वारा उसकी अपूर्ति में पूर्ति के लाने का भी सफल प्रयास किया है। कतिपय नई नायिकाओं की भी आपने देश-कालानुकूल मौलिक कल्पना की है-यथा-देश-प्रेमिका, जाति-सेविका आदि जो सराहनीय एवं अनुकरणीय है।

नायक-नायिका-भेद जैसे विषय पर रचना करते हुए भी आप ने शिष्टता (श्लीलता) का सर्वत्र सुन्दर और सराहनीय निर्वाह किया है। वस्तुतः यह बड़ा ही कठिन कार्य है और आप ही जैसे सुयोग्य, महाकवि का काम है। सर्वत्र भव्य भारतीय नव्य भावनाओं की ही गहरी छाप है, अपने ही समाज के सुन्दर-स्तुत्य आचारों-विचारों की महत्ता-सत्ता स्थान-स्थान पर दिखलाई गई है। दूर से देखने पर दिव्यदामाभिराम पाश्चात्य देशों के उन दुर्गुणों की मिथ्या मनोहरता के बड़ी युक्ति तथा मार्मिकता से दिखलाने की चेष्टा की गई है, जिनकी वहिरंग-रंग-रुचिरता से समाकृष्ट हो, भ्रान्त नवयुवक मृगतृष्णा में भूले-भटके तथा तंग आये कुरंग-वृंद से पथ-भ्रष्ट अथच ताप-तप्त बन पश्चात् पश्चात्ताप करते फिरते हैं। यही उपाध्यायजी का कवि-संदेश देश के लिये जान पड़ता है। रचना का एक दूसरा प्रधान उद्देश्य भी यही प्रतीत होता है। वास्तव में प्रत्येक लेखक एवं कवि का यही मुख्य कर्तव्य-कर्म तथा परिपालनीय धर्म है कि वह अपनी रचना के द्वारा अपने देश तथा समाज की समय-सम्मानित सभ्यता-संस्कृति का संरक्षण करता हुआ प्राचीन परम्परा का यथेष्ट (यथावश्यकता) परिमार्जन एवं परिशोधन कर अपने वास्तविक धर्म-कर्म का प्रचार करे, और पर-प्रभाव-प्रभावित एवं भ्रम-भूल से भूले हुए नव-युवकों को सत्पथ पर अग्रसर कर देश-जाति के हित-सम्पादन में लगे-लगाये। जो लेखक या कवि अपने ऐसे उत्तरदायित्व को नहीं समझते और देश-जातिके हिताहित का ध्यान नहीं रखते या परखते वे वास्तव में रच-

यिता-राजि-भूषण होकर भी देश-दूषण ही ठहरते हैं। उनकी अमूल्य रचनाएँ भी बिना मूल्य हो लुप्त होती हुई अपने साथ समय के गुप्त-गह्वर में उन्हें भी सदा के लिये सुप्त कर देती हैं। कोई भले ही इस प्रकार के कवि को उपदेशक तथा समाज-सुधारक कहता हुआ उसके स्थान को कुछ दूसरा दिखलाने का प्रयत्न करे और उसे कुछ कम महत्व दे—यद्यपि वास्तव में इन गुणों के कारण उसका स्थान एवं महत्व और अधिक बढ़ जाता है—किन्तु ऐसा समझदार संसार उस व्यक्ति के ऐसे कथन को ही महत्व न देगा, जो यह जानता है कि कवि ही वह व्यक्ति है जो देश-जाति को उन्नत एवं अवनत करने, बनाने-बिगाड़ने, योग्यायोग्य पद देने में समर्थ होता है। कवि तो वस्तुतः सृष्टि का स्रष्टा है ("कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः"—वेद) वही अखिलेश है, किन्तु हो वह सच्चा कवि। जितने भी सच्चे कवि हुए हैं, सभी ने समाज-हित के लिये अपनी रुचिर रसना से सुधार-रस-धारा प्रवाहित की है, सभी ने उचित उन्नतिकारी, उपकारी उपदेश देश-समाज को दिये हैं। यही कार्य उपाध्यायजी ने भी किये हैं।

"रस-कलस" शब्द ही ग्रन्थ के वर्ण्य विषय को स्पष्ट रूप से प्रकट कर देता है, इसलिये इस सम्बन्ध में यहाँ केवल इतना ही कहना सर्वथा अलम् है कि इस ग्रन्थ में काव्य के शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्साद्भुत और शान्त नामक नवों रसों, उनके ९ स्थायी और ३३ संचारी भावों, विभावों (आलम्बन—जिसके अन्तर्गत है समस्त नायक-नायिका-भेद और उनका नख-शिख-वर्णन, और उद्दीपन—जिसके अन्दर आते हैं सखा-सखी-भेद और कर्म, समय-स्थान-प्रकार तथा षट् ऋतु-वर्णन) और ४ प्रकार के अनुभावों (जिनके अन्दर अंगज, अयत्नज और स्वभावज हाव-भावादि अलंकार आ जाते हैं) का यथोचित और यथाक्रम सर्वांग-पूर्ण सुन्दर और सराहनीय विशद वर्णन किया गया है। सर्वत्र

उदाहरण मंजु-मृदु-मधुर और मौलिक दिये गये हैं। प्रायः अन्य रस-ग्रंथों में शृङ्गार रस का ही विस्तार दिखलाया जाता है और विभावानुभावादि सम्बन्धी उदाहरणों में भी इसी रस को प्रधानता दी जाती है, तथा अन्य रसों का केवल सूक्ष्म परिचय मात्र दे दिया जाता है जिस से वाचक-वृन्द को यथेष्ट ज्ञान नहीं हो पाता। यह ग्रन्थ इस न्यूनता से सर्वथा मुक्त होकर समस्त रसों के विशद वर्णन से संयुक्त हो अधिक उपयुक्त बन गया है। शृंगार रस चूँकि सर्व रस-प्रधान रसराज तथा साहित्य-शिरमौर माना गया है, इसलिये उसके समस्त अंग-प्रत्यंग का नवरंग-ढंग-रंजित तथा विविध विचार-व्यंजित विमल वासना-वलित, सुकल्पना-कलित, अति ललित वर्णन किया गया है। केवल कुछ ऐसे ही विषय छोड़ दिये गये हैं जो इतने अश्लील हैं कि उनका सर्वथा सुशिष्ट और सुरुचिमिष्ट बनाना असम्भाव्य ही सा ठहरता है, जहाँ तनिक भी ऐसे विषय अपने साधारण रूप में भी आ गये हैं, वहाँ उनके अनीप्सित प्रभाव के अभाव को दूर करने के लिये भाषा दुर्बोध, गूढ़ तथा कुछ जटिल कर दी गई है, जिससे उस प्रसंग का अंतरंग, अंग उन्हीं सज्जन वाचक-वृन्द को अवगत हो सके, जो कला-कौशल-प्रेमी और नीति-रीति-नेमी होकर सत्सार-सराहक और गुण-ग्राहक हैं और जिनके विद्या-व्रत-स्नात वर-विवेक-जन्य-विचार उनके मनोविकार पर पूर्णतया प्रभाव डाल कर उन्हें स्वच्छन्द छल-छन्द की ओर नहीं दौड़ने देते। वास्तव में यही सत्कवि का कर्तव्य-कर्म और रचना-रस-रंग के नैर्मल्य का मुख्य मर्म है।

प्रायः यह देखा जाता है कि कवि लोग किसी एक विशेष रस (प्रायः शृङ्गार, वीर, करुण) में रचना करने का अभ्यास कर लेते हैं और इसीलिये उस रस में वे चोखी तथा कभी-कभी अनोखी रचना भी करते हैं। किन्तु अन्य रसों की रचना करने में वे प्रथम तो समर्थ ही नहीं होते और यदि कुछ होते भी हैं तो सर्वथा सफल

नहीं होते। यह परम-प्रखर-पांडित्य-पूर्ण, पटु-प्रतिभावान् सत्कवि-महान् का ही कार्य होता है कि वह प्रत्येक रस में सराहनीय सफलता से सुन्दर, सुखद और रोचक रचना कर ले। महाकवि का यह एक प्रधान और विचक्षण लक्षण है। श्री उपाध्यायजी में भी यह लक्षण आकर उन्हें महाकवि मानने के लिये पाठकों को उसी क्षण प्रेरित करता है जब वे उनकी विलक्षण रचना का सम्यक् समावलोकन कर चुकते हैं। इस ग्रंथ में जिस रस के जो उदाहरण दिये गये हैं, उन सब में उस रस का यथोचित परिपाक पाया जाता है, जिससे उनमें सरसता के साथ ही साथ सफल सार्थकता तथा स्वाभाविकता सी मिलती है। साकारता और सजीवता तो कहीं भी किसी प्रकार कम हुई ही नहीं। इन उदाहरणों में भी उपाध्यायजी ने बड़ी मार्मिक, धार्मिक, उपयुक्त तथा उपादेय बातें कही हैं। अद्‌भुत रस के उदाहरणों में आपने "रहस्यवाद" के सच्चे स्वरूप और उसके गूढ़-गहन, मोहन, मर्म अथवा रुचिर-रोचक रहस्य का चारु चित्रण सहज, सूक्ष्म किन्तु मूल-मंत्र सूचक रूप से किया है और इस प्रकार रहस्य-वादियों को भी सच्चे रहस्यवाद की पथरीली राह को रसीली करके दिखलाया है। यों ही अन्यत्र कतिपय स्थानों पर भी उन्होंने कितनी ही आवश्यक समस्याओं के सुलझाने, समझने तथा समझाने की ओर न्याय-निकेत सुन्दर संकेत दिये हैं।

ग्रंथ की रचना-वस्तु-सम्बन्धी इन अवश्यं अवलोकनीय और अनिवार्य रूपेण प्रशंसनीय मौलिक विशेषताओं की ओर सूक्ष्मतया इस प्रकार संकेत करके यहाँ हम इस ग्रंथ की भाषा के सम्बन्ध में भी संक्षेप से प्रकाश डालना उचित समझते हैं, क्योंकि भाषा की महत्ता भाव-सत्ता के सम्मुख यदि अधिक नहीं तो न्यून भी कदापि नहीं है। कह भी सकते हैं कि रचना-क्षेत्र में भावों की अपेक्षा भाषा का ही महत्त्व अधिक प्रबल और प्रधान है। यद्यपि भाषा को भावों

का परिधान-सा कहा जाता है, तथापि यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो परिधान होते हुए भी यही प्रधान, भाव-प्रभाव-निधान और विचार-विधाना-विधायक ठहरती है। बिना भाषा के विचारों या भावों का विकास तथा विद्या-बुद्धि-विलास का प्रकाश हो ही नहीं सकता। भाव चाहे कितने ही अच्छे क्यों न हों—यदि वे अच्छी भाषा में अच्छे ढंग और रुचिर रचना-रंग के साथ व्यक्त न किये गये तो वे सर्वथा अरोचक और अन्यथा ही से हो जाते हैं। चारु चोखी भाषा और अनोखी रीति-नीति से प्रकट किये गये विचार साधारण होते हुए भी असाधारण से होकर धारणा में धारण करने के योग्य और मनोज्ञ हो जाते हैं। इसीलिये भाषा को रचना-कला में विशेष महत्व देकर सुसज्जित तथा वैचित्र्य-विनिमज्जित करके मृदु-मधुर-मनोहर बनाने के विविध-विधान भाषा-भाव-भूषणों के रूपों में बनाये गये हैं, अस्तु।

उपाध्यायजी ने इस ग्रन्थ की रचना उस परम प्रशस्त परम्परा प्रचलित सुललित-व्रज-भाषा में की है, जो अपने मार्दव, माधुर्य आदि गेय गुणों की गरिमा के कारण, काव्य की एकमात्र उपयुक्त भाषा के रूप में साहित्य-स्रष्टा कवि-राज-समाज में सर्व साधारण-द्वारा अनुमोदित होकर धारण की गई है, इसी के लोक-प्रिय अनुपम आलोक से साहित्यादित्य* आलोकित होकर अद्यापि अवलोकित होते हैं। आपने अपनी रचना में व्रज-भाषा का तो प्रयोग किया है, किन्तु यह व्रज-भाषा अन्य साधारण कवियों की-सी नहीं, वरन् अपने रंग-ढंग की विशेष व्रज-भाषा है। कहा जाता है कि भारतेन्दु बाबू ने व्रज-भाषा तथा उसकी रीति-नीति में देश-कालानुसार नवीन विशेषताओं का संचार किया था, कुछ अंशों में यह ठीक है। किन्तु यदि विचार पूर्वक एक निष्पक्ष न्याय-पोषक निरीक्षक की भाँति

---

* साहित्य-सूर्य-सूरदास।

सूक्ष्म और विचार-पूर्ण दृष्टि से देखा जाय तो वास्तव में व्रजभाषा को नवीन रूप से परिमार्जित और संस्कृत करने का स्तुत्य कार्य इस काल में विशेषतया श्री० स्व० "रत्नाकर" जी ने ही किया है। उन्होंने साहित्यिक-व्रज भाषा का एक रूप निश्चित कर उसे परिष्कृत तथा परिपुष्ट कर प्रचलित किया है, आजन्म उन्होंने इसी भाषा की पूरी देख-भाल और सेवा की, और तब उसे अपने अनुकूल चलाने में समर्थ हो सके। श्री० "रत्नाकर" जी ने व्रज-भाषा को साहित्यिक सौष्ठव एवं स्थैर्य के साथ एक निश्चित रूप से परिष्कृत तो किया किन्तु उसे रक्खा प्राचीन ही रंग-ढंग में, उन्होंने उसे निखारने का ही सफल सराहनीय प्रयास किया। श्री उपाध्याय जी ने व्रज-भाषा में दूसरे प्रकार की विशेषताओं के निखारने का प्रयत्न किया है और अपने इस प्रशंसनीय प्रयास में वे सफल भी हुए हैं।

सबसे बड़ी विशेषता जो आपकी व्रज-भाषा में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है, यह है कि आपने अपनी भाषा में नवीन भावों को व्यञ्जित करने की क्षमता उद्दीप्त कर दी है, इसके लिये कहीं-कहीं उन्हें उसे विशेष रूप से चलाना भी पड़ा है। आपने प्रायः पुराने घिसे-घिसाये और प्रयोगच्युत ऐसे शब्दों के निराकरण या दूरीकरण से भाषा को स्वच्छ करने का प्रयत्न किया है, जिनका प्रयोग केवल परम्परागत रूढ़ियों की प्रेरणा से ही प्रायः प्राचीन परम्परानुयायी कवि किया करते हैं, जिनके प्रयोग, अर्थ आदि से जनता अब परिचित नहीं रह गई और जो भाषा की दुरूहता के ही कारण होते हैं। आपने कतिपय शब्द अपने नवीन भावों के लिये संस्कृत से लेकर बड़ी कुशलता से प्रयुक्त कर भाषा की शब्द-राशि को बढ़ाते हुए भाव-व्यंजकता भी बढ़ा दी है। वास्तव में किसी कवि का यह कार्य विशेष महत्ता एवं सत्ता सूचित करता है। जो कवि जितने ही नये, निराले शब्द एवं प्रयोग (मुहावरे) कल्पित

कर इस प्रकार प्रयुक्त करता है कि उनसे भाषा की भाव-व्यंजक क्षमता, शब्द-राशि तथा विचित्रता बढ़-चढ़ जाती और उसमें विलक्षणता भी आ जाती है वह उतनी ही उत्कृष्ट श्रेणी का कवि माना जाता है। प्रत्येक महाकवि अपनी प्रतिभा के प्रभाव से अपनी एक विशेष भाषा तथा शैली (रीति-नीति) लेकर साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होता और जीर्ण-शीर्ण, प्रयोग-परिचय-च्युत रूढ़िगत शब्दादिकों के चर्वित-चर्वण-प्राबल्य से समुत्पन्न अनिष्ट अजीर्ण को अपने अजीर्ण (नये निराले) शब्दादिकों से दूर करने का प्रयत्न करता है। दूसरे लोग फिर उसी का अनुकरण या अनुसरण करते हैं और उसे अपना पथ-प्रदर्शक, औरप्रधान प्रवर्तक, मानने लगते हैं। उपाध्यायजी को भी हम इसी श्रेणी का महाकवि कह सकते हैं।

भाषा आपकी सर्वथा सुव्यवस्थित, संयत और सुगठित है, शब्दावली सब प्रकार भावानुकूल, रसपरिपोषक और सबल है, कोई भी शब्द-शिथिल, अनावश्यक और केवल छन्द या पाद का परिपूरक नहीं है। प्रायः आपने एक प्रधान और भावपूर्ण शब्द को लेकर उसीसे बननेवाले अन्य कई प्रकार के शब्दों का यथावश्यकता चारु चमत्कार-चातुर्य के साथ प्रयोग करके एक विशेष प्रकार का कौशल दिखलाया है! सर्वत्र पद-मैत्री और वर्ण-मैत्री अपने सुन्दर रूपों में पाई जाती है। शब्दों के उक्त विशेष प्रयोग से बड़ी विलक्षणता एवं विचक्षणता अनुप्रासों के रूपों में प्रतिभात होती है।

शब्दों के भिन्न-भिन्न प्रकाराकार वाले प्रयोगों से रचना-कला में रचयिता की प्रकामाभिराम पटुता प्रकट होती है। यह दिखलाने का भी पूरा प्रयत्न किया गया है कि शब्द कितने भिन्न-भिन्न अर्थों में, कितने भिन्न-भिन्न रूपों या आकारों-प्रकारों से प्रयुक्त किया जाता या जा सकता है, इस कार्य में सफलता भी बहुत हुई है।

भाषा को मुहावरेदार रखने का भी अच्छा प्रयत्न किया गया है। इससे भाषा में लालित्य के साथ-ही-साथ प्रसाद गुण की भी वृद्धि हो गई है। शब्द-संचयन और संगुम्फन भी बड़ा ही संयत और सराहनीय है, जिससे प्रकट होता है कि उपाध्यायजी ने शब्द-संग्रह में बड़ा स्तुत्य श्रम किया है। वस्तुतः ऐसे ही उच्चकोटि के कवियों का यह काम है जो प्रगाढ़ पांडित्य और भाषाधिपत्य के सूचित करने में सर्वथा समर्थ होते हैं। कवि, यदि यथार्थ कहा जाय, एक कुशल शब्द-संग्रहकार है, शब्दों में ही उसकी शक्ति *, अनुरक्ति और भक्ति रहती है, और रहना भी चाहिये। जितनी ही सफलता उसे शब्द-संग्रह में प्राप्त होगी उतनी ही सफलता उसे रचना-कार्य में भी प्राप्त हो सकेगी। कुछ लोगों का कहना है कि शब्दों के चुनाव और कला-कौशल के साथ उनके संगठित करने से रचना की उस स्वाभाविकता को, जा प्रधान और मुख्य है, धक्का पहुँचता है और वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। कहीं किसी अंश में यह ठीक हो सकता है, किन्तु सर्वत्र इसे चरितार्थ मानना वास्तव में रचना-कला (काव्य-कला) और कवि-कर्म-कौशल के मर्म का न समझना ही है। काव्य में वैचित्र्य या वैलक्षण्य का ही पूरा ध्यान रखकर शब्द-चयन और पद-संगुफन अथवा वाक्य-विन्यास के संगठन का कार्य करना चाहिये। हम कह सकते हैं कि जैसी स्तुत्य एवं चिरस्मरणीय तथा अनुकरणीय सफलता उपाध्यायजी को खड़ी बोली के प्रयोग में मिली है, प्रायः वैसी ही व्रज भाषा के प्रयोग में भी प्राप्त हुई है। सच्ची कवि-प्रतिभा वही है कि जो समान सफलता के साथ काव्य-कला के भिन्न-भिन्न अंगों में पृथक्-पृथक् रीति-नीति (शैली) और भाषा के द्वारा कृत-कार्य हो सके।

---

*"कविहिं अरथ-आखर-बल साँचा"—तुलसी०

सारांश यह है कि भाषा, भाव, कला-कौशल आदि सभी दृष्टियों से उपाध्यायजी का यह ग्रंथ रत्न वस्तुतः अपने रंग-ढंग का अप्रतिम और परम प्रशंसनीय ठहरता है। सम्भव है कि किसी को इसके मयंक-अंक में कहीं कुछ कालिमा भी दिखलाई पड़े, किन्तु वह इसकी कमनीय-कौमुदी-कान्ति के समक्ष निष्पक्ष रूप से देखने पर क्या होगी? कुछ नहीं, केवल दृष्टि-भ्रांति। हाँ, जलौका-प्रवृत्ति वाले भले ही व्यर्थ के लिये छिद्रान्वेषण कर सकते हैं और नीरस-जन स्वार्थ आदि किसी विशेष कारण से निन्दा तक कर सकते हैं, इसके लिये स्वयम् उपाध्यायजी ही ने कह दिया है—

"हरिऔध" कैसे "रसकलस" रुचैगो ताहि,
जाको उररुचिर रसन तैं न सोहैगो।

मूलग्रंथ पर इस प्रकार विहगम-दृष्टि के द्वारा प्रकाश डाल चुकने पर हम ग्रंथ के पूर्वार्ध का भी, जो भूमिका के रूप में है, कुछ संक्षिप्त परिचय दे देना चाहते हैं। यह पूर्वार्द्ध भी अपनी विशिष्ट महत्ता और सत्ता रखता है, और अनिवार्य रूप से अवलोकनीय, विचारणीय, और ग्रहणीय या अनुसरणीय है। इसमें व्रज-भाषा तथा उसके काव्य पर प्रायः जो अनर्गल आक्षेप किये जाते हैं और जिन्हें प्रमादिक, तर्क-प्रमाण-शून्य, ईर्षा-द्वेष-जन्य तथा निराधार या निरर्थक समझ कर व्रजभाषा-प्रेमी विद्वान् उपेक्षा के ही साथ देखते-सुनते आये हैं, उनके उत्तर बड़ी ही सतर्कता, योग्यता और गंभीरता से दिये गये हैं और व्रज-भाषा की महान् महत्ता-सत्ता का पांडित्यपूर्ण प्रतिपादन किया गया है। बड़ी ही न्यायप्रियता, निष्पक्षता तथा युक्ति के साथ उसके पक्ष का विपक्ष-वृन्द कृत वितंडावाद के समक्ष समर्थन भी किया गया है। इससे खड़ी बोली के विद्वान् विधायक आचार्य उपाध्यायजी का व्रज-भाषा में विशद एवं मार्मिक अध्ययन, तथा ज्ञानानुभव स्पष्टतया प्रकट होता है। इसी

प्रकार इसी भूमिका में आपने शृंगार रस पर किये जानेवाले कड़े कटाक्षों की भी निस्सारता और निमूलता दिखलाई है और उसे सतर्क रस-राज सिद्ध किया है। ऐसा करके वस्तुतः उपाध्यायजी ने भूले हुए नवयुवकों की आँखें खोल दी हैं और उन्हें व्रजभाषा तथा उसके शृङ्गारात्मक काव्य-कौशल का सच्चा मर्म समझा दिया है, अब कोई समझे या न समझे, माने चाहे न माने।

मूल ग्रंथ, चूँकि रीति-ग्रन्थों की परम्परागत रचना-शैली से लिखा गया है, इसलिये उसमें रस-सिद्धान्त से सम्बन्ध रखनेवाले विविध मत-मतांतरों, उनके आधार पर होनेवाले क्रमिक विकास आदि की सम्यक् समीक्षा या मीमांसा नहीं की गई, और इस प्रकार विषय-विवेचन का एक अत्यन्त आवश्यक या अनिवार्य अंग रह गया था। अतएव उपाध्यायजी ने अपनो भूमिका में (जिसका कार्य वस्तुतः विषय में प्रवेश कराना और उसके सम्बन्ध की अन्य आवश्यक बातों का यथेष्ट निरूपण या स्पष्टीकरण करते हुए समुचित परिचय देना है) इन सब बातों का बड़ा ही मार्मिक और पांडित्यपूर्ण विवेचन किया है और इस न्यूनता की परमोपयोगी तथा परमावश्यक पूर्ति कर दी है। भूमिका के इस अंश से उपाध्यायजी के प्रगाढ़ पांडित्य, विस्तृताध्ययन तथा पूर्ण ज्ञान का स्पष्ट रूप से पता चलता है।

इस प्रकार रस-सिद्धान्त के हिन्दी में एक सर्वोपरि, सर्वमान्य तथा सर्वथा श्लाघनीय ग्रन्थ के उपस्थित करने पर हम उपाध्यायजी को सहर्ष हृदय से बधाई देते हैं और मुक्तकंठ से उनके सफल श्रम की प्रशंसा करते हैं, हमें सुदृढ़ विश्वास है कि समस्त सहृदय तथा सुयोग्य समाज हमारे ही समान उपाध्यायजी को इस महत्वपूर्ण कार्य के लिये हृदय खोलकर बधाई देता हुआ इस ग्रंथ-रत्न का समुचित समादर करेगा।

इस ग्रन्थ-रत्न में हमारी समझ से यदि रसों एवं भाव-भावनाओं (Feelings and Emotions) का मनोवैज्ञानिक (Psychological) विवेचन भी और जोड़ दिया जाय (चाहे वह परिशिष्ट के ही रूप में रक्खा जाये) तो अत्युत्तम होकर सोने और सुगन्धि की कहावत को चरितार्थ कर दे। इसी के साथ यह भी दिखला देना उपयुक्तोपादेय सिद्ध होगा कि रस-सिद्धान्त नाटक-रचना से प्रारम्भ होकर अर्थात् नाटकों के ही आधार पर प्रथम उठाया और उन्हींके लिये आवश्यक ठहराया जाकर क्यों, कब और कैसे काव्य-शास्त्र के अन्दर प्राधान्य प्राप्त कर सका। इस संस्करण में इन बातों के दिये जाने की कठिनाई को देखते हुए हम उपाध्यायजी से दूसरे संस्करण में इनके देने का अनुरोध करते हैं, और इसलिये यह साग्रह कहते हैं जिससे यह ग्रन्थ सर्वांग-पूर्ण होकर अपने रंगढंग का अकेला ही रहे और चिरस्थायी बन जावे।

अन्त में हम फिर उपाध्यायजी को इस ग्रन्थ-रत्न के सफलता पूर्वक प्रणयन करने तथा हिन्दी-साहित्य में काव्य-शास्त्र के इस अंग की प्रशंसनीय पूर्ति करने के लिये सहर्ष हार्दिक साधुवाद देते हैं और विश्वास रखते हैं कि भावुक कवि-समाज, सहृदय वाचक-वृन्द तथा सु योग्य समालोचक समुदाय इसको समुचित समादर देते हुए अनुराग के साथ अपनायेगा। तथास्तु।

रमेश-भवन
प्रयाग

विद्वज्जन कृपाकांक्षी
रामशङ्कर शुक्ल "रसाल"
एम० ए०

उन पुस्तकों के नाम जिनसे 'रसकलस' की रचना में सहायता ली गई है।

गण-नांक	पुस्तक का नाम	पुस्तक प्रणेता का नाम	भाषा
१	अग्नि पुराण	महर्षि व्यास	संस्कृत
२	श्रीमद्भागवत	,,	,,
३	नाट्यशास्त्र	महामुनि भरत	,,
४	भक्तिसूत्र	देवर्षि नारद	,,
५	शब्द विवेक	कश्चित्	,,
६	शब्द कल्पद्रुम	कश्चित्	,,
७	शृंगारप्रकाश	भोजदेव	,,
८	धर्मशास्त्र संग्रह	कश्चित्	,,
९	काव्य प्रकाश	आचार्य्य मम्मट	,,
१०	रसगंगाधर	पण्डितराज जगन्नाथ	,,
११	साहित्य दर्पण	आचार्य विश्वनाथ	,,
१२	रघुवंश	महाकवि कालिदास	,,
१३	कुमार संभव	,,	,,
१४	उत्तर रामचरित	महाकवि भवभूति	,,
१५	भक्ति रसायन	मधुसूदन सरस्वती	,,
१६	रसमंजरी	कश्चित्	,,
१७	रामायण-गीतावली	गोस्वामी तुलसीदास	हिन्दी
१८	सूरसागर	प्रज्ञाचक्षु सूरदास	,,
१९	रामचन्द्रिका	आचार्य केशवदास	,,
२०	कविप्रिया	,,	,,

गण-नांक	पुस्तक का नाम	पुस्तक प्रणेता का नाम	भाषा
२१	रसिक प्रिया	आचार्य केशवदास	हिन्दी
२२	देवग्रंथमाला	कविपुंगव देवदत्त	,,
२३	रहिमन शतक	रहीम ख़ाँ ख़ानख़ाना	,,
२४	मतिराम ग्रंथावली	मतिराम	,,
२५	विहारी सतसई	कविवर विहारीलाल	,,
२६	जगद्विनोद	पद्माकर भट्ट	,,
२७	कबीर ग्रंथावली	कबीर साहब	,,
२८	हरिश्चन्द्र ग्रंथावली	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	,,
२९	हिन्दी शब्दसागर	कतिपय प्रसिद्ध विबुध	,,
३०	काव्य प्रभाकर	बाबू जगन्नाथ प्रसाद भानु	,,
३१	काव्य कल्पद्रुम	बाबू कन्हैयालाल पोद्दार	,,
३२	नवरस	पं० बाबूराम वित्थरिया	,,
३३	हिन्दी रसगंगाधर	पं० पुरुषोत्तम शर्मा	,,
३४	रसकुसुमाकर	महाराज अयोध्या	,,
३५	मीरा भजनावली	मीराबाई	,,

इन ग्रंथों के अतिरिक्त सामयिक पत्रपत्रिकाओं और अनेक अँगरेजी, फारसी, उर्दू और बँगला ग्रंथों से भी इस ग्रंथ की रचना में सहायता ली गई है।

—हरिऔध

भूमिका की सूची

भूमिका

रस-निर्देश

रस शब्द अनेकार्थक है, व्युत्पत्ति इसकी 'रस्यते इति रसः' है, जिसका अर्थ यह है कि जो चखा जावे अथवा जिसका स्वाद लिया जावे वह 'रस' है। जब हम कहते हैं, 'इनके गले में अथवा इनकी बातों में बड़ा रस है', तो उस समय इसका अर्थ मधुरता और मिठास होता है। जब राका-मयंक को देखकर हम कहने लगते हैं, 'वह रस बरस रहा है, उस समय इसका अर्थ आँखों को तर करनेवाला कोई पदार्थ होता है, चाहे उसको सुधा कहें या और कुछ। जब आम-अंगूर खाते हैं, ईख को चूसते हैं, और उस समय यह कह उठते हैं कि इनका रस कितना अच्छा है, तब रस का अर्थ वह तरल पदार्थ होता है, जो उनमें भरा मिलता है। हरे पत्तों को निचोड़ने पर उनमें से हरे रंग का पानी की तरह का एक पदार्थ निकलता है, उसको भी रस कहा जाता है, जैसे आम अथवा सुदर्शन के पत्ते का रस। खट्टा, मीठा, खारा, कड़ुआ, तीखा, कसैला,—इन प्रसिद्ध छः रसों को कौन नहीं जानता? ये भी अपनी अलग सत्ता रखते हैं। वैद्यक के रस भी विशेष अर्थ के द्योतक हैं, कभी उनका प्रयोग एक शरीर संबंधी धातु के विषय में होता है, कभी रासायनिक रीति से तैयार हुई कुछ औषधों के लिये। जब रहीमखाँ खानखाना के इस दोहे को पढ़ते हैं—

'कहु रहीम कैसे निभे केर बेर को संग।
वे डोलत रस आपने उनके फाटत अंग॥'

तो ज्ञात होता है कि रस का अर्थ उमंग और मौज भी है। वेद में परमात्मा को रस कहा गया है, जैसे 'रसो वै सः'। जल को भी रस कहते हैं, इस तरह रस का प्रयोग बहुत अर्थों में देखा जाता है।

जैसे रस शब्द अनेकार्थक है, उसी प्रकार उसकी रसन-प्रणाली भी भिन्न-भिन्न है। कान ने जैसे मधुर बातों को सुना, आँखों ने जिस प्रकार मयंक को रस बरसते देखा, जीभ ने जिस प्रकार फूलों के अथवा खट्टे-मीठे पदार्थों के रस को चखा—उन सब का प्रकार एक नहीं, अलग-अलग है। इससे आस्वादन-प्रणाली की भिन्नता स्पष्ट है। साहित्य में जैसे रस शब्द का ग्रहण इन सबों से भिन्न दूसरे ही अर्थ में होता है, उसी प्रकार उसकी व्यापकता भी अधिक है, और उसके आस्वादन का ढंग भी विलक्षण।

रस के साधन

शब्द दो प्रकार का होता है, ध्वन्यात्मक, और वर्णात्मक। जिस समय विमुग्धकरी बंशी बजती रहती है, अथवा कोई सुकण्ठ पक्षी गान करता रहता है, उस समय भी हमारे कानों तक उनकी लहर पहुँचती रहती है, परन्तु उनमें झङ्कार मात्र होता है, वर्ण-विन्यास नहीं होता। अतएव ऐसे शब्द को 'ध्वन्यात्मक' कहते हैं, क्योंकि वह ध्वनि पर ही अवलम्बित होता है। दूसरा वर्णात्मक शब्द वर्ण-विन्यास-युक्त होता है। एक वर्ण-विन्यास व्यक्त और दूसरा अव्यक्त होता है। जैसे आँय, बाँय, शाँय—शब्द वर्ण-विन्यास-युक्त हैं, किन्तु इनका कोई अर्थ नहीं, अतएव ये अव्यक्त हैं। जब हम कहेंगे 'आप कृपा करके आइये,' तो यह व्यक्त हो जावेगा, इसलिये कि इसके वर्णों का कुछ अर्थ है। ध्वन्यात्मक शब्दों से व्यक्त वर्णात्मक शब्द अधिक प्रभावशाली और उपयोगी होता है।

ध्वन्यात्मक शब्दों में कितना आकर्षण है, यह अविदित नहीं। वाद्यों का मधुर वादन, पक्षियों का कलकूजन, कमनीय कण्ठों का स्वर, कितना हृदय-विमोहक है, यह सब जानते हैं। शेख सादी कहते हैं—

बेहज रूयजे बास्त आवाजे ख़श।
कि ईं हज़्जे नफ़सस्त वीं क़ूतरूह।

सुन्दर मुख से मधुर ध्वनि कहीं उत्तम है। वह आनन्दित करता है, और इससे प्राणों की पुष्टि होती है। जिस समय बाजे मधुरता से बजते रहते हैं, क्या उस समय वे उन्मादक नहीं होते? क्या कामिनी-कण्ठ लोगों पर जादू नहीं करता? बालकों के कंठ की कूक क्या स्वर्गीय सुधा नहीं बरसाती? मुरलीमनोहर की मुरली क्या पादप एवं लता-बेलियों तक को स्तम्भित नहीं करती थी? श्रीमद्भागवतकार लिखते हैं—

वनचरो गिरितटेषु चरन्तीर्वेणु नाह्वयति गाः स यदाहि।
वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं व्यंजयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः।
प्रणतभारविटपाः मधुधाराः प्रेमहृष्टतनवः ससृजुः स्म॥

भगवान् जब वन में प्रवेश कर पहाड़ में विचरनेवाली अपनी गायों को वेणु बजाकर बुलाते हैं, तब पुष्प-भारनम्रलतायें अपनी आत्मा में परमात्मा का अनुभव करती हुई स्नेह से परिपुष्ट हो तरुसमूह के साथ फूल-फल से मधुधारा की वर्षा करने लगती हैं। कविवर सूरदासजी क्या कहते हैं, उसे भी सुनिये—

सुनहु हरि मुरली मधुर बजाई।
मोहे सुर नर नाग निरंतर ब्रज-वनिता सब धाई।
जमुना तीर प्रवाह थकित भयो पवन रह्यो उरझाई।
खग मृग मीन अधीन भये सब अपनी गति बिसराई।
द्रुमबल्ली अनुरागु पुलक तनु ससि थक्यो निसि न घटाई।
सूरश्याम वृन्दाबन बिहरत चलहु चलहु सुधि पाई॥१॥

यदि भगवान् श्रीकृष्ण की मुरली के विषय में कुछ 'इदं कुतः' हो, और उसके वर्णन को रंजित समझा जावे तो लोक की घटनाओं

पर ही दृष्टि डाली जावे। क्या नट की तुमड़ी का नाद सुनकर सप विमुग्ध नहीं हो जाता? क्या वधिक की वीणा पर हरिण अपना प्राण उत्सर्ग नहीं कर देता? वास्तविक बात यह है कि ध्वनि अपार शक्तिमयी है, अतएव ध्वन्यात्मक शब्द भी प्रभावशालिता में कम नहीं। परन्तु वर्णात्मक शब्द उससे भी लोकोत्तर है। वेद-भगवान् जिस ज्ञान का महत्व इन शब्दों में प्रकट करते हैं 'ऋतेज्ञानान्नमुक्तिः', विना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती। उस ज्ञान का आधारस्तम्भ वर्णात्मक शब्द है। संसार का साहित्य, जो समस्त सभ्यताओं का जनक है, वर्णात्मक शब्दों की ही विभूति है। इसीलिये ध्वन्यात्मक से वर्णात्मक शब्दों का महत्व अधिक है, और निम्नलिखित श्लोक में संगीत से साहित्य का स्थान प्रथम।

साहित्यसंगीत कलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।
साहित्य-संगीत-कला-विहीन जन विना सींग-पूँछ का पशु है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में लिखा है—

"धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण पापमपनुदति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम् तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति"

धर्म सारे जगत् की प्रतिष्ठा है, लोक में धर्मिष्ठ पुरुष की ओर प्रजा जाती है, धर्म से पाप कटता है। सब कुछ धर्म पर प्रतिष्ठित है, इसीलिये धर्म को सबसे बढ़कर कहा गया है।

जिस धर्म की ऐसी महत्ता है, उसके आधार संसार के धर्मग्रन्थ हैं, और धर्म-ग्रंथों के अवलम्बन वर्णात्मक शब्द। मंत्र की महिमा को कौन नहीं जानता। गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं, 'मंत्र परम लघु जासु बस, विधि हरि हर सुर सर्व'। मंत्रों के विषय में ऋग्वेद की यह आज्ञा है—

"मंत्रो गुरुः (१।१६७-४); सत्योमंत्रः (१,१,५२,२); मंत्रेभिः

सत्यैः (१,६७,३) तमिद्वोचेमा विदथेषु शम्भुवं मन्त्रं देवा अनेहसम् (१,४०,६)।

मंत्र गुरु हैं, मंत्र सत्य हैं, हे देवतो, हम यज्ञों में उन सच्चे मंत्रों को कहें जो सुख देनेवाले और पाप से बचानेवाले हैं।

ये मंत्र क्या हैं ? वर्णात्मक शब्दों के समूह-मात्र। इससे अधिक वर्णात्मक शब्दों की महत्ता और क्या बतलाई जा सकती है। व्यवहार में देखा जाता है कि जिसकी वाचाशक्ति जितनी बढ़ी और सुसंगठित होती है, संसार में उसको उतनी ही सफलता मिलती है। 'बात की करामात' प्रसिद्ध है, और इस कहावत को कौन नहीं जानता, 'बाते हाथी पाइये बाते हाथी पाँव'। मनुष्य के हृदय पर अधिकार करने की शक्ति जितनी इसमें है, अन्य किसी दूसरी वस्तु में नहीं। जहाँ वचन-रचना और ध्वनि दोनों मिल जाती हैं, वहाँ मणिकाञ्चन योग हो जाता है, और असंभव संभव होता है। भाव और विचारों को इनके द्वारा वह सहायता मिलती है कि उनकी सफलता की पराकाष्ठा हो जाती है। जैसा इनके द्वारा वाह्य जगत् प्रभावित होता है वैसा ही अन्तर्जगत् भी।

बाजा कितनी ही मधुरता से क्यों न बजता हो, किन्तु उसमें वह तन्मयता नहीं होती, जितनी उस समय होती है, जब उसके साथ मधुर संगीत भी होता हो। यदि यह मधुर संगीत भावमय हो तो क्या कहना ! वह तो बिल्कुल तन्मय कर देता है। उस समय देहाध्यास तक जाता रहता है, ऐसा क्यों होता है ? मैं यह बतलाने की चेष्टा करूँगा।

ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक शब्दों के प्रभाव के विषय में मैं ऊपर लिख आया हूँ। जिस समय कोई सुन्दर बाजा बजता रहता है, अथवा कोई कलध्वनि वायु में ध्वनित होती रहती है, उस समय उसको कान आस्वादन करता है, और उसके साहचर्य

से हृदय में आनन्द की एक लहर-सी उठती रहती है, किन्तु उसमें सोचने समझने विचारने एवं मनन करने की कोई बात नहीं होती। न तो उनको सुनकर कोई विशेष भाव हृदय में उत्पन्न होता, और न धीरे-धीरे बढ़कर वह प्रगाढ़ ही बनता है। समय की कोमलता, मधुरता, सरसता, रुक्षता और तीव्रता की दृष्टि से जितने राग-रागिनियों की कल्पना हुई है, उनके स्वरों में निस्सन्देह ऐसा विकास मिलता है, जो हृदय में अनेक सामयिक भावों को उदित करता है। वंशी की ध्वनि जितनी विरागमयी है, वीणा की ध्वनि उतनी ही उल्लासकरी। रण-वाद्य जैसा उत्तेजक है, मृदंग वैसा ही मानस-विमोहक। जब कोकिल बोलता है, तो ज्ञात होता है कि उन्माद हृदय का आलिंगन करता है, किन्तु चातक के स्वर में यह बात नहीं पाई जाती, उसको सुनकर चित्त किसी मर्म-पीड़ा का अनुभव करने लगता है। किसी-किसी पक्षी का स्वर इतना मधुर और मोहक होता है कि वह प्रकृति-वधूटी का वसुन्धरा-विमुग्धकर कोई अलौकिक आलाप जान पड़ता है। यद्यपि इन बातों से हमारी मानसिक स्थिति और संस्कृति का बहुत-कुछ सम्बन्ध है, तथापि स्वरों और ध्वनियों की भाव-प्रवणता अस्वीकार नहीं की जा सकती। फिर भी यह कहना पड़ेगा कि वचन-रचना उससे अधिक प्रभाव-मयी है। व्यापकता में चाहे वह उसका सामना न कर सके, किन्तु प्रभावशालिता में उसको अवश्य उत्कर्ष है। आपलोगों ने व्यासासन पर से यदि किसी सुवक्ता को किसी विषय का निरूपण करते सुना होगा, अथवा किसी हाल में बैठकर किसी प्रसिद्ध वाग्मी का भाषण श्रवण किया होगा, तो आपलोगों से यह छिपा न होगा कि वचन-रचना में कितनी शक्ति होती है। जनता को हँसा देना, रुला देना, उत्तेजित कर देना, उसके मन को अपनी मुट्ठी में कर उससे मनमानी करा लेना, उनके बायें हाथ का खेल

होता है। भगवान् बुद्ध, महात्मा ईसा, और हज़रत मुहम्मद ने अपनी विचित्र वाक्य-रचना-शक्ति से संसार में जो चमत्कार कर दिखलाया, वह लोकोत्तर और अभूतपूर्व है। कोई मधुर ध्वनि और मनोहर निनाद आज तक वह कार्य्य न कर सका। कालान्तर में भी न कर सकेगा। 'सरगम' का समादर है, परन्तु क्या उतना ही जितना भावमय गान का? हारमोनियम की स्वर-लहरी विमुग्ध करती है, किन्तु क्या फोनोग्राफ के इतना ही? कनसर्ट का कमाल आपलोगों ने देखा होगा, अनेक सम्मिलित स्वर किस प्रकार उसमें आकर्षण उत्पन्न करते हैं, जिसने उसको सुना होगा, वह इस बात को भलीभाँति जानता है। किन्तु गाना आरंभ होने दीजिये। फिर देखिये, वह किस प्रकार इन समस्त स्वर-लहरियों पर अधिकार कर लेता है। उसके एक-एक भावमय पदों को स्पष्ट सुनाई देने के लिये किस प्रकार स्वर-लहरियों को संयत होना पड़ता है और फिर वह किस प्रकार सहृदय जनों को विमुग्ध करके भावमत्त बनाता और उनके आनन्द को द्विगुण-त्रिगुण करता रहता है, यह अविदित नहीं। कभी-कभी तो एक-एक पद पर लोग लोटपोट हो जाते और तत्सम्बन्धी अन्य पदों को सुनने के लिये इतना उत्कर्ण हो उठते हैं कि क्षण-भर का विलम्ब भी असह्य हो जाता है। यदि आपलोगों ने क़व्वाली सुनी होगी, अथवा किसी संत-समाज में बैठकर भजन गान होते देखा होगा, तो आपलोगों को श्रोताओं की तल्लीनता अविदित न होगी। उस समय की वहाँ की उत्सुकता, और उस समय का वहाँ का भावावेश विलक्षण होता है। यह ज्ञात होता है कि चारों ओर से अपूर्व आनन्द का समुद्र उमड़ रहा है, और उसमें लोग मग्न हो रहे हैं, हाथ-पाँव मार रहे हैं, उछल रहे हैं और जितना ही अलौकिक रस का पान कर रहे हैं, उत्तरोत्तर उनकी तृषा उतनी ही बढ़ती जा रही है। कितना ही मधुर बाजा

बजे, कितनी ही मुग्धकरी ध्वनि क्यों न हो, उसके द्वारा प्रायः ऐसा भावावेश नहीं होता, क्योंकि उसका रस उतना प्रगाढ़ नहीं हो सकता। भावमय शब्दों को कान सुन सकते हैं, यदि ये शब्द मधुर कण्ठ से निकले हैं, तो उसकी मधुरता का आनन्द वे प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु उनमें जो लोकोत्तर अथवा अपूर्व भाव है, उसके ग्रहण करने की शक्ति उनमें नहीं होती, अतएव भावमय शब्द-प्रसूत-विह्वलता वे उत्पन्न नहीं कर सकते। यह कार्य हृदय का है, और हृदय के भाव-विह्वल होने पर ही, इस प्रकार का भावावेश देखा जा सकता है।

कण्ठस्वर, मधुरध्वनि, और वचन-रचना के अतिरिक्त वेश-विन्यास, भावभंगी, कथन-शैली इत्यादि का प्रभाव भी हृदय पर पड़ता है। इनकी सहकारिता से वचन-रचना अपने भावों को अधिकाधिक पुष्ट कर सकती है। कर-संचालन, अंग-संचालन, अथच अङ्गुलि-निर्देश से अनेक अस्पष्ट भाव स्पष्ट हो जाते हैं और कितनी ही अव्यक्त बातें व्यक्त बनती हैं। नृत्त अथवा नृत्य एवं अभिनय के ढंग की अनेक कलाएँ भी यथावसर भावपुष्टि का साधन बनती रहती हैं। अतएव इनकी उपयोगिता भी अल्प नहीं। जब ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक शब्द अंग-संचालनादि अन्य साधनों और कलाओं के आधार से किसी भाव को पुष्ट करते हैं, उसकी वास्तविक पुष्टि उसी समय होती है और साहित्य के उस रस की यथार्थ उत्पत्ति भी प्रायः तभी होती है, जो सहृदय-हृदय-संवेद्य माना जाता, और जिसका सुख ब्रह्मानन्द समान कहा जाता है। इसीलिये प्रायः दृश्य-काव्यों-द्वारा ही साहित्यिक रस की मीमांसा की गई है क्योंकि उसमें प्रायः सभी साधनों का समीकरण होता है।

रस की उत्पत्ति

यह स्वाभाविकता है कि मनुष्य मनुष्य के सुख से सुखी और उसके दुःख से दुखी होता है। सम्बन्ध-विशेष होने पर इसकी मात्रा

में तारतम्य हो सकता है, किन्तु यह असंभव है कि एक मानव के हृदय का प्रभाव दूसरे मानव के हृदय पर न पड़े। संस्कृति, विचार-विभिन्नता और विरोध अन्तर डाल सकते हैं, किन्तु यह अपवाद है, साधारण नियम नहीं। जब हम किसी को रोते देखते हैं, तो हमारा दिल पिघल जाता है और हम भी उसके दुःख का अनुभव करने लगते हैं और जब किसी को प्रफुल्ल देखते हैं, तो हम भी प्रफुल्ल हो जाते हैं और उसके हृदय का आनन्द हमारे हृदय में भी प्रवेश करता है। वास्तव में प्राणी-मात्र का हृदय एक है और एक गुप्त तार सदा उसको मिलाये रहता है, यह दूसरी बात है कि कोई प्रतिबंध बीच-बीच में उसको तोड़ता रहे। एक भूखा हमारे सामने आकर जब पेट दिखा और आँसू बहाकर कुछ माँगता है, तो उसका यह कारुणिक भाव हमारे हृदय में करुणा उत्पन्न किये बिना नहीं रहता। हमने एक बंगाली को देखा कि जब मधुर स्वर में वह बेला बजाने लगता, तो आप भी मस्त हो जाता, और अपने मधुर वादन और भावभंगी द्वारा अन्यों को भी कुछ न-कुछ मस्त बना देता। जो कवि कविता पढ़ते-पढ़ते स्वयं मुग्ध हो जाता है, वह दूसरों को भी मुग्ध बनाये बिना नहीं छोड़ता। भजनानंदी औरों को भी आनन्दित कर लेता है। यदि यह सत्य है, तो यह भी सत्य है, कि एक सरस हृदय से निकले हुए प्रभाव-जनक भाव अन्य हृदय को सरस बनाये बिना नहीं छोड़ते। यह हुई साधारण अवस्था की बात और जब प्रगाढ़ होकर यह अवस्था उच्चतर हो जाती है, तभी रसकी उत्पत्ति होती है। नाट्य-शास्त्रकार महामुनि भरत लिखते हैं—

'विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः'

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है। काव्य-प्रकाशकार इसकी टीका यों करते हैं—

"कारणान्यथकार्याणि सहकारिणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ।
विभावा अनुभावाश्च कथ्यंते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः सतैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसस्मृतः ।"

लोक में रति आदिक स्थायी भावों के जो कारण, कार्य और सहकारी होते हैं, नाटक और काव्य में वे ही विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी—क्रम से कहलाते हैं। इन विभावादि की सहायता से व्यक्त स्थायी भाव की रस संज्ञा होती है।

अब यहाँ प्रश्न यह होगा कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी अथवा संचारी भाव किसे कहते हैं। इस विषय में साहित्य—दर्पणकार यह लिखते हैं—

१—विभाव–'रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः'

लोक में जो रति आदिक के उद्बोधक हैं, वे ही काव्य और नाटकों में 'विभाव' कहलाते हैं, इसकी व्याख्या ग्रंथकार ही यों करते हैं—

"ये हि लोके रामादिगतरतिहासादीनामुद्बोधकारणानि सीतादयस्त एव काव्येनाट्ये च निवेशिताः सन्तः विभाव्यन्ते आस्वादाङ्कुरप्रादुर्भाव-योग्या क्रियन्ते सामाजिक रत्यादिभावाः एभिः, इति विभावा उच्यन्ते ।"

"लोक में सीता आदिक जो रामचन्द्रादि की रति आदि के उद्बोधक प्रसिद्ध हैं, वे ही यदि काव्य और नाटक में निवेशित किये जावें, तो 'विभाव' कहलाते हैं, क्योंकि वे सहृदय द्रष्टा तथा श्रोताओं के रत्यादिक भावों को विभावित करते हैं, अर्थात् उन्हें रसास्वाद की उत्पत्ति के योग्य बनाते हैं।"

विभाव के दो भेद हैं—पहला आलम्बन और दूसरा उद्दीपन। रति आदिक स्थायी भावों के आधार नायक-नायिका, 'आलम्बन'

और उनके उद्दीप्त करनेवाले, चन्द, चाँदनी, मलय-पवन आदि 'उद्दीपन' कहलाते हैं। साहित्य-दर्पणकार लिखते हैं—

आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्यभेदावुभौ स्मृतौ।
आलम्बनो नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात्—
उद्दीपन विभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये।

२—अनुभाव—'अनुभावयन्ति इति अनुभावाः',

रति आदिक स्थायी भावों का जो अनुभव कराते हैं, उन्हें अनुभाव कहते हैं। अमरकोशकार लिखते हैं—'अनुभावो भावबोधकः'।

३—व्यभिचारी अथवा संचारी-भाव—

साहित्य-दर्पणकार कहते हैं—

स्थिरतया वर्त्तमानेहि रत्यादौ निर्वेदादयः प्रादुर्भावतिरोभावाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिताः कथ्यन्ते'।

रति आदिक स्थायी भाव में आविर्भूत और तिरोभूत होकर जो निर्वेद आदि भाव अनुकूलता से व्याप्त रहते हैं, उन्हें विशेष रीति से संचरण करते देखकर संचारी कहा जाता है।

मानव के हृदय में वासना अथवा संस्कार-रूप से अनेक भाव सदा उपस्थित रहते हैं, वे किसी कारण-विशेष द्वारा जिस समय व्यक्त होते हैं, उसी समय उनकी उपस्थिति का पता चलता है। इन भावों में जिनमें अधिक स्थिरता और स्थायिता होती है, जो किसी भी काव्य-नाटिकादि में आद्योपान्त उपस्थित रहते हैं, प्रधानता और प्रभावशालिता में औरों से उत्कर्ष रखते हैं, साथ-ही जिनमें रस-रूप में परिणत होने की शक्ति रहती है, उनको स्थायी भाव कहा जाता है। यथा—

रसावस्थः परंभावः स्थायितां प्रतिपद्यते।

जो भाव रस-अवस्था को प्राप्त हो, वही स्थायी होता है। रसगंगाधर में स्थायी भाव के विषय में यह लिखा गया है—

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।
आत्मभावं नयत्याशु सस्थायी लवणाकरः ।।
चिरं चित्तेवतिष्ठन्ते संबध्यन्तेनुबन्धिभिः ।
रसत्वं ये प्रपद्यन्ते प्रसिद्धाः स्थायिनोत्र ते ।।
सजातीयविजातीयैरतिरस्कृत मूर्तिमान् ।
यावद्रसंवर्त्तमानः स्थायिभाव उदाहृतः ।।

जो भाव विरोधी एवं अविरोधी भावों से विच्छिन्न नहीं होता, किन्तु विरुद्ध भावों को भी शीघ्र अपने रूप में परिणत कर लेता है, उसका नाम स्थायी है, उसकी अवस्था लवणाकर के समान होती है, जो प्राप्त समस्त वस्तुओं को लवण बना लेता है ।।१।। जो भाव बहुत समय तक चित्त में रहते हैं, विभावादिकों से सम्बन्ध करते हैं, और रस-रूप बन जाते हैं, वे स्थायी कहलाते हैं ।।२।। जो मूर्तिमान् भाव सजातीय और विजातीय भावों से तिरस्कृत न किया जा सके और जबतक रस का आस्वादन हो तबतक वर्त्तमान रहे, उसे स्थायी भाव कहते हैं ।।३।।

—हिन्दी रसगंगाधर

भरत मुनि कहते हैं—

यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः ।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह ।।

जैसे मनुष्यों में राजा, शिष्यों में गुरु, वैसे ही सब भावों में स्थायी भाव श्रेष्ठ होता है ।

काव्यप्रकाशकार पहले अष्ट रसों का नाम बतलाते हैं। वे ये हैं—

श्रृङ्गार हास्य करुणा रौद्र वीर भयानकाः ।
वीभत्साद्भुत संज्ञौचेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ।।

फिर कहते हैं—'एषां स्थायी भावानाह'।

अब इनके स्थायी भावों को बताता हूँ। उनके न म सुनिये—

रति हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः॥

अन्त में लिखते हैं–निर्वेद स्थायिभावोस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।

इन पंक्तियों के पठन करने से यह स्पष्ट हो गया कि शृंगार, हास्य, करुणा आदि नव रसों के जनक रति, हास, शोक आदि नव स्थायी भाव हैं। इन स्थायी भावों में से कोई एक जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव की सहायता से लोकोत्तर आनन्द रूप में परिणत होकर व्यक्त होता है, तब उसकी 'रस' संज्ञा होती है।

मान लीजिये कि कहीं कोई रामलीला-मण्डली आई है और किसी सुसज्जित स्थान पर रामलीला हो रही है। मधुर स्वर से बाजे बज रहे हैं, कमनीय कण्ठ से रामायण का गान हो रहा है, और अपार जनता वहाँ एकत्र है। इतने में जय-ध्वनि हुई, और एक रमणीय वाटिका में किशोर-वयस्क भगवान् रामचन्द्र अपने प्रिय अनुज के साथ पुष्पचयन करते दिखाई पड़े। फिर कङ्कण-किङ्किणी की ध्वनि हुई, और मंदगति से श्रीमती जनकनन्दनी का सखियों समेत उसमें प्रवेश हुआ। धीरे-धीरे पुष्पवाटिका की लीला का समाँ बँधने लगा। और चारों ओर आनन्द का समुद्र उमड़ पड़ा। अनेक भावुक भक्तजनों की तल्लीनता बढ़ गई, और वे परमानन्द पयोधि में ऐसे मग्न हो गये कि सब कुछ भूल गये। कभी वे शिर हिलाते, कभी झूमते, कभी वाह-वाह करते और कभी युगलमूर्त्तियों की छवि को एकटक देखते रह जाते।

इस दृश्य में भावुक भक्तजनों की रति स्थायी भाव है, क्योंकि रसत्व उसको ही प्राप्त है। भगवान् रामचन्द्र और श्रीमती जानकी आलम्बन-विभाव हैं, क्योंकि उनकी रति अर्थात् प्रेम के आधार वे ही हैं, और वे ही उसको विभावित करते हैं। तरंगायमान स्वर-

लहरिया का प्रसार, भाव-मय रामायण की चारु चौपाइयों का गान, युगलमूर्त्तियों का शृंगार आदि उद्दीपन विभाव हैं, क्योंकि वे ही रति के उद्दीप्त करने के कारण हैं। भक्तजनों का शिर हिलाना, झूमना आदि अनुभाव हैं, क्योंकि वे ही रति-भाव के बोधक हैं। उत्सुकता और उत्फुल्लता आदि संचारी हैं, जो रति-भाव में समय-समय पर संचरण करके उसको उत्तरोत्तर वर्द्धित करते रहते हैं। स्थायी भाव के कारण को विभाव, कार्य को अनुभाव और सहकारी को संचारी भाव कहते हैं। मैं समझता हूँ, जो उदाहरण मैंने उपस्थित किया है, उससे यह बात भली-भाँति समझ में आ गई होगी। फिर भी इसको और स्पष्ट किये देता हूँ। भक्तजन के स्थायी भाव रति के कारण-भूत कौन हैं? युगलमूर्त्ति और उनके शृंगारादि। अतएव आलम्बन और उद्दीपन विभाव दोनों इसमें आ गये। रति के कार्य उनमें किस रूप में प्रकट हुए, झूमने और एकटक अवलोकन करने आदि में, ये ही अनुभाव हैं। रति को अपने कार्य में किससे सहायता मिलती रही, उत्सुकता और उत्फुल्लता आदि से, ये ही संचारी भाव हैं। इसलिये विभाव का कारण, अनुभाव का कार्य्य और सहकारी का संचारी होना स्पष्ट है।

रसास्वादन प्रकार

आपलोगों को इसका अनुभव होगा कि रामलीला के दृश्यों का सबके हृदय पर समान प्रभाव नहीं पड़ता। कोई उनको देखकर अत्यन्त विमुग्ध होता है, कोई अल्प और कोई नाम-मात्र को। कुछ लोग वहाँ ऐसे भी दिखलाई देते हैं, जिनका हृदय रामलीला देख प्रभावित होकर भी प्रभावित नहीं होता। इससे यह जाना जाता है कि रस का अधिकारी सबका हृदय नहीं होता। जिसमें भावुकता नहीं—जिसकी वासना रस-ग्रहणाधिकारिणी नहीं—और

जिसकी संस्कृति में रसानुकूल साधनायें नहीं, उनके हृदय में रस की उत्पत्ति नहीं होती। साहित्य-दर्पणकार ने इस बात के प्रमाण में एक विद्वान् का यह वचन उद्धृत किया है—

सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसन्निभाः॥

"वासना-युक्त सभ्यों को ही रसास्वाद होता है। वासना-रहित पुरुष तो नाट्य-शाला में काठ, पत्थर और दीवाल के समान ही जड़ बने रहते हैं।

प्रयोजन यह कि समस्त साधनों के उपस्थित होते भी जिसके हृदय का स्थायीभाव यथातथ्य व्यक्त नहीं होता, उसके हृदय में रस की उत्पत्ति होती ही नहीं। रस की उत्पत्ति तभी होगी जब स्थायीभाव व्यक्त होकर विभाव, अनुभाव और संचारीभाव के साथ सर्वथा तल्लीन हो जायगा। साहित्य-दर्पणकार कहते हैं—

ननु तर्हि कथं रसास्वादेतेषामेकः प्रतिभास इत्युच्यते।
प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते।
ततः सम्मिलितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम्।
प्रपानकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत्।
यथा खण्डमरीचादीनाम् सम्मेलनादपूर्व इव कश्चिदास्वादः
प्रपानक रसे संजायते विभावादि सम्मेलनादिहापितथेत्यर्थः।

"अच्छा तो फिर रसास्वाद में उन सब विभावादिकों का एक प्रतिभास अर्थात् एकरस के रूप में परिणाम कैसे होता है? भिन्न-भिन्न कारणों से भिन्न-भिन्न कार्य ही होने चाहियें। इसका समाधान करते हैं। पहले विभावादि पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं, उसी समय उन्हें हेतु कहा जाता है, इसके अनन्तर भावना के बल से और व्यञ्जना की महिमा से आस्वाद्यमान सब सम्मिलित विभावादिक

सहृदयों के हृदय में प्रपानक रस की भाँति अखण्ड एकरस के रूप में परिणत हो जाते हैं। जैसे किसी प्रपानक रस में खांड़, मिर्च, जीरा, हींग आदि के सम्मेलन से एक अपूर्व उन सबके पृथक्-पृथक् स्वाद से विलक्षण आस्वाद पैदा होता है, उसी प्रकार विभावादि के सम्मेलन से एक अपूर्व रसास्वाद पैदा होता है, जो विभावादिकों के पृथक्-पृथक् आस्वाद से विलक्षण होता है।"

—विमलार्थदर्शिनी

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि स्थायी भाव के व्यक्त होने का क्या अर्थ ? दूसरी बात यह कि सब दर्शकों के रतिभाव को रसता क्यों नहीं प्राप्त होती ?

जितने स्थायी अथवा संचारी भाव हैं, वे वासना-रूप से सदैव मानवमात्र के हृदय में वैसे ही विद्यमान रहते हैं, जैसे पृथ्वी में गंध। कहा गया है कि 'गंधवती पृथ्वी'; किन्तु पृथ्वी की गंध, वृष्टि होने पर ही विदित होती है। इसी प्रकार भावोदय भी विशेष कारणों से होता है। जिस समय कोई भाव हृदय में उदित होकर कार्यकारी बनता है, उसी समय उसकी प्रतीति अनुभावों द्वारा होती है। आदि में लहरें समुद्र में अव्यक्त अवस्था में रहती हैं, बाद को वे व्यक्त होती हैं। इस व्यक्ति का भी अनेक रूप होता है, कभी यह रूप बहुत साधारण होता है, और कभी बहुत व्यापक, विशाल और अचिन्तनीय! यही अवस्था हृदय और भावों की है। आप हृदय को समुद्र और भावों को लहरें समझें, भावोदय के कारणों को विविध समीर। कैसे अव्यक्त भाव व्यक्त होकर कार्यकारी हो जाता है, तरंगों की स्थिति और उनकी गति-विधि पर विचार करने से यह बात भी स्पष्ट हो जावेगी। अब रही दर्शकों के रति-भाव की बात।

मैं पहले कह आया हूँ कि लीला देखने में सब दर्शकों की

तल्लीनता समान नहीं होती, ऐसी अवस्था में सबके हृदयों में रति-भाव का उदय एक रूप में न होगा, उसमें तारतम्य होगा। कहीं वह तरलातितरल, कहीं तरल, कहीं प्रगाढ़ और कहीं उससे भी प्रगाढ़ होगा। कोई बाजों का अनुरागी होता है, कोई गाने का, कोई वेष-भूषा का, कोई स्वाभाविक दृश्यों का, कोई रामायण सुनने का, कोई उसकी भावमय कविताओं का, कोई उसके शब्द-विन्यास का, कोई हाव-भाव-कटाक्ष का, कोई नाच-रंग का और कोई वार्तालाप का। कोई स्वरूपों को साधारण मनुष्य समझेगा, कोई राजकुमार और कोई अवतार। इस दृष्टि से उनमें किसीकी रति सामान्य होगी, किसीकी उससे अधिक और किसीकी अगाध। कोई इनमें से दो-दो तीन-तीन बातों के प्रेमी मिलेंगे, कोई कई एक के और कोई सभी बातों के। जिसकी जैसी रुचि होगी, उसीके अनुसार उसकी भाव ग्राहिता होगी और उसीके परिमाण से उसकी रति, तरल, प्रगाढ़, अथवा अधिक प्रगाढ़ होगी। मैं पहले गान, वाद्य, अभिनय, इत्यादि साधनों के प्रभाव का विस्तृत वर्णन कर आया हूँ। यह भी बतला चुका हूँ कि सब साधनों का सम्मिलित प्रभाव जितना हृदय-ग्राही, विमुग्धकर और व्यापक होता है, उतना किसी एक अथवा दो-चार का नहीं। ऐसी अवस्था में आप यह सोच सकते हैं कि किसके हृदय का रति-भाव किस अवस्था में किस कोटि का होगा। केवल दूध, दही, घी, शहद, मीठे को अलग-अलग अथवा इनमें से किसी दो-तीन-चार को एक साथ आस्वादन करनेवाला पंचामृत के स्वाद का आनन्द नहीं प्राप्त कर सकता और न अनेक सुन्दर और स्वादिष्ट पेय पदार्थों से बने हुए प्रपानक रस पान का परमानन्द वह पा सकता है, जिसने उनमें से किसी एक-दो पेय वस्तुओं का ही स्वाद चखा है। आशा है, इतना निवेदन करने के बाद यह बात समझ में आ गई होगी कि सबके रति-भाव को रसता क्यों नहीं प्राप्त होती।

वास्तविक बात यह है कि परमानन्द प्राप्त का अधिकारी पूर्ण ज्ञान प्राप्त, उदात्त और भावुक हृदय ही होता है और इसीके रति-भाव को रसता प्राप्त होती है। अपनी भावना के अनुकूल थोड़ा-बहुत आनन्द लाभ करनेवाले की रति का ऐसा सौभाग्य कहाँ? भगवान् मरीचिमाली की किरणें अनेक वस्तुओं पर प्रतिफलित होती हैं, किन्तु हिमाचल के हिमधवल शृंगों का गौरव किसे प्राप्त होता है?

यहाँ पर मैं यह भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि जितने स्थायी-भाव हैं, अनेक अवस्थाओं में वे संचारी ही रहते हैं, विशेष अवस्था में ही उनको रसत्व प्राप्त होता है। रति अथवा अनुराग की भी यही अवस्था है। साहित्यदर्पणकार लिखते हैं—

अत्र च रत्यादि पदोपादानेव स्थायित्वे प्राप्ते पुनः स्थायिपदोपादानं रत्यादीनामपि रसान्तरे स्थायित्वप्रतिपादनार्थम्। ततश्च हासक्रोधादयः शृंगारवीरादौ व्यभिचारिण एव।

भावार्थ इसका यह है, 'जो रति आदि एक रस के स्थायी हैं, वे ही दूसरे रस में जाकर अस्थायी हो जाते हैं, अतः शृंगार-वीरादि रसों में हास, क्रोध आदि जो हास्य और रौद्रादि रसों के स्थायी हैं, सञ्चारी (अस्थायी) हो जाते हैं।

'रत्नाकर'-कार भी यही कहते हैं, जिसका प्रतिपादन रसगंगाधर-कार भी करते हैं—

रत्यादयः स्थायिभावाः स्युर्भूयिष्ठ विभावजाः।
स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नास्तएव व्यभिचारिणः॥

'अधिक विभावादिकों से उत्पन्न हुए रति आदि स्थायी भाव होते हैं और वे ही जब थोड़े विभावादिकों से प्रसूत होते हैं तो व्यभिचारी कहलाते हैं'।

—हिन्दी रसगंगाधर

इससे क्या प्रतिपादित हुआ? यही न कि जिन दर्शकों के हृदय

में रति-भाव संचारी भाव के रूप में प्रकट होगा, उसमें उसको रसता नहीं प्राप्त हो सकती! रसता उसीके हृदय के रतिभाव को प्राप्त होगी, जिसमें उसका आविर्भाव स्थायी रूप में होगा। ऐसे भावुक अल्प होते हैं, यही आचार्यों की सम्मति भी है। साहित्य-दर्पण में इसका यह प्रमाण उठाया गया है—

'पुण्यवन्तः प्रमिरावंति योगिवद्रससंततिम्'।

'जैसे कोई-कोई विशिष्ट योगी ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं, इसी प्रकार कोई-कोई पुण्यवान् अर्थात् वासनाख्य संस्कार से युक्त सहृदय पुरुष रस का आस्वाद लेते हैं।

—साहित्य-दर्पण

अब आप लोग समझ गये होंगे कि किसलिये अधिकांश दर्शकों की रति को रसता नहीं प्राप्त होती। वास्तविक बात यह है कि जिन हृदयों में रति संचारी-भाव में ही परिणत हुई, उनमें तो उसको स्थायी-भाव का पद भी नहीं प्राप्त हुआ, फिर उसको रसता कैसे मिलती? वसंतागम से जो उन्माद कोकिल के हृदय में उत्पन्न होता है, जलदागम से जो प्रगाढ़ प्रेम पपीहा के हृदय में उदय पाता है, उसके अधिकारी अन्य पक्षी नहीं हो सकते। श्रावण के मेघ की उपादेयता क्वार के श्वेत बादलों में नहीं मिलती।

साहित्य में रस किसे कहते हैं, उसकी उत्पत्ति कैसे होती है? उसका अधिकारी कौन है? प्रायः अधिकांश दर्शकों के भावों को रसता क्यों नहीं प्राप्त होती? इन विषयों पर मैं अपना विचार प्रकट कर चुका। रस-सम्बन्धी कुछ और बातें भी सुनिये।

रस का इतिहास

काव्य के दो भेद हैं—श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य। जो काव्य केवल श्रवण किया जा सकता है, उसको 'श्रव्य' कहते हैं, जैसे महा-

भारत, रामायण आदि और जो काव्य रंगमंच पर खेलकर दिखलाया जाता है, उसे 'दृश्य' कहते हैं, जैसे शकुन्तला और उत्तर रामचरित आदि। पहले मैं इस बात का प्रतिपादन कर आया हूँ कि रस-उत्पत्ति के लगभग समस्त साधन दृश्य काव्य में पाये जाते हैं। इसलिये पहले-पहल दृश्य काव्य के आधार से ही रस की ओर विबुधों का विचार आकर्षित हुआ। जिस समय रंगमंच का अभिनय देखकर लोग पुलकित होते थे और तरह-तरह के भावों से उनका हृदय गद्गद होता था, साथ ही जब विचारशील अपने साथ अन्यों को भी आनन्दस्रोत में बहते देखते तो उनको यह विचार होता कि जिस रस की प्राप्ति से दर्शक-मण्डली इस प्रकार विमुग्ध होती है, उस रस का आधार कौन है? और वह कैसे उत्पन्न होता है? स्मरण रहे, यहाँ पर रस से उस तरल रस और साधारण आनन्द से ही प्रयोजन है, जो अभिनय के समय प्रायः सब दर्शकों को प्राप्त होता है। उस परमानन्द अथवा प्रगाढ़ रस से नहीं, जिसका निरूपण बाद को गंभीर गवेषणा के उपरान्त साहित्य-मर्मज्ञों ने किया। हृदय में तर्क उपस्थित होने पर सहृदयों ने उसपर विचार आरम्भ किया और अनेक सिद्धान्तों पर पहुँचे। रसगंगाधर-कार ने उसका बड़ा सुन्दर वर्णन किया है, उन्हींके ग्रंथ के आधार पर मैं इस विषय में यहाँ कुछ लिखता हूँ।

आपलोग जानते हैं कि नाटकों में जनता की दृष्टि को अपनी ओर अधिक आकर्षण करनेवाले, उसके पात्र ही होते हैं। अभिनेताओं में ही यह शक्ति होती है कि अपने अभिनय और कला-कौशल से वह दर्शकों के हृदय में स्थान ग्रहण कर लेवे। अतएव पहले-पहल कुछ लोगों का यही विचार हुआ कि 'भाव्यमानो विभाव एव रसः'। नाटक पात्रों के वेष में आकर जो अभिनेता हमारे सामने तत्सम्बन्धी प्रेममूलक अथवा अन्य मनोभावों से

सम्पर्क रखनेवाले कार्य कलाप करता एवं नाना प्रकार की लीलाओं और हाव-भाव-कटाक्ष से हमलोगों को विमुग्ध बनाता है, मूर्तिमान् रस वही है। क्योंकि नाटक-पात्रों के समस्त भावों और व्यापारों का आधार अथवा आलम्बन वही होता है।

अनेक विचारशीलों को यह बात न जँची। उन्होंने सोचा, अभिनेताओं में यों तो कोई आकर्षण होता नहीं, जब वे विशेष वेषभूषा में रंगमंच पर आते हैं और अपनी अंगभंगी, चेष्टाओं और रागरंग से लोगों को विमुग्ध करते हैं तभी दर्शकों को आनन्द प्राप्त होता है। अतएव रस चेष्टाओं और अंगभंगी आदि ही में रहता है, अभिनेताओं में नहीं। उनके इस विचार को रसगंगाधर-कार ने इन शब्दों में प्रकट किया है 'अनुभावस्तथातथेतरे'। भाव इसका यह है कि कुछ लोगों की यह सम्मति है कि 'अनुभावों' में रस रहता है।

कतिपय भावुकों के मन में यह बात भी न जमी। उन्होंने कहा, "चेष्टाएँ और अंगभंगी आदि अनुभाव किसी मानसिक भाव के परिणाम होते हैं, इसलिये रस रह सकता है तो उसीमें रह सकता है, क्योंकि कारण का गुण ही कार्य में होता है।" अतएव उनके मुख से यह बात निकली—'व्यभिचार्येव तथा तथा परिणमति', अर्थात् हृदय के व्यभिचारी भाव ही रस-रूप में परिणत होते हैं।

ज्यों-ज्यों इस विषय में तर्क आगे बढ़ा और विचार होने लगा, त्यों-त्यों नई-नई धारणाएँ हुईं और एक के बाद दूसरे मत प्रकट होने लगे। किसीने कहा, 'विभावादयस्त्रयः समुदिता रसः', विभाव अनुभाव और संचारी भाव तीनों मिलकर इसकी सृष्टि करते हैं, क्योंकि वे परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। किसीने कहा—'त्रिषु य एव चमत्कारी स एव रसोऽन्यथा तु त्रयोपि नैव' 'तीनों में जो चमत्कारी होगा, उसी की रस-संज्ञा होगी, अन्यथा किसीकी नहीं।' जिस समय यह विवाद

चल रहा था, उसी समय महामुनि भरत ने यह व्यवस्था दी 'विभानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' । विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। किन्तु यह उन्होंने नहीं बतलाया कि इन तीनों का संयोग किसके साथ होने से, परस्पर होने से अथवा किसी अन्य के साथ होने से। मेरा विचार है, नीचे के वार्तिक में उन्होंने इस बात को भी स्पष्ट कर दिया है। उक्त सूत्र लिखकर वे स्वयं प्रश्न करते हैं—किं दृष्टान्तः, इसका क्या दृष्टान्त है? फिर स्वयं उत्तर देते हैं—

'यथा गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यंजनैरोषधिमिश्चषाडवादयो रसानिवर्तन्ते, तथा नाना भावोपगता अपि स्थायिनोभावा रसत्व माप्नुवन्तीति' ।

जिस प्रकार गुड़ादिक द्रव्य व्यंजनों और ओषधियों से विविध प्रकार के पानक रस बनते हैं, वैसे ही अनेक भावों से युक्त होकर स्थायी भाव भी रसत्व को प्राप्त होते हैं।

'नाना भावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति' का 'स्थापिनो भावा' किस भाव का व्यंजक है? इसी भाव का कि विभाव, अनुभाव और संचारी-भावों का जब स्थायी-भावों से संयोग होगा, तभी रस की उत्पत्ति होगी। रस किसमें और कैसे उत्पन्न होता है, इस बात का निर्णय महामुनि भरत ने अपने उल्लिखित सूत्र में स्पष्टतया कर दिया है। किन्तु इसके अर्थ में ही मतभिन्नता हो गई, इसलिये विवाद कुछ दिन और चला। भट्ट-लोलट्ट आदि विद्वानों ने कहा—

यह स्वीकार कर लिया जाता है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से रति आदिक स्थायी भाव को रसत्व प्राप्त होता है। किन्तु यह रति आदिक भाव किनके होते हैं? उनलोगों का कथन है कि ये रति आदिक भाव नाटक-पात्रों के होते हैं, चाहे वह नायक-नायिका हो, अथवा कोई और अपेक्षित पात्र। यहाँ यह प्रश्न होगा कि वे पात्र तो अतीत के गर्भ में होते हैं, अथवा

कल्पना-संसार में विचरण करते रहते हैं, उनके रति आदिक स्थायी-भावों से दर्शक-समुदाय कैसे प्रभावित होगा और यदि प्रभावित नहीं होगा, तो उनके करुणा, निर्वेद, हास्य और आनन्दादि का क्या हेतु होगा? वे लोग कहते हैं, अभिनेताओं पर वे उन पात्रों का आरोप कर लेते हैं, अर्थात् वेष-भूषा और कार्य्य-कलाप द्वारा दर्शक लोग उस समय अभिनेताओं को ही नाटक-पात्र मान लेते हैं और उनका यह ज्ञान ही उनके सुख-दुःख अथवा आनन्द का कारण होता है।

शंकुक कहते हैं कि आरोप कर लेने में अवास्तविकता है। यदि आरोप करने के स्थान पर अनुमान कर लेना कहा जावे तो अधिक संगत होगा।

भट्टनायक ने आरोप अनुमान की बात नहीं मानी। उन्होंने कहा—'अभिनय देखने के समय जो आनन्द का प्रवाह बहता है, अथवा करुणा आदि रस जिस भाव का विस्तार करते हैं, वे मोहक और व्यापक होते हैं। इसलिये उस समय दर्शक यह अनुभव नहीं कर पाते कि जिन रति आदिक भावों के आधार से वे रस विशेष का आस्वादन कर रहे हैं, उनके हैं, अथवा किसी नाटकीय पात्र के। वास्तव में उस समय वे बिल्कुल निरपेक्ष होते हैं।

काव्य-प्रकाशकार को किसीकी सम्मति पसन्द नहीं आई, उन्होंने स्पष्ट कहा—

> कारणान्यथकार्याणि सहकारीणि यानि च।
> रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥
> विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
> व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो-रसस्मृतः॥

लोक में रति आदिक स्थायी भावों के जो कारण, कार्य्य और सहकारी होते हैं, नाटक और काव्य में वे ही विभाव, अनुभाव और

यभिचारी क्रम से कहलाते हैं। इन विभावादि की सहायता से यक्त स्थायी भाव की रस-संज्ञा होती है।

इसके आगे वे लिखते हैं 'अभिव्यक्त: सामाजिकानाम्—वासनात्मतया स्थित: स्थायी रत्यादिको........................अलौकिक चमत्कार-कारी शृंगारादिको रस: ।'

किस व्यक्त स्थायी भाव की रस-संज्ञा होती है, इस वार्तिक में यह स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने बतलाया कि सामाजिकों (दर्शकों) के हृदय में वासना रूप में स्थित स्थायी रति आदिक भाव का ही रसत्व प्राप्त होता है। मैं समझता हूँ, निम्नलिखित वार्तिक में इसी बात को नाट्यशास्त्र-कार भरत मुनि उनसे भी पहले कह चुके हैं--

"नाना भावाभिनयव्यंजितान्वागङ्ग सत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनस: प्रेक्षकास्तस्मान् नाट्यरसा इत्यभि व्याख्याता: ।"

नाना भावाभिनय से व्यंजित वचनावली और अंगभंगी द्वारा दर्शक लोग मन में स्थायी भावों के रस का आस्वादन करते हैं, इसीलिये नाटकों में 'रस' माना गया है।

लगभग यही सम्मति अभिनव गुप्ताचार्य्य की है, वरन् वास्तविक बात तो यह है कि काव्यप्रकाश-कार का विचार उसके प्रभाव से प्रभावित है। साहित्यदर्पण-कार का भी यही मत है और कुछ शाब्दिक परिवर्तन से इसी सिद्धान्त को पण्डितराज जगन्नाथ भी स्वीकार करते हैं। बीच-बीच में और तर्क-वितर्क भी हुए हैं, परन्तु इस समय सर्वमान्य सिद्धान्त यही है।

हिन्दी शब्दसागर के रचयिता विवुधजन इस विषय में जो लिखते हैं, उसे भी देखिये—

"हमारे यहाँ के आचार्य्यों में इस विषय में बहुत मतभेद है कि रस किसमें तथा कैसे अभिव्यक्त होता है। कुछ लोगों का मत है कि स्थायी भावों की वास्तविक अभिव्यक्ति मुख्य रूप से उनलोगों

में होती है, जिनके कार्यों का अभिनय किया जाता है। (जैसे राम, कृष्ण, हरिश्चन्द्र आदि) और गौण रूप से अभिनय करनेवाले नटों में होती है, अतः इन्हीं में ये लोग रस की स्थिति मानते हैं। ऐसे आचार्यों का मत है कि अभिनय देखनेवालों का काव्य पढ़नेवालों के साथ रस का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत अधिक लोगों का यह मत है कि अभिनय देखनेवालों तथा काव्य पढ़नेवालों में ही रस की अभिव्यक्ति होती है। ऐसे लोगों का कथन है कि मनुष्य के अन्तःकरण में भाव पहले से ही विद्यमान रहते हैं और काव्य पढ़ने अथवा नाटक देखने के समय वही भाव उद्दीप्त होकर रस का रूप धारण कर लेते हैं और यही मत ठीक माना जाता है। तात्पर्य यह कि पाठकों या दर्शकों को काव्यों अथवा अभिनयों से जो अनिर्वचनीय और लोकोत्तर आनन्द प्राप्त होता है, साहित्य-शास्त्र के अनुसार वही 'रस' कहलाता है।"

—हिन्दी शब्दसागर पृष्ठ २९०८

रस का विषय बड़ा वादग्रस्त है, कुछ मर्मज्ञ विद्वानों की धारणा है कि अब तक रस की उचित मीमांसा नहीं हुई। जो हो, किन्तु मैं यह कहूँगा कि उसका शास्त्रार्थ जिस विस्तृत रूप से ग्रंथों में लिपिबद्ध है, वह साहित्य की बहुमूल्य और मननशीलता की अद्भुत सम्पत्ति है। वह अगाध समुद्र है, डूबने पर उसमें बहुमूल्य रत्न प्राप्त होते हैं, किन्तु यह कार्य है, बड़ा उद्वेगजनक और दुस्तर। मैंने थोड़े में जिन बातों का परिचय दिया है, वह कहाँ तक यथातथ्य है, यह कहना कठिन है। जहाँ शब्दों की ही पकड़ है और बात-बात में तर्क-वितर्क होता है, वहाँ निश्चित रूप से किसी सिद्धान्त का संक्षिप्तीकरण सुलभ नहीं। किन्तु यह दुस्साहस मैंने किया है, आशा है पाठकों को इससे रस का इतिहास जानने में कुछ सुविधा अवश्य होगी।

संस्कृत को छोड़कर रस की कल्पना और किसी भाषा में नहीं हुई। अँगरेज़ी, अरबी, फारसी और उर्दू में भाव के ही पर्यायवाची शब्द मिलते हैं, रस के नहीं। रस का विवेचन जितना ही विमुग्धकर है, उतना ही पाण्डित्य पूर्ण।

रस की आनन्दस्वरूपता

काव्यप्रकाश-कार लिखते हैं—

'पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन हृदयमिव प्रविशन् सर्वांगीणमिवालिंगन अन्यत् सर्वमिव तिरोदधत् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिक चमत्कारकारी शृंगारादिकोरसः।

पानक रस के समान जिनका आस्वाद होता है, जो स्पष्ट झलक जाते, हृदय में प्रवेश करते, व्याप्त होकर सर्वांग को सुधा-रस-सिंचित बनाते, अन्य वेद्य विषयों को ढक लेते और ब्रह्मानन्द के समान अनुभूत होते हैं, वे ही अलौकिक चमत्कारसम्पन्न शृङ्गारादि रस कहलाते हैं।

यह हुई शृङ्गारादिक रस की परिभाषा। यहाँ प्रश्न यह होता है कि करुण, भयानक आदि रसों में, जिनके स्थायी-भाव शोक, जुगुप्सा और भय आदि हैं, इस परिभाषा की सार्थकता कैसे होगी? क्योंकि वे तो दुःखमय होते हैं।

इसका उत्तर साहित्यदर्पण-कार इस प्रकार देते हैं—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
स चेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।
किंचतेषु यदा दुःखं न कोऽपिस्यात्तदुन्मुखः।

नहि कश्चित सचेतन आत्मनो दुःखाय प्रवर्त्तते। करुणादिषु च सकलस्यापि साभिनिवेशप्रवृत्तिदर्शनात्सुखमयत्वमेव।

'करुण आदि रसों में भी जो परमानन्द होता है, उसके लिये

सहृदयों का अनुभव ही प्रमाण है। यदि करुणादि रसों में दुःख होता हो तो करुणादि रस-प्रधान काव्य नाटकादि के श्रवण दर्शन आदि में कोई भी प्रवृत्त न हो क्योंकि कोई भी समझदार अपने दुःख के लिये प्रवृत्त नहीं होता; परन्तु करुण रस के काव्यों में सभी लोग आग्रह पूर्वक प्रवृत्त होते हैं, अतः वे रस भी सुख-मय ही हैं।'

—विमलार्थदर्शिनी

यह कहकर स्वयं तर्क करते हैं, दुःख के कारण से सुख की उत्पत्ति कैसे होगी ? उत्तर देते हैं—

'लौकिक शोकहर्षादिकारणेभ्यो लौकिक शोकहर्षादयो जायन्ते, इति लोक एव प्रतिनियमः, काव्ये पुनः सर्वेभ्योपि विभावादिभ्यः सुखमेव जायते।'

'शोक के कारणों से शोक के उत्पन्न होने और हर्ष के कारणों से हर्ष के उत्पन्न होने का नियम लोक में ही होता है, (काव्य और नाटकों में) विभावादिकों से सुख ही मिलता है।'

फिर स्वयं तर्क करते हैं—

'कथं तर्हि हरिश्चन्द्रादिचरितस्य काव्यनाट्ययोरपि दर्शनश्रवणाभ्याम-श्रुपातादयो जायन्ते।'

यदि सुख ही होता है तो हरिश्चन्द्र आदि के करुणरसमय चरित को काव्य एवं नाटकों में देखने-सुनने से अश्रुपातादि क्यों होते हैं ?

उत्तर देते हैं—

'अश्रुपातादयस्तद्वद्द्रुतत्वाच्चेतसो मतः।'

चित्त के द्रवित होने के कारण से, प्रयोजन यह कि चित्त दुःख में ही द्रवित नहीं होता आनन्द में भी द्रवित होता है और उस समय भी अश्रुपातादि होते हैं।

साहित्यदर्पण-कार ने जो कुछ कहा है, सूत्र रूप से कहा है। मैं यथामति उसकी व्याख्या करके उसको स्पष्ट करना चाहता हूँ। मानव-समाज के कुछ संस्कार सार्वभौम हैं, किसी देश अथवा किसी जाति का प्राणी क्यों न हो, गुणों का आदर और दुर्गुणों का अनादर अवश्य करेगा। मानस के जो उदात्त और महान् भाव हैं, उसकी पूजा सब जगह सभी करता है, इसी प्रकार उसके जो कुत्सित, घृणित एवं निन्दनीय विचार हैं, उनको हेय, असत् और तिरस्कार-योग्य कौन नहीं मानता? सती स्त्री जैसे संसार में वन्द्य है, असती स्त्री वैसे ही अवन्द्य। सदाचारी पुरुष सब स्थानों में देवता समझा जाता है और दुराचारी पुरुष वसुन्धरा भर में दानव। जहाँ किसी शिष्ट, उदारचेता, धर्मप्राण, पुरुष को देखकर हृदय प्रफुल्ल और कृतकृत्य होता है, वहाँ दुष्ट, उत्पीड़क, एवं धर्मच्युत जन को देख क्रुद्ध और संतप्त बन जाता है। प्रायः देखा गया है कि नरपिशाचों का नाश, दमन और उत्पीड़न देखकर समाज हर्षविह्वल हो जाता है और वही महात्माओं की कदर्थना देखकर कलेजा थाम लेता है। जब यह संस्कार मनुष्य मात्र का है, वह भी एक देशी नहीं, सर्वदेशी तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि काव्य-श्रवण अथवा नाटक-दर्शन के समय भी वह जैसा-का-तैसा रहेगा, उसमें यदि कारण विशेष से किसी काल में कुछ परिवर्तन होगा, तो नाम-मात्र का। अपवाद की बात और है, वह कहाँ नहीं होता?

जितने साहित्यिक ग्रंथकार और नाटककार होते हैं, सबका उद्देश्य सदादर्श प्रचार होता है। प्रायः अधिकांश ग्रन्थ इस उद्देश्य से लिखे जाते हैं कि उनके द्वारा जाति, देश और समाज का उत्थान हो और उनमें ऐसे भावों का प्रचार हो जिससे उनके सुख शान्ति की वृद्धि हो। लक्ष्य सबका यही होता है, लिखने की प्रणाली में भिन्नता हो सकती है। इस सूत्र से नाटक आदि में भले-बुरे सभी प्रकार

के पात्र होते हैं। भले की भलाई और बुरे की बुराई दिखलाकर एक का उत्कर्ष और दूसरे का पतन दिखलाया जाता है। इसलिये कि जिसमें दर्शकों के हृदयों में भलाई करने और बुराई न करने की रुचि उत्पन्न हो। अपने उद्देश्य की सिद्धि में जिस ग्रंथकार अथवा नाटककार की लेखनी जितनी ही विलक्षण होती है, जितनी ही उसमें मार्मिकता होती है, जितनी ही सुन्दरता से वह सूक्ष्म मानसिक भावों का चित्रण कर सकती है, उसकी रचना उतनी ही अपूर्व मनोहारिणी और प्रभावजनक होती है। इसी प्रकार इन भावों का अभिनेता अपने कार्य में जितना ही दक्ष, पटु और भावुक होता है, जितनी ही सहृदयता से भावों का व्यंजन कर सकता है, उसका अभिनय उतना ही सफल होता है, और उतना ही वह दर्शक जन के हृदय को आकर्षित कर उसे विमुग्ध और आनन्दित कर सकता है।

मान लीजिये, रंगालय में जनता समवेत है, रामलीला हो रही है, वनवास प्रकरण है, और चारों ओर करुण-रस प्रवाहित है। सामने न तो महाराज दशरथ हैं, न कौशल्या देवी, न कैकेयी, न मंथरा, न भगवान् रामचन्द्र, न श्रीमती जनकनन्दिनी आदि। कुछ अभिनेता इनलोगों का पार्ट लेकर अपना अभिनय तन्मयता से कर रहे हैं। फिर भी सहस्रों वर्ष का बीता दृश्य सामने है और जनता आनन्दमग्न है। जब कैकेयी और मंथरा सामने आती हैं, तो उसका हृदय घृणा से भर जाता है, उसकी आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगती हैं, वह दाँत पीसने लगती है और उसकी भौंहें टेढ़ी हो जाती हैं। जब कौशल्या देवी की करुणामयी मूर्ति देखती है, अश्रुविसर्जन करने लगती है, बारबार रोती है, फिर भी तृप्त नहीं होती। जब भगवान् रामचन्द्र की मर्यादामयी मूर्ति को अवलोकन करती है, श्रद्धा से भर जाती है, उनकी पितृभक्ति, धैर्य्य और त्याग को देख-

कर उनपर निछावर होती है, कभी कलेजा थामती है, कभी मूर्ति-मान् आर्य-गौरव की मन-ही-मन आरती उतारने लगती है। जब भग्नहृदया श्रीमती जानकी देवी दृष्टिगत होती हैं, तब उसकी छाती फटने लगती है। जब वह उन्हें वन जाने के लिये प्रस्तुत देखती है और उनके मुख की ओर ताकती है, आठ-आठ आँसू रोने लगती है। फिर जब भगवान् रामचन्द्र भगवती जानकी को वन की भयंकरता बतलाने लगते हैं, उस समय न जाने कहाँ का भय आकर उसके जी में समा जाता है। उस समय तो वह और भीत होती है, जब जनक-नन्दिनी के कुसुमादपि कोमल कलेवर पर दृष्टिपात करती है। किन्तु जनता की ये समस्त दशाएँ क्या उसे दुःखभागिनी बनाती हैं, नहीं कदापि नहीं। वरन् प्रत्येक दशाओं में वह विचित्र सुख और आनन्द का अनुभव करती है। क्यों? इसलिये कि जिस संस्कृति से उसका हृदय संस्कृत है, उसके चरितार्थ करने की उसमें बड़ी ही मुग्धकारी सामग्री उसको मिलती है। दूसरी बात यह कि मानसिक भावों को जिस समय जिस रूप में परिणत होना चाहिये, उस समय उसके उस रूप में परिणत होने से ही आनन्द और सुख की प्राप्ति होती है, अन्यथा चित्त बहुत तंग करता है और यह ज्ञात होने लगता है कि हृदय न जाने किस बोझ से दबा जा रहा है! तीसरी बात यह कि अभिनय करने के समय अभिनेता अपने पार्ट को जब इस मार्मिकता से करता है कि असली और नकली का भेद प्रायः जाता रहता है, तो उस समय दर्शकों को जो आनन्द होता है, वह भी अपूर्व ही होता है। चाहे यह अभिनय करुण रस का हो, चाहे वीभत्स या भयानक रस का। कारण इसका यह है कि उस समय की अभिनेता की स्वकर्मपटुता और अद्भुत अनुकरण-शीलता चुपचाप उनपर विचित्र प्रभाव डाले विना नहीं रहती।

मौलवी अहमद अली एक मुसलमान थे। उनको हरिश्चन्द्र नाटक
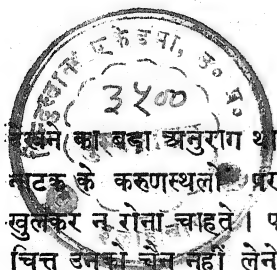
देखने का बड़ा अनुराग था। वे सहृदय और सुकवि भी थे। इस नाटक के करुणस्थलों पर प्रायः उनकी आँखें भर आतीं, पर वे खुलकर न रोना चाहते। परिणाम यह होता कि विशेष स्थलों पर चित्त उनको चैन नहीं लेने देता। जब वे खुलकर रो लेते, तभी उनको सुख मिलता। सबल प्रवाह को रोक दो, देखो जल कैसे चक्कर में पड़ जाता है। उसको आगे बढ़ने दो, उस समय वह अपनी स्वाभाविक गति से मंद-मंद सानन्द बहता दिखलाई पड़ेगा !

एक नाटक का ऐसा दुष्ट पात्र था, जो रास्ते में काँटे बिछाकर अँधेरे में साँप के समान रस्सी खड़ी कर, चुपचाप लोगों की देह में सुई चुभोकर, बिछावनों में कंकर भरकर, भिड़ के छत्तों को छेड़ कर और कभी-कभी जलते अंगारे ऊपर फेंककर बच्चों तक को बहुत तंग किया करता। लोगों का उससे नाकों दम था, सब उसके शत्रु हो गये थे। एक दिन एक हट्टेकट्टे मोटेताजे गुरूघंटाल ने उसको पकड़ा। उसके पास तरह-तरह के साँप, बड़े-बड़े बिच्छू, लोहे के तेज़ काँटे, नोकदार छुरी, अनेक प्रकार के भाले, और कई तरह के नुकीले दूसरे हथियार थे। उसके साथी के हाथ में एक अँगीठी थी, जिसमें जलते अंगारे दहक रहे थे। जब वह साँप निकाल-कर उस दुष्ट से कहता—'कटा दूँ', बिच्छू निकालकर कहता—'क्या डंक मरवा दूँ', तब उसकी नानी मर जाती और वह इतना डर जाता कि 'ओः ओः' छोड़कर उसके मुँह से सीधी बात न निकलती। जब उसकी देह में वह लोहे के काँटे चुभो देता, या नुकीली छुरी या कोई हथियार गड़ा देता, या यह कहता कि यह अँगीठी तुझपर उलट दूँ, तब वह इतना डर जाता और उसकी घिग्घी ऐसी बँध जाती कि वह मौत को सामने देखने लगता और ऐसी चेष्टाएँ करता कि मानों अब मरा। पर दर्शक उसकी यह दशा देखकर कभी हँसते, कभी तालियाँ बजाते, कभी कहते, 'अच्छे से पाला पड़ा।' इसीको

कहते हैं, 'इस हाथ दे उस हाथ ले।' एक ओर था भयानक रस का उग्र रूप और दूसरी ओर था मूर्तिमान् आनन्द। यह विपर्य्यय क्यों? केवल संस्कार-वश।

प्राय: देखा जाता है कि जब रंगमंच पर किसी बड़े अत्याचारी, की यातना आरम्भ होती है, लहूपिपासितों का लहू बहाया जाता है और दूसरों की नाक काटनेवालों की नाक काट ली जाती है, जब देशहितैषियों के गले पर छुरा चलानवालों, पेट में कटार भोंकनेवालों का लहू पान किया जाता है, अथवा देशद्रोहियों का शिर गेंद बनाया जाता है, उनके मांस के लोथड़े उछाले जाते हैं, और उनकी अँतड़ी चबाई जाती है तो यह वीभत्स काण्ड देखकर दर्शक-मण्डली के रोंगटे नहीं खड़े होते और न उनके हृदय में कुछ दु:ख ही होता है। वरन् वे जितना छटपटाते हैं, जितना रोते कलपते हैं और जितनी हाय-हाय करते हैं, उतनी ही वह हर्षित होती और उल्लास प्रकट करती है। क्यों? इसलिये कि नाटकार की लेखनी के कौशल से अत्याचारियों, देश-द्रोहियों और उत्पीड़कों के प्रति उनके हृदय में इतनी घृणा जाग्रत् रहती है कि उनको उनकी नाटकीय यातना देखकर ही सुख मिलता है। दूसरी बात यह कि मनुष्य का संस्कार बड़ा प्रबल होता है, वही अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल उसके हृदय में सुख-दु:ख, घृणा और प्रेम की सृष्टि करता है। अत्याचारियों, देशद्रोहियों, मानव-उत्पीड़कों के प्रति मनुष्य मात्र का सँस्कार द्वेष और घृणामय है। इसलिये जब वह उसकी दुर्गति होते देखता है तो संतोष तो लाभ करता ही है, यह सोचकर भी उत्फुल्ल होता है कि संसार-कंटकों की जितनी दुर्गति दिखलाई जावे, उतना ही उत्तम, क्योंकि उसीको देखकर जनता के नेत्र खुलते हैं, उन्मार्ग-गामियों को त्रास होता है और दुर्जनों से वसुधा सुरक्षित रहती है। नाटक देखने के समय एक भाव और सब दर्शकों के

हृदय में जाग्रत् रहता है वह यह कि वे उसको खेल समझते हैं, तात्कालिक होनेवाली सत्य घटना नहीं। इसलिये रंगमंच के सुख-दुःखमय दृश्यों का, अभिनेताओं के कौशलमय अभिनयों का, रंगभूमि के गान-वाद्य और परदों के बहुरंजित सीन-सीनरी आदि का प्रभाव तो उनपर पड़ता है और वे प्रभावित भी होते हैं, परन्तु उनको वह शोक, मोह और क्षोभ नहीं सताता जो वास्तविक घटना के संघटित होने के समय प्रत्येक प्रत्यक्षदर्शी मानव-हृदय को कष्ट पहुँचाता है और इस प्रकार उस समय उनका चित्त उन स्वाभाविक आघातों से भी सुरक्षित रहता है, जो ऐसे अवसरों पर प्रत्येक मानव-हृदय पर साधारणतया होते रहते हैं।

अब तक जो मैंने निवेदन किया है, आशा है, उससे यह अवगत हो गया होगा कि किस प्रकार करुण रस से भी सुख की प्राप्ति होती है, और कैसे भयानक रस और वीभत्स रस में भी हृदय में आनन्द का संचार होता है। नाटकों में विभाव, अनुभाव और संचारीभाव के जिस व्यापार द्वारा इस प्रकार के रसों की उत्पत्ति, परिणति आदि होती है, उसको विभावन, अनुभावन और सञ्चारण कहते हैं। साहित्यदर्पणकार लिखते हैं—

"विभावनम् रत्यादेर्विशेषास्वादाङ्कुरणयोग्यतानयनम्। विभावन-मेवंभूतस्य रत्यादेः समनन्तरमेव रसादिरूपतया भावनम् सञ्चारणम् तथा भूतस्चैव तस्य सम्यक् चारणम्"।

'रति आदिक स्थायी भावों को आस्वादोत्पत्ति (रसोद्बोध) के योग्य बनाना 'विभावन' कहलाता है, विभावन के द्वारा आस्वा-दोत्पत्ति के योग्य हुए उन रति आदिक को तुरन्त रस-रूप में परिणत कर देनेवाले व्यापार का नाम अनुभावन है। इस प्रकार सुसम्पन्न रति आदिक को भले प्रकार सञ्चारित कर देने का नाम सञ्चारण है"।

—विमलार्थदर्शिनी

वे यह भी लिखते हैं—

'ये खलु वनवासादयो लोके दुःखकारणानि इत्युच्यन्ते, तएवहि काव्यनाट्यसमर्पिता अलौकिक विभावनव्यापारवत्तया कारणशब्द वाच्यतां विहायालौकिक विभाव शब्दवाच्यन्ता भजन्ते'।

"लोक में जो वनवास आदिक दुःख के कारण कहे जाते हैं, वे यदि काव्य और नाटक में निबद्ध किये जावें तो फिर उनका कारण शब्द से व्यवहार नहीं होता, किन्तु अलौकिक विभाव शब्द से होता है। इसका कारण यह है कि काव्यादि में उत्पत्ति होने पर उन्हीं कारणों में विभावन नामक एक अलौकिक व्यापार उत्पन्न हो जाता है।"

—विमलार्थदर्शिनी

प्रयोजन यह कि लोक में अथवा संसार के साधारण व्यवहार में साक्षात् सम्बन्ध से विभाव, अनुभाव, एवं संचारी भाव के जो कार्य्य-कलाप होते हैं, काव्य में उनका चित्रण और नाटकों में उनका अनुकरण मात्र होता है। नित्य लोक में जितनी घटनाएँ होती रहती हैं, उनका सम्बन्ध परिस्थिति के अनुसार सुख-दुःख दोनों से होता है। इन घटनाओं से जिनका सम्बन्ध होता है, उनको सुख-दुःख दोनों प्राप्त होते रहते हैं। यह स्वाभाविकता है, संसार की रचना ही सुख-दुःखमयी है। काव्य और नाटकों की रचना का उद्देश आमोद-प्रमोद और आनन्द प्राप्ति है, साथ ही शिक्षा और देश-सुधार आदि। इसी इष्ट की प्राप्ति के लिये काव्य पढ़े-सुने और नाटक देखे जाते हैं। अनेक अवस्थाओं में चिन्तित और दुःखित होने पर मन बहलाने के लिये भी काव्य और नाटकों की शरण ग्रहण की जाती है। इसलिये काव्य और नाटक आनन्द के ही साधन हैं, और उनसे आनन्द की ही प्राप्ति होती है। लौकिक विभावादि से उनके विभावादि में अन्तर हाता है, अतएव वे अलौकिक कहलाते हैं। यहाँ अलौकिक का अर्थ लोक से सम्बन्ध न रखनेवाला है, अपूर्व अथवा परमविलक्षण

नहीं। आशा है, अब तक जो कुछ कहा गया, उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि विभावन-अनुभावन आदि क्या हैं, और इन नामों की कल्पना क्यों हुई। विश्वास है, यह बात भी समझ में आ गई होगी कि नाटकों और काव्यों में करुण, वीभत्स और भयानक रसों में भी आनन्द की ही प्राप्ति होती है, दुःखों की नहीं।

रस और ब्रह्मास्वाद

'रस का आस्वाद ब्रह्मानन्द के समान होता है, समस्त साहित्य-मर्मज्ञों का यही सिद्धान्त है। काव्यप्रकाशकार कहते हैं—

'ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्' ।

ब्रह्मानन्द के समान अनुभूत होता है। साहित्यदर्पणकार अपने ग्रन्थ में एक स्थान पर यह वाक्य उद्धृत करते हैं—

'परमार्थतस्त्वखण्ड एवायं वेदान्तप्रसिद्ध ब्रह्मतत्ववद्वेदितव्यः'

'वास्तव में रस वेदान्त-प्रसिद्ध ब्रह्म की तरह अखण्ड और वेद्य है'।

ऐसे ही और प्रमाण भी उठाये जा सकते हैं, किन्तु इससे व्यर्थ विस्तार होगा। मेरा विचार है, इन उक्तियों का आधार पवित्र वेद की यह श्रुति है—'रसो वै सः'। अब यह चिन्तनीय है कि ऐसी धारणा क्यों हुई? मैं कहूँगा, निम्न लिखित कारणों से—

१—काव्यप्रकाश की बालबोधिनी टीकाकार ब्रह्मास्वाद का यह अर्थ करते हैं—

'ब्रह्मास्वादे (मुक्तिदशायां) ब्रह्ममात्रं प्रकाशते, रसे तु विभावाद्य प्रीतिभेदात् सादृश्यम्'

'ब्रह्मास्वाद अर्थात् मुक्ति-दशा में ब्रह्ममात्र ही प्रकाशित रहता है और भावों का तिरोभाव हो जाता है। विभावादि जब स्थायी भावों के साथ मिलकर रस-रूप में परिणत होते हैं, उस समय भी

केवल रस विकसित रहता है, और सब उसीमें लीन हो जाते हैं, कहा भी है—'अन्यत् सर्वमिवतिरोदधत्'। इसलिये वह ब्रह्मास्वाद सहोदर है, अथवा ब्रह्मास्वाद से उसकी समानता है।

२—कुछ विद्वानों का सिद्धान्त है, 'काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम् रसादि-आत्मा' शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं, और रस आत्मा। साहित्यदर्पणकार लिखते हैं। 'वाक्यम् रसात्मकम् काव्यम्' काव्य वह है जिसकी आत्मा रस है, इससे भी उसका ब्रह्म-स्वरूप होना सिद्ध है।

३—अग्निपुराण में लिखा है—

अक्षरंब्रह्म परमं सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकम् चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥
आनन्द: सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सातस्य चैतन्यचमत्कार रसाह्वया॥

जिसको वेदान्त में अक्षर, परब्रह्म, सनातन, अज, व्यापक, चैतन्य और ज्योतिस्वरूप कहा गया है, उसका सहज आनन्द किसी समय जब प्रकट होता है, तो उस अभिव्यक्ति को चैतन्य, चमत्कार अथवा रस कहा जाता है।

४—नाटकों में देखा जाता है कि रस का उद्रेक होने पर एक काल में सहस्रों मनुष्य मन्त्रमुग्धवत् बन जाते हैं, एक साथ हँसते-रोते और तालियाँ बजाते हैं, आनन्द-ध्वनि करते हैं, शर्म-शर्म या थू-थू कहने लगते हैं और कभी-कभी अपने से बाहर हो जाते हैं। यह रस की अलौकिकता है, क्योंकि साधारणतया लोक में दो एक प्राणिविशेष में ही उसकी उपस्थिति देखी जाती है। दूसरी बात यह कि वह अपरिमित है, इसलिये कि अनेक श्रोताओं और दर्शकों के हृदय में वह एक ही समय में उदित और विकसित होता है।

५—रस में ज्ञानस्वरूपता और स्वयंप्रकाशता है। साहित्य-दर्पणकार कहते हैं—

'अभिन्नोपि सप्रमात्रा वासनोपनीत रत्यादि तदात्म्येनगोचरीकृतः इति च। ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वमनङ्गीकुर्वतामुपरि वेदान्ताभिरेव पातनीयो दण्डः।

'यद्यपि रस आत्मा के स्वरूप से अभिन्न है, चिन्मय है, तथापि अनादि वासना के द्वारा उपनीत अर्थात् ज्ञान में प्रतिभासित जो रत्यादिक उनके साथ अभिन्न रूप से गृहीत होता है। इस प्रकार रस की ज्ञानस्वरूपता और उसके साथ रत्यादि का अभेद सिद्ध हुआ। ज्ञान स्वयंप्रकाश है, अतः रस भी स्वयं प्रकाश है।

—विमलार्थप्रकाशिनी

यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि क्या वास्तव में समस्त नाटक देखने और काव्य पढ़ने-सुननेवालों को ब्रह्मास्वाद की प्राप्ति होती है? उत्तर यह है कि नहीं। जिसकी जैसी वासना होगी, भाव-ग्रहण की जैसी शक्ति होगी, जिसमें जैसी सहृदयता होगी, रस आस्वाद का वह वैसा ही अधिकारी होगा। रस की भी कोटि है, उसका सबसे उच्च कोटि का स्वरूप ब्रह्मास्वाद है, उसके अधिकारी सर्वत्र थोड़े हैं। रस का साधारण रूप जो प्रायः उससे निम्नकोटि का होता है, वही सर्वसाधारण का उपभोग्य कहा जा सकता है, चाहे उसकी मात्रा में कुछ तारतम्य भले ही हो। जिसने नाट्यशाला में बैठकर नाटक देखा होगा, किसी सुवक्ता का व्याख्यान किसी सभा में सुना होगा अथवा किसी प्रसिद्ध संकीर्तन-मण्डली का भक्तिमय कीर्तन श्रवण किया होगा, उसको इस बात का अनुभव स्वयं होगा। परमात्मा का नाम है सच्चिदानन्द। क्यों? इसलिये कि वह सत् है, चित् है और आनन्दस्वरूप है। अतएव आनन्द मात्र ईश्वर का स्वरूप है, परन्तु इस सच्चे आनन्द के अधिकारी कितने हैं? प्रत्येक प्राणी में हरे-भरे वृक्षों में, विकसित सुमनों में, रस भरे नाना फलों में। प्रयोजन यह है कि जहाँ, शिव है, सत्य है, सौन्दर्य है, वहाँ ईश्वर की आनन्दमयी सत्ता मौजूद है। परन्तु उसका सच्चा उपभोग करने

वाले, कोई महान्हृदय महात्मा ही हैं। सर्वसाधारण अपने ज्ञान, विवेक, विचार और दृष्टि के अनुसार ही उनसे यथाशक्य थोड़ा या बहुत आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। यही अवस्था नाटक-दर्शकों अथवा काव्य आदि श्रवणकर्ताओं की भी समझनी चाहिये। किन्तु इससे रस के ब्रह्मास्वाद होने में बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि रस परिणति की अन्तिम सीमा वही है।

विभावादिकों की रसव्यंजकता

आपलोग पढ़ते आये हैं कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव तीनों का संयोग जब रति आदिक स्थायी भावों से होता है, तभी रस की उत्पत्ति होती है। किन्तु देखा जाता है कि इनमें से किसी एक के द्वारा भी रस उत्पन्न हो जाता है, ऐसी अवस्था में इसकी मीमांसा आवश्यक है। साहित्यदर्पणकार लिखते हैं—

'ननु यदि विभावानुभावव्यभिचारिभिर्मिलितैरेव रसस्तत्कथं तेषामेकस्य द्वयोर्वा सद्भावेपि सस्यादित्युच्यते'

'यदि विभाव, अनुभाव और संचारी इन तीनों के मिलने पर ही रसास्वाद होता है, एक दो से नहीं होता, तो जहाँ कहीं एक अथवा दो का ही वर्णन है, वहाँ जो रसास्वाद दीख पड़ता है, सो कैसे होगा?'

उत्तर देते हैं—

'सद्भावश्चेद्विभावादेर्द्वयोरेकस्य ना भवेत्।
झटितन्यसमाक्षेपे तथा दोषो न विद्यते।'

'विभावादिकों में से दो अथवा एक के उपनिबद्ध होने पर जहाँ प्रकरणादि के कारण दोष का झट से आक्षेप हो जाता है, वहाँ कुछ दोष नहीं होता।' —विमलार्थप्रकाशिनी

आक्षेप का अर्थ है 'व्यञ्जनीय रस के अनुकूल शेष (अन्य) दो भावों का भी बोध करा देना।'

कुछ प्रमाण लीजिये—केवल विभाव द्वारा रस की अभिव्यक्ति—

दमदम दमकत दामिनी घहरत नभ घनघोर।
मान करत कत मानिनी मोर मचावत सोर ॥१॥

इस दोहे में उद्दीपन विभाव का वर्णन है; न तो संचारी का है, न अनुभावों का। परन्तु मानिनी का मानयुक्त होना, उसके हृदय का सामर्ष होना सूचित करता है, जो एक संचारी भाव है। जब वह मान दशा में है तो उसकी भौंहें अवश्य चढ़ी होंगी, मुँह भी निस्सन्देह बिगड़ा होगा, इसलिये अनुभाव भी उसमें मिले और तीनों के आधार से ही रस की सिद्धि हुई।

केवल अनुभाव द्वारा रस विकास—

टपटप टपकत सेदकन अंग अंग थहरात।
नीरजनयनी नयन मैं काहें नीर लखात ॥२॥

स्वेद विन्दु का टपकना, अंगों का कम्पित होना, आँखों में जल आना अनुभाव है, और इन्हींका वर्णन दोहे में है। किन्तु कारण अप्रकट है, किसी विभाव के कारण ही ऐसा हो रहा है, चाहे वह आलम्बन हो अथवा उद्दीपन, अतएव अनुभावों द्वारा ही विभाव की सूचना मिल रही है। किसी श्रम, आवेग, चिन्ता और शंका के द्वारा ही ऐसी दशा होने की संभावना है, अतएव संचारी का उद्‌बोध भी उससे हो रहा है।

केवल संचारी द्वारा रस का आविर्भाव—

करति सुधारस पानसी रस बस ह्वै सरसाति।
कत गयंदगतिगामिनी उमगति आवति जाति ॥३॥

इस दोहे में हर्ष और औत्सुक्य पूर्ण मात्रा में मौजूद हैं, जो कि संचारी हैं। वे ही उस विभाव की ओर भी संकेत कर रहे हैं जो उनके आधार हैं। उमग-उमग कर आना-जाना अनुभाव के अग्रदूत हैं।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव तीनों के द्वारा ही रस की उत्पत्ति होती है, किसी एक के द्वारा नहीं। जहाँ इनमें से कोई एक या दो होता है, वहाँ आक्षेप द्वारा शेष दो या एक का भी ग्रहण हो जाता है। यही बात पण्डित-राज जगन्नाथ भी रसगंगाधर में कहते हैं—यथा

"एवं च प्रामाणिके मिलितानां व्यञ्जकत्वे यत्र क्वचिदेकस्मादेवा साधारणाद्रसोद्बोधस्तत्र तरद्वयमाक्षेप्य मनोनानैकान्तिकत्वम्"।

"ऐसे स्थलों में अन्य दोनों का आक्षेप कर लिया जाता है, सो यह बात नहीं है कि रस कहीं सम्मिलितों से उत्पन्न होता है, और कहीं एक ही से, किन्तु तीनों के सम्मेलन के बिना रस उत्पन्न होता ही नहीं।" —हिन्दी रसगंगाधर

इसके अतिरिक्त एक बात और है। वह यह कि यदि केवल विभाव या अनुभाव अथवा संचारी भाव से रस की उत्पत्ति होने लगे तो रस के निर्णय में व्याघात उपस्थित होगा। कारण यह है कि एक विभाव अनेक रसों का विभाव हो सकता है, ऐसे ही एक अनुभाव अथवा संचारी भाव कई रसों में पाया जाता है। काव्य प्रकाशकार लिखते हैं—

'व्याघ्रादयो विभावा भयानकस्येव वीराद्भुत रौद्राणाम्। अश्रुपाता दयोऽनुभावाः शृंगारस्येव करुणभयानकयोः, चिन्तादयो व्यभिचारिणाः शृंगारस्येव वीर करुण भयानकानामिति, पृथगनैकान्तिकत्वात् सूत्रे मिलिता निर्दिष्टाः'

"भयानक रस के विभाव व्याघ्र आदि वीर अद्भुत और रौद्र रस के भी विभाव, शृंगार रस के अनुभाव अश्रुपातादिक करुण और भयानक रस के भी अनुभाव और चिन्तादिक व्यभिचारी शृंगार रस के अतिरिक्त वीर करुण और भयानकादि अन्य रसों के भी व्यभिचारी भाव हो सकते हैं। इसीलिये सूत्रकार भरत मुनि

ने सूत्र में इन सब के सम्मिलन से ही रस की उत्पत्ति मानी है, पृथक्त्व से नहीं।" —हिन्दी रसगंगाधर

ऐसी अवस्था में यह स्पष्ट है कि विभाव, अनुभाव, और संचारी, तीनों के संयोग से ही एक ऐसे रस की उत्पत्ति होगी, जो अन्य रसों से भिन्न होगा और जिसकी समता दूसरे से न हो सकेगी।

रस की कल्पना

रस की कल्पना संस्कृत में हुई है, अँगरेजी अथवा अरबी-फ़ारसी में इसका पर्यायवाची कोई शब्द नहीं। वास्तव में परिपुष्ट भाव का ही नाम रस है, इसलिये भाव के पर्यायवाची शब्द ही अन्य भाषाओं में मिलते हैं, अँगरेजी में भाव को इमोशन और फ़ारसी में 'जज़बा' कहते हैं। अभिनय अवलोकन के समय जो तन्मयता दर्शकों में देखी जाती है, उसके आधार से ही रस की कल्पना हुई ज्ञात होती है, क्योंकि नाट्यशास्त्र में ही पहले-पहल इसका नियमबद्ध उल्लेख हुआ है। महामुनि भरत कहते हैं कि 'द्रुहिण' नामक किसी आचार्य द्वारा इसका आविष्कार हुआ। वे लिखते हैं—'एतेह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना' किन्तु अग्निपुराण में उसकी उत्पत्ति इस प्रकार लिखी गई है—

अक्षरं ब्रह्मपरमं सनातनमजं विभुम्।
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते सकदाचन।
व्यक्तिः सातस्यचैतन्यचमत्कार रसाह्वया।
आद्यस्तस्य विकारो यः सोहङ्कार इतिस्मृतः।
ततोभिमानस्तत्रेदं समासं भुवनत्रयम्।
अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयिषु।
रागाद्भवति श्रृङ्गारो रौद्रस्तैक्ष्ण्यात् अजायते।
वीरोवष्टम्भजः सङ्कोचभूवीभत्स इष्यते।

श्रृंगाराज्जायते हासो रौद्रात्तु करुणोरसः।
वीराच्चाद्भुतनिष्पत्तिः स्याद्वीभत्सादभयानकः।

'जो अक्षर, परब्रह्म, सनातन, अज और विभु है, उसका सहज आनन्द कभी-कभी प्रकट हो जाता है। यह अभिव्यक्ति चैतन्य, चमत्कार और रसमय होती है। उसके आदिम विकार को अहंकार कहते हैं, उससे अभिमान (ममता) की उत्पत्ति हुई, जो भुवन में व्याप्त है। उस अभिमान (ममता) से रति उत्पन्न होकर परिपुष्ट हुई। बाद को राग (रति) से श्रृंगार की, तीक्ष्णता से रौद्र की, गर्व से वीर की और संकोच से वीभत्स की सृष्टि हुई। फिर श्रृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और वीभत्स से भयानक का आविर्भाव हुआ।

महामुनि भरत भी पहले चार रस की ही उत्पत्ति मानते हैं, और उनसे अन्य रसों की। वे लिखते हैं—'तेषामुत्पत्ति हेतवश्चत्वारो रसा: श्रृंगारो रौद्रो वीरो वीभत्स इति' 'उनके (रसों के) उत्पत्ति के हेतु चार रस हैं—श्रृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स इनके उपरान्त वे यह कहते हैं—

श्रृंगाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रस:।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्वीभत्साच्चभयानकः॥
श्रृंगारानुकृतिर्यातु सहास्यस्तु प्रकीर्तितः।
रौद्रस्यैव च यत्कर्म सज्ञेयः करुणोरस:॥
वीरस्यापिच यत्कर्म सोद्भुत परिकीर्तित:।
वीभत्सदर्शनं यच्च ज्ञेयः सतु भयानकः॥

श्रृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत, और वीभत्स से भयानक की उत्पत्ति हुई। श्रृंगार की अनुकृति हास्य का रौद्र का कर्म्म करुण का, वीर का कार्य्य अद्भुत का और वीभत्स दर्शन भयानक का जनक है।

अग्निपुराण में रसों की उत्पत्ति जिस प्रकार दिखलाई गई है, वह बहुत ही स्वाभाविक है। ईश्वर रस स्वरूप है, श्रुतियों में उसको 'रसौ वै सः, कहा गया है, इस लिये उसको रस का आधार कहना, अथवा उसके द्वारा रस का विकास दिखलाना, वास्तविकता पर प्रकाश डालना है। रस क्या है? उसके आनन्द की अभिव्यक्ति है। आनन्द का यथार्थ उद्रेक ही रसत्व को प्राप्त होता है। आनन्द का उपभोग अहंभाव ही करता है, क्योंकि अहंभाव ही व्यक्तित्व का आधार है। बिना अहंभाव के व्यक्तित्व अस्तित्व में नहीं आता, अतएव जगदात्मा का आदिम विकार अहंभाव है। यह अहंभाव विश्व में व्याप्त होकर साभिमान हो जाता है, क्योंकि केन्द्रित होने पर उसमें ममत्व आ जाता है। ममत्व से ही रति की उत्पत्ति होती है। जबतक किसी वस्तु अथवा व्यक्ति में किसी की ममता न होगी, तबतक उससे उसकी रति (प्रीति) न हो सकेगी। ममता ही प्रीति की जननी है। रति कहिये, चाहे प्रीति कहिये, चाहे प्रेम कहिये वह आनन्द कामुक है, वह इस विषय में इतना तन्मय रहता है कि दृष्टिविहीन बनता है। दूसरों को नहीं देखता, अपने ही आनन्द में निमग्न रहता है, यही श्रृंगार रस का रूप है। जब किसी कारण से आनन्द-प्रवाह में व्याघात उपस्थित होता है, तो वह कुछ तीखा हो जाता है, उसमें कुछ तीक्ष्णता आ जाती है, उस समय रौद्ररस सामने आता है। रौद्ररस का स्थायी भाव क्रोध है, क्रोध और गर्व का घनिष्ठ सम्बन्ध है। गर्व होने पर ममत्व व्याघात का सामना करने के लिये उत्साहित होता है, यही वीर रस है। सामना करने के समय ममत्व को यदि अपने अथवा व्याघातकर्ताओं के प्रति कारण विशेष से घृणा उत्पन्न हो जाती है तो वह संकुचित हो जाता है, यही वीभत्सरस है। ये ही चारों प्रधान रस हैं, जिनके आधार से शेष रसों की उत्पत्ति होती है।

अब देखिये, इन चार रसों से अन्य चार रसों की उत्पत्ति कैसे हुई ? महामुनि भरत कहते हैं कि 'शृंगार रस की अनुकृति हास्य है।' अनुकृति का अर्थ है, अनुकरण, अथवा नकल करना। आप लोग जानते हैं, नकल हँसी की जड़ है। किसीकी वेशभूषा, चाल-ढाल, बातचीत आदि की नकल जब विनोद के लिये की जाती है, तब उस समय हँसी का फव्वारा छूटने लगता है। शृंगार रस की सब बातों की नकल कितना हास्य विनोदमय होगी, इसके बतलाने की आवश्यकता नहीं, हास्य में स्थायिता है। वह आकर्षक और व्यापक भी बहुत है, इस लिये बाद को हास्य भी एक रस माना गया। क्रोध में आकर यदि कोई किसीको प्रहार कर बैठता है, अथवा किसीको लगती किंवा कटु बातें कहता है, तो वह व्यथित अथवा आहत हुए विना नहीं रहता, उसके हृदय में शोक भी उत्पन्न हो जाता है, और वह अपने दुःखों का वर्णन करके रोने कलपने भी लगता है, यही करुण रस है, जो रौद्र रस का कार्य है। इसी लिये करुण रस की उत्पत्ति रौद्ररस से मानी गई है। इसमें भी स्थायिता और व्यापकता है, अतएव धीरे-धीरे यह भी रस में परिगणित हो गया। यह कौन नहीं जानता कि वीर के कार्य्य आश्चर्य्यजनक होते हैं, वीरपुंगव अञ्जनीनन्दन ने, महापराक्रमी भीष्मपितामह ने, महाभारत विजयी धनञ्जय ने जो वीरता के कार्य किये हैं वे किसको चकित नहीं बनाते। महाराणा प्रताप, वीरवर नैपोलियन के वीरकर्म भी लोक विश्रुत हैं, और सब लोग इनको अद्‌भुतकर्मा कहते हैं। इसीलिये वीरता के कर्मों को अद्‌भुत रस का जनक माना गया है। रणभूमि को रक्ताक्त देखकर, मज्जा मेदमांस को जहाँ तहाँ खाते-पीते नुचते अवलोकन कर, कटे मुण्डों पर बैठ काकों को आँखें निकालते, गीधों को अँतड़ियाँ खींचते, शृंगालों को लोथ घसीटते और कुत्तों को हड्डियाँ चबाते देख किसके हृदय में भय

का संचार न होगा। इसी लिये वीभत्स दर्शन से भयानक की उत्पत्ति मानी गई है। मेरा विचार है इस विषय में जो सिद्धान्त महामुनि भरत और अग्निपुराण के हैं, वे युक्तिसंगत और उपपत्तिमूलक हैं।

जैसे पहले चार रस, फिर आठ रस की कल्पना हुई, वैसे ही काल पाकर नवाँ रस निर्वेद भी स्वीकृत हुआ। यद्यपि तर्क वितर्क इस विषय में भी हुए, परन्तु आजकल अधिक सम्मति से नवरस ही माने जाते हैं। रसगंगाधरकार लिखते हैं—

'यैरपि नाट्ये शान्तो रसो नास्तीत्यभ्युपगम्यते तैरपि बाधकाभावान्महाभारतादि प्रबन्धानां शान्तरस प्रधान तया अखिल लोकानुभव सिद्धत्वाच्च काव्ये सोऽवश्यं स्वीकार्यः। अत एवाष्टौ नाट्य रसा इत्युपक्रम्य शान्तोपि नवमो रस इति मम्मट भट्टा अप्युपसमहाषुः'

'जो लोग नाटकों में शान्त रस नहीं है, यह मानते है. उन्हें भी किसी प्रकार की बाधा न होने के कारण एवं महाभारतादि ग्रन्थों में शान्त रस ही प्रधान है, यह बात सब लोगों के अनुभव से सिद्ध होने के कारण उसे काव्यों में अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। इसी कारण मम्मटभट्टने भी 'अष्टौ नाट्ये रसास्मृता' इस तरह प्रारम्भ करके 'शान्तोपि नवमो रसः' इस तरह लिखकर उपसंहार किया है'।

हिन्दी रसगंगाधर

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि शान्त रस की कल्पना कैसे हुई ? इस का उत्तर स्वयं काव्यप्रकाशकार देते हैं। वे लिखते हैं 'निर्वेदस्थायिभावोस्ति शान्तोपि नवमो रसः' जिसका स्थायी भाव निर्वेद है नवाँ वही शान्तरस है। रसगंगाधरकार निर्वेद की व्याख्या यों करते हैं—

'नित्यानित्यवस्तुविचारजन्मा विषयविरागाख्यो निर्वेदः, गृह कलहादिजस्तु व्यभिचारी।

''जिसकी उत्पत्ति नित्य और अनित्य वस्तुओं के विचार से

होती है, जिसका नाम विषयों से विरक्ति है, उसे निर्वेद कहते हैं, वही निर्वेद यदि गृहकलहादि जन्य हो तो व्यभिचारी होगा"।

प्रदीपकार कहते हैं

'शमोऽप्यस्थायी, निर्वेदादयस्तु व्यभिचारिणः स च शमो निरीहावस्थायाम् आनन्दः, स्वात्मविश्रामादिति'।

इसका (शान्तरस का) स्थायीभाव 'शम' है, क्योंकि निर्वेद की गणना व्यभिचारी भावों में है। शम तृष्णा रहित अवस्था के उस आनन्द को कहते हैं, जिसमें आत्म-विश्राम-प्रसूत सुख की प्राप्ति होती है—उसका वर्णन महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने यों किया है—

'यच्च काम सुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्।
तृष्णाक्षय सुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥'

संसार में जितने कामप्रद सुख हैं, जितने दिव्य और महान् सुख हैं, वे तृष्णाक्षय सुख के सोलहवें भाग के बराबर भी नहीं हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने साधारण निर्वेद को व्यभिचारी माना है, और रस-अवस्था-प्राप्त को स्थायी। उसीको प्रदीपकार ने 'शम' कहा है। सिद्धान्त दोनों का एक है। चाहे उसे शम कहें या उच्च कोटि का निर्वेद—किन्तु यह स्थायीभाव कितना महत्त्व रखता है, वह महर्षि द्वैपायन के कथन से प्रकट है। कोई समय था, जब भारतवर्ष में शान्तरस की धारा बह रही थी, आज भी उसका प्रवाह बहुत कुछ सुरक्षित है। आर्य-संस्कृति में उसकी बड़ी महत्ता है, और इस जाति के समस्त महान् ग्रन्थ उच्च कंठ से उसका यशोगान कर रहे हैं। मानव-जीवन में त्याग की बड़ी महिमा है और इसमें सन्देह नहीं कि सच्ची शान्ति और परमानन्द की प्राप्ति उसीसे होती है। ऐसी अवस्था में उसका रस में न गिना जाना, असंभव था। काल पाकर मनीषियों की दृष्टि इधर गई और वह भी रसों में गिना गया। यहाँ तक कि नाटक में भी उसको स्थान मिला और इस

रस का 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक एक क्षमताशालिनी लेखनी-द्वारा निर्मित होकर संस्कृत-साहित्य में समादरणीय स्थान पा गया ॥

रस की संख्या नव तक आकर समाप्त हो गई, यह नहीं कहा जा सकता। अब भी नये-नये रस की कल्पना हो रही है। वास्तविक बात यह है कि भाव ही उत्कर्ष पाकर रस का स्वरूप धारण करते हैं। काव्यप्रकाशकार कहते हैं—'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः' 'भाव प्रोक्तः' देवादि (अर्थात् देव, मुनि, गुरु, नृप, पिता, ज्येष्ठ भ्राता आदि गुरुजनों और लघु भ्राता एवं पुत्रादि की रति और व्यंजित व्यभिचारी की संज्ञा भाव है।) इस सिद्धान्त के अनुसार देव भक्ति और वात्सल्य आदि भाव हैं, रस नहीं; किन्तु कुछ आचार्यों ने इन्हें भी रस माना है। कुछ लोग सख्य को रस कहने लगे हैं। अतएव रस की संख्या कहाँ तक पहुँचेगी, यह नहीं कहा जा सकता। किन्तु आजकल सर्वसम्मत नव ही रस हैं। भाव और रस पर मेरा एक वृहत् विवेचन वात्सल्य रस शीर्षक आगे लिखे जानेवाले एक लेख में होगा। इसलिये इस अवसर पर रस और भाव पर अधिक लिखने की चेष्टा नहीं की गई।

कुछ लोग कहते हैं कि काव्यों में जो भाव व्यापक और अधिक प्रभाव जनक पाये गये और जिनमें स्थायिता भी अधिक मिली, रंगशाला में अभिनय के समय जो मनोभाव आदि से अन्ततक स्थिर और यथावसर अधिकाधिक प्रभाव विस्तारपटु और विशेष आकर्षक देखे गये, जिनकी प्रतीति काव्य और नाट्य में प्रायः अथवा लगातार होती है, जिनमें चमत्कार के साथ विमुग्धकारिता भी मिलती है—जब साहित्य-मर्मज्ञों की दृष्टि उनकी ओर विशेषतया आकृष्ट हुई, तब उन्होंने उनको विवेचना पूर्वक स्थायभावी माना, और उन्हींके आधार से फिर रस की कल्पना की। यह कार्य्य एक काल में नहीं, धीरे-धीरे क्रमशः हुआ। आज भी यह विचारपरम्परा

अप्रतिहत है। रसगंगाधरकार इसी सिद्धान्त के थे—वे लिखते हैं—

"तत्र आप्रबन्धस्थिरत्वादमीषां भावानाम् स्थायित्वम । नच चित्तवृत्तिरूपाणामेषामाशुविनाशित्वेन स्थिरत्व दुर्लभम् वासना रूपतया स्थिरत्वं तु व्यभिचारिष्यति प्रसक्तमिति वाच्यम् । वासनारूपाणाममीषां मुहुर्मुहुरभिव्यक्तेरेव स्थिरपदार्थत्वात् व्यभिचारिणां तु नैवं तदभि व्यक्ते-विंद्युदुद्योत प्रायत्वात्" ।

'ये रति आदिक भाव किसी काव्यादिक में उसकी समाप्ति पर्यंत स्थिर रहते हैं, अतः इनको स्थायीभाव कहते हैं। आप कहेंगे कि ये तो चित्त-वृत्ति स्वरूप हैं, अतएव तत्काल नष्ट हो जानेवाले पदार्थ हैं, इस कारण इनका स्थिर होना दुर्लभ है, फिर इन्हें स्थायी कैसे कहा जा सकता है ? और यदि वासनारूप से इनको स्थिर माना जावे, तो व्यभिचारी भाव भी हमारे अंत:करणों में वासनारूप से विद्यमान रहते हैं, अतः वे भी स्थायीभाव हो जावेंगे। इसका उत्तर यह है कि यहाँ इन वासनारूप भावों का बार-बार अभिव्यक्त होना ही स्थिरपद का अर्थ है। व्यभिचारी भावों में यह बात नहीं होती, क्योंकि उनकी चमक बिजली की चमक को तरह अस्थिर होती है'।

—हिन्दी रसगंगाधर

रस की कल्पना कैसे हुई, इस विषय में जो ज्ञात हुआ, लिखा गया। भिन्न-भिन्न रसों का विशेष वर्णन मुख्य ग्रन्थ में किया गया है॥

परस्पर विरोधी रस

कुछ रसों का कुछ रसों के साथ विरोध है। जिस रस का जिस रस से विरोध नहीं है उस रस का उसके साथ अविरोध माना जाता है।

साहित्यदर्पणकार लिखते हैं—

आद्यः करुणबीभत्सरौद्रवीरभयानकैः ।
भयानकेन करुणेनापि हास्यो विरोधभाक् ॥

करुणोहास्यशृंगाररसाभ्यामपि तादृशः।
रौद्रस्तु हास्यशृंगारभयानकरसैरपि।
भयानकेन शान्तेन तथा वीररसः स्मृतः।
शृंगारवीररौद्राख्य हास्यशान्तैर्भयानकः।
शान्तस्तु वीरशृंगाररौद्रहास्यभयानकैः।
शृंगारेण तु वीभत्स इत्याख्याता विरोधिता।

इन श्लोकों का यह अर्थ हुआ—

विरोध है—(१) शृंगार रस का करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर, भयानक के साथ।

(२) हास्य रस का भयानक और करुण के साथ।

(३) करुण रस का हास्य और शृंगार के साथ।

(४) रौद्र रस का हास्य, शृंगार और भयानक के साथ।

(५) भयानक रस का शृंगार, वीर, रौद्र, हास्य और शान्त के साथ।

(६) वीर रस का भयानक और शान्त के साथ।

(७) शान्त रस का वीर, शृंगार, रौद्र, हास्य और भयानक के साथ।

(८) वीभत्स का शृंगार रस के साथ।

साहित्यदर्पणकार ने शान्त का विरोधी शृंगार, हास्य और रौद्र को माना है, परन्तु इन तीनों का विरोधी शान्त को नहीं माना। इसी प्रकार रौद्र का विरोधी हास्य को लिखा है, परन्तु हास्य का विरोधी रौद्र को नहीं कहा। ऐसे ही वीर रस को शृंगार रस का विरोधी माना है, परन्तु शृंगार को वीर रस का विरोधी नहीं लिखा। अन्य रसों में यह बात नहीं पाई जाती, जैसे हास्य रस का विरोधी भयानक को लिखा है, तो भयानक का बिरोधी हास्य रस को भी बताया है, इत्यादि। रसगंगाधरकार लिखते हैं—

"तत्र वीरश्रृंगारयोः श्रृंगारहास्ययोर्वीररौद्रयोः, श्रृंगाराद्भुतयोश्चाविरोधः। श्रृंगारवीभत्सयोः, श्रृंगारकरुणयोर्वीरभयानकयोः, शान्तरौद्रयोः, शान्तश्रृंगारयोश्च विरोधः" (पृ. ७३)

इसका यह अर्थ हुआ—

अविरोध है-(१) शृंगार का वीर, हास्य और अद्भुत के साथ।
(२) वीर का रौद्र के साथ।

विरोध है—(१) शृंगार का वीभत्स, करुणा और शान्त से।
(२) वीर का भयानक के साथ।
(३) रौद्र का शान्त के साथ।

दोनों प्रसिद्ध विद्वानों के सिद्धान्तों में ये अन्तर हैं—

साहित्यदर्पणकार ने वीर को शृंगार रस का विरोधी माना है, परन्तु रसगंगाधरकार ने अविरोधी। रसगंगाधरकार ने शृंगार का विरोधी शान्त को माना है,परन्तु साहित्यदर्पणकार ने यह नहीं माना, यद्यपि उन्होंने शान्त का विरोधी शृंगार को लिखा है। रसगंगाधरकार ने रौद्र का विरोधी शान्त को लिखा है, परन्तु साहित्यदर्पणकार ने यह नहीं लिखा, यद्यपि शान्त का विरोधी रौद्र को स्वीकार किया है।

अद्भुत के विषय में साहित्यदर्पणकार बिल्कुल चुप हैं, किन्तु रसगंगाधरकार ने उसको शृंगार और वीर दोनों का अविरोधी बतलाया है।

रसों के विरोध और अविरोध के विषय में यद्यपि इस प्रकार की भिन्नता आचार्यों की सम्मतियों में देखी जाती है, किन्तु मैं यह कहूँगा कि साहित्यदर्पण की सम्मति बहुत मान्य है, साथ ही अधिकतर निर्दोष और पूर्ण है।

रस-परिपाक के लिये आवश्यक है कि दो विरोधी रसों का वर्णन साथ-साथ न किया जावे, क्योंकि इसका परिणाम यह होता

है कि या तो वे परस्पर एक दूसरे के रस-विकास के बाधक होते हैं, जिससे रस-आस्वादन का आनन्द कलुषित हो जाता है। अथवा यदि दोनों सबल हुए, तो संघर्ष उपस्थित होने-पर दोनों का नाश हो जाता है, जिससे वह उद्देश्य विनष्ट होता है, जिसके लिये उनकी सृष्टि हुई।

रस-विरोध का परिहार

जब दो विरोधी रस एकत्र आ जावें, तो उस समय विरोध-परिहार का उद्योग करना चाहिये, ऐसा हो जाने पर रस-व्याघात की आशंका दूर हो जाती है। विरोध-परिहार कैसे किया जावे, इस विषय में काव्यप्रकाश की यह सम्मति है—

आश्रयैक्ये विरुद्धो यः सकार्यो भिन्नसंश्रयः।
रसान्तरेणान्तरितः नैरन्तर्येण यो रसः।
स्मर्यमाणो विरुद्धोपि साम्येनाथ विवक्षितः।
अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टम्परस्परम्।

इन पंक्तियों का अर्थ यह हुआ—
विरोध का परिहार हो जाता है—

(१) जब दो विरोधी रसों का आधार एक हो तो उनका आधार भिन्न-भिन्न कर देने से।
(२) दो विरोधी रसों के मध्य में एक ऐसे रस को स्थापित कर देने से जो दोनों का अविरोधी हो।
(३) जब विरोधी रस का आधार स्मरण हो।
(४) जब दो विरोधी रसों में साम्य स्थापित कर दिया जावे।
(५) जब दो विरोधी रस किसी अन्य रस के अंगांगी भाव से अंग बन गये हों।

अब उदाहरण देता हूँ—निम्नलिखित दोहे को देखिये—

बान तानि के कान लौं खैंचे कठिन कमान।
झझरि झझरि सारे सुभट भागे भीरु समान॥

वीर और भयानक एक दूसरे के विरोधी हैं, इसलिये किसी पद्य में एक साथ नहीं आ सकते, परन्तु इस पद्य में दोनों साथ आये हैं, फिर भी रसप्रवाह में बाधा नहीं पड़ी, कारण यह है कि पहले चरण का आलम्बन (आधार) वीर और दूसरे चरण का आलम्बन (आधार) भयातुर सुभट हैं। यद्यपि कि दोनों रसों का आधार एक ही पद्य है, किन्तु दोनों के दो आलम्बन हो जाने के कारण वह बाधा दूर हो गई, जो एक ही आलम्बन होने से उपस्थित होती, इसलिये रस का आस्वादन अबाध रहा। पद्य पढ़कर स्वयं आपको इसका अनुभव होगा। रस-परिहार के पहले नियम में यही बात कही गई है। अब दूसरे नियम का उदाहरण लीजिये—

का भो जो उर में भर्‌यो भव विराग बर वित्त।
भुवन-विमोहक माधुरी हरति न काको चित्त॥

बड़े-बड़े विरागियों के चित्त को भी अलौकिक लावण्य विचलित कर देता है, यह बात अविदित नहीं, इस दोहे में इसी बात का वर्णन है। पहली पंक्ति में विराग का निरूपण है, दूसरी पंक्ति के अन्त में माधुरी द्वारा चित्त का हरण होना, शृंगार-गर्भित है, दोनों परस्पर विरोधी हैं, किन्तु मध्य के 'भुवन-विमोहक' वाक्य ने (जो अद्‌भुत रस की अवतारणा करता है) दोनों के विरोध का परिहार कर दिया है। भवविरागमूलक शान्त रस के उपासक के चित्त को कोई माधुरी कदापि आकर्षित नहीं कर सकती, क्योंकि विराग और आसक्ति परस्पर विरोधी हैं। परन्तु जो अद्‌भुत माधुरी भुवन-विमोहक है, उसका उसके चित्त को हरण कर लेना स्वाभाविक है। इसीलिये उसके द्वारा शान्त और शृंगार के विरोध का परिहार

हुआ। दूसरे नियम का यही वक्तव्य था। अब तीसरे नियम का उदाहरण लीजिये—

सोहै, रुधिर भरो परो महि में सहि-सहि वार।
कबौं कान्तकर जो हुतौ कलित कंठ को हार॥

किसी वीर-रसिकशिरोमणि की भुजा को रुधिर भरी पृथ्वी पर पड़ी देखकर एक सहृदय का यह कथन है। उसकी भुजा को इस बुरी दशा में पाकर वह समय याद आ गया, जब वह सुन्दरी ललनाओं के कमनीय कंठों में पड़ा रहकर किसी अपूर्व गजरे की शोभा धारण करता होगा, अतएव उसका शोक बढ़ गया और उसके हृदय का भाव दोहे के रूप में परिणत हुआ। यहाँ स्पष्ट शृंगार, करुण रस का सहायक है, बाधक नहीं, इसीलिये यह स्वीकार किया गया है कि स्मरण किये गये विरोधी रस से विरोध का परिहार हो जाता है। चौथे नियम का उदाहरण यह है—

काल विमुखता का कहौं मुख न कहत बर बैन।
रस बरसन पावत नहीं रस बरसनपटु नैन॥

यह एक प्रेमिक की उक्ति है, वह अपनी स्वर्गगता प्रेमिका के शरीर को सामने पड़ा देखकर भग्नहृदय है और प्रेम का उद्रेक होने से, अपने हृदय की वेदना को व्यथामय शब्दों में वर्णन कर रहा है। यहाँ प्रत्यक्ष नायक का प्रेम (जो शृंगार रस का स्थायी है) शोक का अंग बन गया है क्योंकि वह उसकी वृद्धि कर रहा है। अतएव विरोधी होने पर भी वह रस का बाधक नहीं, वरन वर्द्धक है, इसलिये चौथे नियम का संगत होना स्पष्ट है। पाँचवें नियम का उदाहरण—

कहा भयो जीते समर लहे कुसुम सम गात।
बात कहत ही मनुज जो काल गाल में जात॥

इस पद्य के प्रथम चरण में वीर रस और द्वितीय चरण में शृंगार रस विराजमान है। तीसरा-चौथा चरण शान्त रस-गर्भित

हैं। वीर और शृंगार परस्पर विरोधी हैं, किन्तु वे दोनों शान्त रस के अंग बन गये हैं। इसीलिये उनके पारस्परिक विरोध का परिहार हो गया है। शान्त रस की प्रधानता ही पद्य में दृष्टिगोचर हो रही है, शेष दोनों रसों ने अंगांगीभाव से उसमें अपने को विलीन कर दिया है, क्योंकि वे उसकी पुष्टि कर रहे हैं। इसलिये पंचम नियम की विरोध-परिहार शक्ति-स्पष्ट है।

रसगंगाधरकार कहते हैं—

"यत्र साधारणविशेषणमहिम्ना विरुद्धयोरभिव्यक्तिस्तत्रापि विरोधीति वर्त्तते"

'जहाँ एक से विशेषणों के प्रभाव से दो विरुद्ध रस अभिव्यक्त हो जाते हैं, वहाँ भी उनका विरोध-निवृत्त हो जाता है'—यथा

आहव मैं आरक्त ह्वै बहि यौवन मदभार।
कर आलिंगन अवनि को सोये सुभट अपार॥

उनकी यह सम्मति भी है—

"किंचप्रकृतरसपरिपुष्टिमिच्छता विरोधिनोपि रसस्य वाध्यत्वेन निबन्धनं काव्यमेव, तथा हि सति वैरिविजयकृता वर्ण्यस्य कापि शोभा संपद्यते। वाध्यत्वं च रसस्य प्रबलैर्विरोधिनो रसस्वाङ्गैर्विद्यमानेष्वपि स्वाङ्गेषु निष्पत्तेः प्रतिबन्धः"

"प्रकरण प्राप्त रस को अच्छी तरह पुष्ट करने के लिये विरोधी रस का बाधित करना उचित है, अतः उसका वर्णन अवश्य करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से, जिस रस का वर्णन किया जा रहा है, उसकी शोभा वैरी का विजय कर लेने के कारण अनिर्वचनीय हो जाती है। रस के बाधित किये जाने का अर्थ यह है कि विरोधी रस के अंगों के प्रबल होने के कारण, अपने अंगों के विद्यमान होने पर भी रस की अभिव्यक्ति का रुक जाना। अर्थात् किसी रस के अभिव्यक्त होने की सामग्री के होने पर भी, दूसरे रस की सामग्री

के प्रबल होने के कारण, उसके अभिव्यक्त न होने का नाम है, रस का बाध्य होना।"

—हिन्दीरसगंगाधर (पृ० १३७)

रस-दोष

रस-दोष का वर्णन काव्यप्रकाशकार और साहित्यदर्पण के रचयिता ने कविता-गत दोनों के साथ किया है, किन्तु रसगंगाधरकार ने उसको रस के ही निरूपण में लिखा है। मैं भी इस विचार से इसका वर्णन यहाँ करता हूँ कि जिससे रस सम्बन्धी सब बातें इस प्रकरण में आ जावें। साहित्यदर्पणकार ने निम्नलिखित रस-दोष बतलाये हैं। यही सम्मति काव्यप्रकाशकार की भी है—

रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसंचारिणोरपि।
परिपंथिरसांगस्य विभावादेः परिग्रहः।
आक्षेपः कल्पितः कृच्छ्रादनुभावविभावयोः।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ तथा दीप्तिः पुनः पुनः।
अंगिनो ननु संधानमनङ्गस्य च कीर्तनम्।
अतिविस्तृति रङ्गस्य प्रकृतीनां विपर्ययः।
अर्थानौचित्यमन्यच्च दोषा रसगताः मताः॥

ये सब रस के दोष हैं—

(१) किसी रस का उसके वाचक पद से अर्थात् सामान्यवाचक रस शब्द से या विशेषवाचक शृंगारादि शब्दों से कथन करना।

(२) स्थायिभाव और संचारिभावों का उनके वाचक पदों से अभिज्ञान करना।

(३) विरोधी रस के अङ्गभूत विभाव अनुभावादिकों का वर्णन करना।

(४) विभाव और अनुभाव का कठिनता से आक्षेप हो सकना।

(५) रस का अस्थान (अनुचित स्थान) में विस्तार या विच्छेद करना—बारबार उसे उद्दीप्त करना।

(६) प्रधान को भुला देना अर्थात् अंगी का अनुसंधान न करना।

(७) जो अंग नहीं है उसका वर्णन करना।

(८) अंगभूत रस को अति विस्तृत करना।

(९) प्रकृतियों का विपर्यास करना अर्थात् उन्हें उलट-पलट देना।

(१०) अर्थ अथवा अन्य किसी के औचित्य को भंग कर देना।

अब उदाहरण देकर प्रस्तुत विषय को स्पष्ट करता हूँ।

१—सामान्यरस शब्द और विशेषशृंगार शब्द का शब्द-वाच्यत्व।

काके उर उपजत न रस मृगनयनी को चाहि।
विधुमुखछवि शृंगार मैं मग्न करत नहिं काहि॥

इस पद्य के प्रथम भाग में रस शब्द और द्वितीय भाग में शृंगार शब्द आया है, पहला शब्द रस स्वयं अपना वाचक है, अतएव वह सामान्य है, दूसरा शृंगार शब्द रस का विशेष वाचक है अतएव पद्य में दोनों दोष उपस्थित हैं, इसलिये यह रचना सदोष है! प्रयोजन यह कि कविता में व्यंजना ही प्रधान होती है, जहाँ इस शक्ति से काम न लेकर अभिधा द्वारा काम निकाला जाता है, वहाँ कविता अपना महत्व खो देती है और उस पद से गिर जाती है, जो उसको महत्व प्रदान करता है, अतएव उसका सदोष होना स्पष्ट है। इस पद्य में अभिधा द्वारा काम लिया गया है, रस और शृंगार का नाम लेकर उसकी व्यंजना बिगाड़ दी गई है। उसको इतना खोल दिया गया है कि उसमें व्यंजना का अवसर ही नहीं रहा। यदि 'काके उर उपजत न रस' के स्थान पर 'काको उर सरसत नहीं' अथवा 'काको उर उमगत नहीं' होता, और शृंगार के स्थान पर 'आनन्द' रक्खा जाता, तो दोष दूर हो जाता। कविता

की व्यंजना द्वारा ही रस का ज्ञान होना चाहिये, यदि रस ने प्रकट होकर स्वयं अपना नाम बतलाया तो उसमें कवि-कर्म कहाँ रहा?

२—स्थायि भाव का स्वशब्दवाच्यत्व—

भई संचरित रति हिये छवि लखि बनी निहाल।

संचारी भाव का स्वशब्द वाच्यत्व—

लज्जावश नव बाल के भे कपोल युग लाल।

पहले चरण में रति शब्द का और दूसरे चरण में लज्जा का प्रयोग होने से पहले में स्थायिभाव और दूसरे में संचारी भाव अपने शब्दों में ही प्रकट किया गया, इसलिये दोनों में रस-दोष आ गया। इनमें भी वही बात है, जो ऊपर कही गई है, अर्थात् जिस बात को व्यञ्जना द्वारा प्रकट होना चाहिये था, उसे अभिधा द्वारा सूचित किया गया है। रसगंगाधरकार लिखते हैं—

"इत्थमविरोधसंपादनेनापि निवध्यमानो रसो रसशब्देन शृंगारादि शब्दैर्वा नाभिधातुमुचितोऽनास्वाद्यतापत्तेः। तदास्वादश्च व्यञ्जन मात्र निष्पाद्य इत्युक्तत्वात्। यत्र विभावादिरभिव्यक्तस्य रसस्य स्वशब्देनाभिधानम् तत्र को दोष इति चेत्, व्यङ्ग्यस्य वाच्याकरणे सामान्यतोवमनाख्य दोषस्य वक्ष्यमाणत्वात्। आस्वाद्यतावच्छेदकरूपेण प्रत्ययाजनकतया रसस्थले वाच्यवृत्तेः कापेय कलत्वेनविशेषदोषत्वाच्च। एवं स्थायि व्यभिचारिणामपि शब्दवाच्यत्वं दोषः।"

"जिस रस का वर्णन किया जावे उसके रस शब्द अथवा शृंगारादि शब्दों से बोल देना अनुचित है, क्योंकि ऐसा करने से रस आस्वाद करने योग्य नहीं रहता, प्रकट हो जाने के कारण उसका मजा जाता रहता है, इसलिये पहले कह चुके हैं, कि रसका आस्वादन केवल व्यंजना वृत्ति से ही सिद्ध होता है। आप पूछ सकते हैं कि जहाँ विभावादिकों से अभिव्यक्त हुए रस को उसका नाम लेकर वर्णन कर दिया जावे, वहाँ कौन दोष होता है, तो उत्तर यह है कि

व्यंग्य को वाच्य बना देने से सभी व्यंग्यों में 'वमन' नामक दोष होता है। पहले तो हुई सामान्य दोष की बात। पर रसों का जिस रूप में आस्वादन किया जाता है, वह प्रतीति वाच्यवृत्ति (अभिधा) के द्वारा अर्थात् उन रसों का नाम लेने से उत्पन्न नहीं हो सकती। अतः जहाँ रसों का वर्णन हो, उस स्थल पर ऐसा करना बन्दर की सी चेष्टा है, जो अपने घाव को ठीक करने के लिये खोदकर और बिगाड़ डालता है। इसी तरह स्थायी भावों और व्यभिचारी भावों को भी अभिधा शक्ति के द्वारा वर्णन करना अर्थात् उनके नाम ले लेकर लिखना दोष है।"

—हिन्दी रसगंगाधर (पृ० १३६)

३—विरोधी रसों के अङ्ग-भूत विभाव अनुभावादिकों का वर्णन करना तीसरा दोष है—यथा—

'मान करत कत कामिनी है यौवन दिन चार'।

यौवन का क्षणिक वर्णन शान्त रस का अंग है, वह उसका उद्दीपन विभाव है, जो शृंगाररस का विरोधी है, अतएव शृंगार रस में इस प्रकार का कथन सदोष है।

४—विभाव और अनुभाव का कठिनता से आक्षेप हो सकना। प्रयोजन यह कि जो वर्णन ऐसा हो कि जिसमें विभाव-अनुभाव का निर्देश कठिनता से हो सके, जिसके विभाव-अनुभाव का निश्चय होना दुस्तर हो तो वह वर्णन भी दोषयुक्त माना जावेगा—

हँसत कलानिधि को निरखि मंद मंद मुसुकाति।
अवलोकहु नवलावधू नयन नचावत जाति॥

इस पद्य में कलानिधि का उद्दीपन विभाव और नवल वधू का आलम्बन विभाव होना स्पष्ट है, किन्तु अनुभाव का आक्षेप उसमें सुगमता से नहीं किया जा सकता और यही इस पद्य का रस-दोष है। हृदय में रस का विकास उसी समय यथार्थ रीति से होता है,

जब उसकी अनुभूति में बाधा न पड़ती हो। जिस पद्य के विभाव, अनुभाव, आदि अबाध रीति से हृदयंगम होते हैं, वह पद्य जिस प्रकार सहज बोधगम्य और हृदयग्राही होता है, वैसा वह पद्य नहीं, जिसमें उनके बोध में कोई बाधा आ खड़ी हो। इसीलिये इस प्रकार के व्यापार को सदोष माना गया है। नवला का मंदमंद मुस्काना और उसका 'नयन नचाते जाना' अवश्य अनुभाव हैं, किन्तु नायक के विषय में स्पष्ट निर्देश न होने से यह विदित नहीं होता कि ये दोनों रति सम्बन्धी कार्य हैं, अथवा साधारण विलास-मात्र। दूसरी बात यह कि 'अवलोकहु' के विषय में यह स्पष्ट नहीं ज्ञात होगा कि यह शब्द कौन किससे कहता है, इससे भी अनुभाव के स्पष्ट करने में जटिलता उपस्थित हो जाती है। यदि यह किसी सखी, सखा, अथवा अन्य जन को उक्ति है, तो उनका उद्देश्य विलास अवलोकन कराना मात्र है, अथवा रति उत्पादन। कष्ट-कल्पना द्वारा ही कोई बात निश्चित होगी, इसीलिये इस प्रकार की रचना को सदोष कहा गया है।

चिन्ता की चेरी बनी बारिविमोचत नैन।
कहा करौं विचलित बने चूर भयो चित चैन॥

जिस दशा का वर्णन इस पद्य में है, शृंगार रस में विरहिणी की भी ऐसी दशा हो सकती है और शोकग्रस्त होने पर किसी संतप्ता रमणी की भी यह करुणामयी दशा देखी जा सकती है, ऐसी अवस्था में यह निश्चित करना कठिन है कि यह किसी विरहिणी की उक्ति है, अथवा किसी शोकमयी साधारण रमणी की। अतएव इस पद्य का विभाव निर्णय सहज नहीं। यह असहजता ही रस-दोष है।

नीचे के पाँच दोष प्रकरण सम्बन्धी हैं, समस्त संस्कृत के लक्षण-ग्रंथों में उनका उल्लेख प्रकरण-द्वारा ही किया गया है। समस्त प्रकरण नाटकों से लिये गये हैं, अथवा काव्य-ग्रंथों से। इधर हिन्दी

भाषा में जो दो-चार ग्रंथ इस विषय के लिखे गये हैं, उनमें भी प्रकरणों के उदाहरण संस्कृत के तत् सम्बन्धी ग्रंथों से ही लिये गये हैं। मैं भी उन ग्रंथों के ही उदाहरण आपलोगों के सामने उपस्थित करूँगा। यह अवश्य है कि मैंने उन्हीं नाटक अथवा काव्य ग्रंथों को लिया है, जिनका अनुवाद हिन्दी भाषा में हो चुका है। आशा है, इससे विषय के समझने में असुविधा न होगी!

५—रस का अस्थान में विस्तार या विच्छेद करना, बार-बार उसे उद्दीप्त करना—अकाण्ड में अथवा अनवसर रस का विस्तार करना—जैसा वेणीसंहार नाटक के दूसरे अंक में किया गया है। जिस समय युद्ध छिड़ा हुआ था और अनेक कौरव वीरगति को प्राप्त हो रहे थे, उस समय दुर्योधन का भानुमती के साथ शृंगार रस-सम्बन्धी विस्तृत वार्तालाप कराया गया है।

स्थान में विच्छेद—इसका उदाहरण महावीरचरित में मिलता है—

विवाद के अवसर पर जिस समय परशुराम और रामचन्द्र आवेश-पूर्ण थे, और बाद उग्र रूप धारण किये हुए था, उस समय कङ्कणमोचन के लिये रामचन्द्र को बुलवाकर विवाद का अन्त कराया गया—यही स्थान अथवा अकाण्ड-विच्छेद है।

रस का बार-बार उद्दीप्त करना। जैसा कुमारसंभव में रति-विलाप के समय कराया गया है। इस विलाप में करुण रस को बार-बार उद्दीप्त करने की चेष्टा की गई है—चतुर्थ सर्ग के २६ वें श्लोक तक रति का विलाप चलता है। इसके उपरान्त उसके आश्वासन के लिये वसन्त आता है। उसे देख रति का शोक और बढ़ता है। दो श्लोक में यह दिखलाकर कवि फिर रति के विलाप को प्रारम्भ करता है जो ३८ वें श्लोक तक चलता है। एक बार विलाप को समाप्त करके उसको फिर उद्दीप्त किया गया है, अतएव इसको दोष माना है। मेरा विचार है कि इससे रस का परिपाक हुआ है, उसमें दोष नहीं

आया। किन्तु यह एक उदाहरण है। प्रयोजन यह कि जब रस बार-बार इतना उद्दीप्त किया जावे कि जो उद्व ेगजनक हो, तब वह अवश्य दूषित हो जावेगा।

६—अंगी का अनुसंधान न करना—रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अंक में यह वर्णन है कि सिंहलेश्वर का कञ्चुकी वाभ्रव्य जब आता है—तो सागरिका को ही भूल जाता है, यद्यपि कि नाटिका की प्रधाननायिका वही है, उसका यह अननुसंधान काव्य-दृष्टि से दोषयुक्त है, क्योंकि इससे कर्तव्यपरायणता में च्युति दृष्टिगत होती है।

७—अनंग का वर्णन—प्रयोजन इसका यह है कि जो अंग नहीं है, उसका अयथा वर्णन कर्पूरमंजरी में प्रधान नायिका के बसन्त वर्णन का उचित समादर न करके सट्टक के प्रधान पात्र ने बन्दियों की वर्णना की प्रशंसा की। बन्दी सट्टक के अंग नहीं थे, उनकी तो बड़ाई की गई, और प्रधान अंग का अनादर। अतएव यह अनंग वर्णन हुआ, काव्य में यह दोष माना गया है, इसलिये कि इससे वर्णनीय प्रति वर्णन के एक प्रधान अधिकारी की उपेक्षा प्रकट होती है।

८—अंगभूत रस की विशेष विस्तृति—अभिप्राय यह है कि नाटक में जो रस प्रधान है, उसके अतिरिक्त उसके अंगभूत किसी दूसरे रस का विस्तृत वर्णन। किरातार्जुनीय काव्य में वीर रस प्रधान है। शृंगार रस इस काव्य में वीर रस का एक अंगमात्र है। परन्तु कवि ने इस काव्य के आठवें सर्ग में अप्सराओं के विलास का विशद वर्णन किया है, अर्थात् अंगभूत शृंगार रस के वर्णन को विस्तृति दी। ऐसा करना इसलिये सदोष है कि अप्रधान प्रधान पद पा जाता है।

९—प्रकृतियों का विपर्यास करना—मतलब यह है कि जो जिसकी प्रकृति है, उसके विरुद्ध उसको अंकित करना अथवा उसके कार्य-कलाप दिखलाना। साहित्यदर्पणकार लिखते हैं—

"प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्चेति । तेषां धीरोदात्तादिता, तेषामप्युत्तमाधममध्यमत्वम् । तेषु च यो यथा भूतस्तस्या यथा वर्णने प्रकृतिविपर्ययो दोषः । यथा धीरोदात्तस्य रामस्य धीरोद्धतवच्छद्मना वालिवधः । यथा वा कुमारसम्भवे उत्तम देवतयोः पार्वतीपरमेश्वरयोः संभोगशृंगारवर्णनम् । इदं पित्रोः संभोग वर्णनमिवात्यन्तमनुचितम् इत्याहुः ।"

"प्रकृतियाँ तीन प्रकार की होती हैं, दिव्य, अदिव्य, दिव्यादिव्य । इनके धीरोदात्त आदि (धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित, और धीर प्रशान्त) भेद भी पहले कहे हैं। उनमें भी उत्तमत्व, मध्यमत्व और अधमत्व होता है। इनमें से जो जैसी प्रकृति का है उसके स्वरूप के अनुरूप उसका वर्णन न होने से प्रकृति विपर्यय होता है। जैसे धीरोदात्त नायक श्रीरामचन्द्रजी का धीरोद्धत की भाँति कपट से बाली का वध करना और कुमारसंभव में उत्तम देवता श्रीपार्वती और महादेव का संभोग शृंगार वर्णन करना। इसके विषय में प्राचीन आचार्य मम्मट कहते हैं कि माता-पिता के संभोग वर्णन के समान यह वर्णन अत्यन्त अनुचित है।"

हिन्दी साहित्यदर्पण

दिव्य देवताओं की, अदिव्य मनुष्य की और दिव्यादिव्य प्रकृति अवतारों और संसार के महापुरुषों को मानी जाती है। इसलिये इनलोगों का वर्णन जिस समय किया जावे, उस समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जो जिस प्रकृति का हो उसका वर्णन वैसा ही हो, अन्यथा उस वर्णन में प्रकृति विपर्यय दोष आ जावेगा। असम्भव कार्यों को कर दिखलाना, स्वर्ग पाताल को छान डालना, समुद्र का उल्लंघन करना, विना किसी यन्त्र के आधार के शारीरिक शक्तियों द्वारा पक्षियों के समान आकाश में उड़ना दिव्य शक्तिवालों अथवा विशेष अवस्थाओं में दिव्यादिव्य शक्तिवानों का कार्य्य है,

यदि अदिव्य शक्तिवालों से इस प्रकार के कर्म कराये जावें, तो वही प्रकृति विपर्यय कहलावेगा, और यह दोष है। इसी प्रकार यदि मानवों अर्थात् अदिव्य प्रकृतियों की दुर्बलताएँ, उनकी लम्पटताएँ, उनका दुर्व्यसन, उनका भ्रम, मोह, प्रमाद दिव्य अथवा दिव्यादिव्य प्रकृतियों में दिखलाये जावें, तो यह भी प्रकृति विपर्यास होगा। अतएव इस प्रकार की वर्णनायें सदा गर्हित गिनी गई हैं और इसलिये उनका सदोष माना गया है। तब रसों से जहाँ तक उदात्त भावों का सम्पर्क है, वहाँ तक उसका सम्बन्ध दिव्य, अदिव्य, दिव्यादिव्य, सभी प्रकार की प्रकृतियों से है, इसलिये उसकी परिधि के अन्तर्गत उनका सब प्रकार का वर्णन समुचित समझा जावेगा। किन्तु रसों के जो उद्वेगजनक अथवा विरक्तिकर प्रसंग हैं, जिनसे देश, समाज, अथवा व्यक्तिविशेष का अहित होने की सम्भावना हो, जो आत्मशुद्धि अथवा आन्तरिक विकाश के विरोधी किंवा उत्पादक हों—जैसे शृंगार रस के अश्लील अथवा अमर्य्यादित विषय, उनसे जब अदिव्य प्रकृति ही कलुषित होती है, तो दिव्य अथवा दिव्यादिव्य प्रकृति कैसे लाञ्छित न होगी। क्रोधांधता, कामुकता, किंकर्तव्यविमूढ़ता आदि अदिव्य प्रकृति को भी उपहास्य और निन्दित बनाती हैं। फिर ये दिव्य और दिव्यादिव्य प्रकृतियों को कलंकित और जघन्य क्यों न बनायेंगी। जिस आत्मबल की न्यूनता से अदिव्य प्रकृति भी अपनी महत्ता खो देती है, उसके ह्रास से दिव्य और दिव्यादिव्य प्रकृतियों का कितना पतन होगा, वे कितने अश्रद्धाभाजन बनेंगे, इसको सभी सहृदय स्वयं समझ सकते हैं। इसीलिये यदि उनके चरित्र में ऐसे वर्णन होंगे, जिनमें उक्त अवगुण और दुर्भाव पाये जावेंगे, तो उनमें भी प्रकृति-विपर्यय दोष माना जावेगा। इसी प्रकार और बातों को भी समझना चाहिये॥

१०—अर्थ अथवा अन्य किसी के औचित्य को भंग कर देना—अर्थ के अनौचित्य के विषय में साहित्यदर्पणकार लिखते हैं—

"एभ्यः पृथगलंकार दोषाणाम् नैव संभवः"

"एभ्यः उक्त दोषेभ्यः। तथाहि उपमायामसादृश्या संभवयो-रुपमानस्य जातिप्रमाणागत न्यूनत्वाधिकत्वयोरर्थान्तरन्यासे उत्प्रेक्षितार्थ-समर्थने चानुचितार्थत्वम्"

"इन दोषों से पृथक् अलंकार दोष नहीं हो सकते, वे इन दोषों के अन्तर्गत हैं।"

१—उपमा में असादृश्य अर्थात् साधारण धर्म की अप्रसिद्धि और असंभव अर्थात् उपमान की अप्रसिद्धि हो—

२—उपमान में जाति या प्रमाण न्यूनता या अधिकता विद्यमान हो—

३—'अर्थान्तरन्यास' अलंकार में यदि उत्प्रेक्षित अर्थ का समर्थन किया गया तो—तो वहाँ 'अनुचितार्थ दोष' होगा। यथा—

"विरचत काव्य कलाकरहिं कला संकलन हेतु।"
"ज्वलित बारि धारा सरिस बरसत बिसिख समूह॥"

इन दोनों पद्यों में प्रथम में काव्य का उपमान कलाकर (चन्द्रमा) को और दूसरे में बिशिख समूह का उपमान ज्वलित बारि-धारा को बनाया है, दोनों में अप्रसिद्ध दोष है, काव्य का उपमान चन्द्रमा लोक में प्रसिद्ध नहीं है, इसी प्रकार बारि-धारा जलती नहीं होती, यह बात भी प्रसिद्धि के प्रतिकूल है—अतएव दोनों में अप्रसिद्धि दोष है, इसलिये उनमें अनुचितार्थत्व है। क्योंकि उनमें प्रयोग का औचित्य नहीं है।

'साहसीक है समर में नृप चंडाल समान'

इस पद्य में राजा का उपमान चाण्डाल है—जो अनुचित है—उसमें जातिगत न्यूनता है—

'हैं कपूर के खंडसम चन्द्रबिम्ब छबि देत'

'क्योंकि कहाँ कपूर खण्ड और कहाँ चन्द्रबिंब—इस पद्य में प्रमाणगत न्यूनता है।'

'विलसित है हर के सरिस नीलकंठ यह मोर'

इस पद्य के उपमान में जातिगत आधिक्य है, क्योंकि कहाँ तिर्यग्योनि मयूर और कहाँ महामहिम महेश्वर; इसलिये अनौचित्य की पराकाष्ठा है—

'हैं तिय तेरे कुच युगल काहू अद्रि समान'।
ललना तेरो भाल है चमकत चन्द्र समान॥

इस पद्य के उपमान में प्रमाणाधिक्य है, अतएव अनौचित्य है, क्योंकि कुच और पहाड़ भाल और चन्द्र की समता कैसी?

दिवा भीत तम को रखत गिरि निज गुहा मझार।
सरनागत लघु जनहुँ को बड़े करत उपकार॥

जिसकी उपमा दी जाती है, अथवा उदाहरण देकर जिसे पुष्ट किया जाता है, वह कुछ असत्य-सा प्रतीत होता है। यदि ऐसा न होता तो उसके समर्थन की आवश्यकता न होती। तम जड़ पदार्थ है, वह भीत हो नहीं सकता, फिर सूर्य्य से डरकर उसकी गुहा में छिपना कैसा! यदि यह सत्य नहीं है, तो असत्य का समर्थन और प्रतिपादन करना उचित नहीं। यदि ऐसा किया जावे तो वह अनौचित्य है, इस पद्य में यही किया गया है, अतएव उसमें अनुचितार्थ दोष मौजूद है।

अर्थ के अतिरिक्त अन्य अनौचित्यों के विषय में साहित्यदर्पणकार यह लिखते हैं—

"अन्यदनौचित्यं देशकालादीनामन्यथा यद्वर्णनम्"

"इसके अतिरिक्त देशकाल आदि के विरुद्ध वर्णन को भी अनौचित्य के अन्तर्गत जानना चाहिये।" —हिन्दी साहित्यदर्पण

एक दूसरे स्थान पर वे यह लिखते हैं—

"अनौचित्यप्रवृत्तत्व आभासो रसभावयोः"

"अनौचित्यं चात्र रसानां भरतादिप्रणीत लक्षणानां सामग्री रहितत्वे प्रत्येकदेशयोगित्वोपलक्षणपरं बोध्यम् ।"

"रस और भाव यदि अनौचित्य से प्रवृत्त हुए हों तो उन्हें यथाक्रम रसाभास और भावाभास कहते हैं ।"

"अनौचित्य पद को यहाँ एक देशयोगित्व का उपलक्षण जानना चाहिये, अर्थात् यह पद यहाँ लक्षणा से 'एक सम्बन्ध' का बोधक है। जहाँ भरत आदि से प्रणीत, रसभावादि के लक्षण पूर्ण रूप से संगत न हों, किन्तु विभावादि सामग्री की न्यूनता के कारण कुछ एक अंश से ही सम्बन्ध रखते हों, वहाँ रसभाव का अनौचित्य जानना चाहिये ।"

रसगंगाधरकार 'अनौचित्य' के विषय में यह लिखते हैं—

"अनौचित्यंतु रसभंगस्य हेतुत्वात् परिहरणीयम् । भङ्गस्य पानकादि रसादौ सिकतादिनिपातजनितावेरुंतुदता । तच्चजातिदेशकालवर्णाश्रमवयोवस्था प्रकृति व्यवहारादेः प्रपञ्चजातस्य तस्य तस्ययल्लोकशास्त्रसिद्धमुचित द्रव्यगुणक्रियादितद्भेदः । जात्यादेरनुचितं यथा—गवादेस्तेजोबलकार्याणि पराक्रमादीनि । सिंहादेश्च साधुभावादीनि । स्वर्गे जराव्याधादि । भू लोके सुधासेवनादि । शिशिरे जलविहारादि । ग्रीष्मे वह्निसेवा । ब्राह्मणस्य मृगया । बाहुजस्य प्रतिग्रहः । शूद्रस्य निगमाध्ययनम् । ब्रह्मचारिणोयतेश्च ताम्बूलचर्वणम् । बालवृद्धयोः स्त्रीसेवनम् । यूनश्च विरागः । दरिद्राणामाढ्याचरणम् । आढ्यानां च दरिद्राचारः ।"

"जो बातें अनुचित हैं, उनका वर्णन रस के भंग का कारण है, अतः उसे तो सर्वथा न आने देना चाहिये । भंग किसे कहते हैं, उसको भी समझ लीजिये । जिस तरह शर्बत आदि किसी वस्तु में कोई कड़ी वस्तु गिर जाने के कारण वह खटकने लगती है, इसी प्रकार रस के अनुभव में खटकने को रसभंग कहते हैं । अनुचित होने का अर्थ यह है कि जिन-जिन जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रम,

अवस्था, स्थिति, और व्यवहार आदि सांसारिक पदार्थों के विषय में जो-जो लोक और शास्त्र से सिद्ध एवं उचित द्रव्य, गुण अथवा क्रिया आदि हैं, उनसे भिन्न होना। जाति आदि के सम्बन्ध में जो अनुचित बातें हैं, अब उनके कुछ उदाहरण सुनिये। जाति के विरुद्ध, जैसे बैल और गाय आदि के तेज और बल के कार्य, और सिंह आदि का सोधापन आदि। देश के विरुद्ध—जैसे स्वर्ग में बुढ़ापा, रोग आदि और पृथ्वी में अमृतपान आदि। काल के विरुद्ध ठंढ के दिनों में जल-विहार आदि, और गरमी के दिनों में अग्नि-सेवन आदि। वर्ण के विरुद्ध—जैसे ब्राह्मण का शिकार खेलना, क्षत्रिय का दान लेना और शूद्र का वेद पढ़ना आदि। आश्रम के विरुद्ध—जैसे ब्रह्मचारी और संन्यासी का पान चबाना और स्त्री ग्रहण करना। अवस्था के विरुद्ध—जैसे बालक और बूढ़े का स्त्री-सेवन और युवा पुरुष को वैराग्य। स्थिति के विरुद्ध—जैसे दरिद्रों का भाग्यवानों जैसा आचरण और भाग्यवानों का दरिद्रों जैसा आचरण।”

विद्वद्वर आनन्दवर्द्धन लिखते हैं—

अनौचित्यादृते नाऽन्यद्रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

“रस के भंग का, अनौचित्य के अतिरिक्त, अन्य कोई कारण नहीं है। प्रसिद्ध औचित्य का वर्णन करना ही, रस की बड़ी सम्पत्ति है।” —हिन्दी रसगंगाधर पृ० १४३, १४५

रसाभास

ऊपर आप पढ़ आये हैं कि रस जब अनौचित्य से प्रवृत्त होता है, तो उसे रसाभास कहते हैं। रसभंग होने पर ही रसाभास होता है और अनौचित्य ही रसभंग का कारण है। अनौचित्य क्या है? यह भी बतलाया जा चुका है। किन्तु इससे यह सीमित नहीं हुआ,

उसकी संख्या आगे भी बढ़ सकती है। देश, काल, पात्र एवं सामाजिक आचार विचार और व्यवहार के अनुसार अनौचित्य अनेक रूपरूपाय है, फिर भी लक्ष्य की ओर दृष्टि आकर्षण के लिये, उसके कतिपय रूपों का वर्णन मिलता है। रसगंगाधरकार ने जिन अनौचित्यों का उल्लेख किया है, वे लिखे जा चुके हैं। साहित्यदर्पणकार क्या कहते हैं, उसे भी सुनिये—

उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नी गतायां च।
बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभवनिष्ठायाम्।
प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्यगादि गते।
श्रृंगारेऽनौचित्यं रौद्रेगुर्वादिगत कोपे।
शान्ते च हीननिष्ठेगुर्वाद्यालम्बने हास्ये।
ब्रह्मवधाद्युत्साहेऽधमपात्रगते तथा वीरे।
उत्तमपात्रगतत्वे भयानके ज्ञेयमेवमन्यत्र।

"नायक के अतिरिक्त किसी अन्यपुरुष में यदि नायिका का अनुराग हो तो वहाँ अनौचित्य जानना। एवं गुरुपत्नी आदि में अथवा अनेक पुरुषों में यद्वा दोनों में से किसी एक में ही (दोनों में नहीं) किंवा प्रतिनायक अर्थात् नायक के शत्रु में या नीच पात्र में यदि किसी की रति (अनुराग) वर्णित हो तो वहाँ शृंगार रस में अनौचित्य के कारण शृंगाराभास अथवा रसाभास जानना। इसी प्रकार यदि गुरु आदि पर क्रोध हो तो रौद्ररस में अनौचित्य होता है। एवं नीच पुरुषों में स्थित होनेपर शान्त में, गुरु आदि आलम्बन हो तो हास्य में, ब्राह्मण-वध आदि कुकर्मों में उत्साह होने पर अथवा नीच पात्रस्थ उत्साह होने पर वीर रस में और उत्तम पात्रगत होने पर भयानक रस में अनौचित्य होता है। इसी प्रकार और भी जानना चाहिये।"

कुछ उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं—

उपनायकनिष्ठ रति—अथवा परपुरुषानुराग—

लखहु लपटि तरु पुंज सों ललित लता लहराहिं।
पथिक जात हो कित चले इत बिरमत कत नाहिं॥

इस दोहे में किसी विलासिनी का अनुराग एक पथिक के प्रति प्रकट होता है, जो उसका अपरिचित है, अतएव उसका उपनायकनिष्ठ होना स्पष्ट है।

बहुनायकनिष्ठ रति—

किन नयनन में नहिं बसे को न इनहिं मन देत।
बड़े छबीले छयल ए काको नहिं छरि लेत॥

जिसके मुख से यह दोहा निकला है उसका मन अनेक सुन्दर युवकों के सौंदर्य्य-सरोज का मधुप है, इसलिये उसका बहुनायकनिष्ठ होना प्रकट है।

अनुभयनिष्ठरति—इसका भाव यह है कि जहाँ नायिका में प्रेमभाव उत्पन्न होकर केवल नायक ही में उसका विकास हुआ हो, अर्थात् ऐसी रति जो नायक नायिका दोनों में उत्पन्न नहीं हुई—यथा

'पिय तन छाँह बनन चहत तिय लखि छाँह डराति।

पति का प्रेम तो इतना वर्द्धित है कि वह प्रायः पत्नी के साथ ही रहना चाहता है, किन्तु पत्नी इतनी सलज्ज और संकोचवती है कि पति की छाया देखकर भी घबराती है। रस की पूर्णता दोनों के प्रेमसाम्य ही से होती है, इसलिये यहाँ भी रसाभास है—

प्रतिनायकनिष्ठरति—अर्थात् ऐसी रति जो नायक के शत्रु में हो—यथा

हो सुन्दर सुनयन रुचिर रुचि कामिनि चित चोर।
कत चितवति है चतुरतिय प्रियतम अरि की ओर॥

पति के शत्रु की ओर उसके सौंदर्य के कारण किसी स्त्री को

बारबार अवलोकन करते देखकर किसी बुद्धिमती सखी को यह बात असंगत जान पड़ी, अतएव वह उसको सावधान करती है। क्योंकि उसकी चितवन में उसके रूप के आकर्षण की झलक उसे दिखलाई पड़ी। यह प्रत्यक्ष रसाभास है, क्योंकि सहधर्मिणी की यह प्रवृत्ति अनौचित्य के अन्तर्गत है।

अधमपात्रगत रति—अर्थात् जो पात्र रति योग्य नहीं है, उससे प्रीतियुक्त होना—यथा—

काहे लालायित बनत कोऊ द्विजकुल जात।
मानि मानि यवनीन को नवनी कोमल गात॥

एक विप्रवंश जात का किसी युवती की नवनीतकोमलांगी कहकर प्रशंसा करना और उसके प्रेमपाश में वद्ध होना कितना अनुचित है, इसको प्रत्येक आर्यधर्मावलम्बी समझ सकता है। अधम पात्रगत रति का यह रोमांचकर उदाहरण है।

तिर्यग् योनिगत रति—तिर्यग् योनि कीट पतंगादि हैं, इनकी प्रीति का अथवा श्रृंगारलीला का वर्णन करना तिर्यग् योनिगत रति कहलाती है—यथा

जाति चमेली कुंज में निरखति ललित लतान।
अलिनी खोजति फिरति है, अलि को करि कलगान।

तिर्यग् योनिगत रति की वर्णना को इसलिये रसाभास माना है कि उसमें अधिकांश विकल्पना होती है, वास्तविकता कम। मानव-समाज की रति के समान उसमें पूर्णता भी नहीं होती।

रौद्र रसाभास—यथा

बात कहा बैरीन की को मोसम बलवान।
बिगरि गये बापहूँ पै हौं बगारि हौं बान॥

गुरुजन पर क्रोध करना उचित नहीं, पिता सर्वप्रधान गुरु है। इस दोहे में कहा गया है कि यदि मैं बिगड़ जाऊँगा, तो बाप को

भी बाण मार दूँगा, इससे बढ़कर क्या अनौचित्य होगा, अतएव इसमें प्रत्यक्ष रौद्र रसाभास है।

भयानक रसाभास—जहाँ किसी नरपुंगव अथवा वीर में भय दृष्टिगत होता है, वहाँ भयानक रसाभास होता है—यथा

सुने असुर की असुरता सुरपुर सकल सकात।
देखि दसवदन को वदन सुरपति मुख पियरात।

इस पद्य में वीर शिरोमणि इन्द्र के मुख का रावण के भय से पीत होना वर्णित है, इसलिये इसमें भयानक रसाभास है।

करुण रसाभास—जो करुणा अथवा दया का पात्र नहीं है, जब उसपर कृपा अथवा उसके विषय में करुणा की जाती है, तब करुण रसाभास होता है—यथा

चहत अपावन करन सो भवपावन रस सोत।
देख पतित की यातना जो दुख निपतित होत।

पाप कर्म्म में रत रहने के कारण जिसका पतन हो गया है, उसकी यातना अथवा ताड़ना होने से ही समाज का मंगल हो सकता है, अतएव वह इस योग्य होता है कि उसकी यातना हो और उसे दंड दिया जावे। ऐसों का शासन होते देखकर जो दुःखित होता है, वह दया का अनुचित प्रयोग करता है और उसकी करुणा उचित नहीं होती। इस पद्य में इसीका वर्णन है, अतएव इसमें करुण रसाभास है।

हास्य रसाभास—जब हास्य रस का आलम्बन वृद्धजन अथवा गुरुजन होते हैं, अर्थात् जब वृद्धजन अथवा गुरुजन की हँसी उड़ाई जाती है, तब हास्य रसाभास होता है—यथा

सेत केसमिस अवनि में पसरी कीरति सेत।
कौन दाँत के गिर गये दाँत सुमुखि पै देत॥

इस पद्य में एक वयोवृद्ध की हँसी उड़ाई गई है। प्रायः देखा

जाता है कि वृद्धावस्था में हवस बढ़ जाती है, किसी किसी का मन वृद्धावस्था में भी युवा बना रहता है, वे दाँत गिर जाने पर भी सुमुखियों पर दाँत देते रहते हैं। दाँत गिर जाने पर दाँत देना एक अद्भुत बात है, इसलिये पद्य में कहा गया है कि वृद्ध ने अद्भुत कर्मा बनकर श्वेत दाढ़ी के बहाने पृथ्वी पर अपनी श्वेत कीर्ति फैलाई है। यह घोर व्यंग्य है, जो वृद्ध के चरित्र पर कुत्सित कटाक्ष करता है। चित्र सच्चा है, किन्तु एक वृद्धजन का उससे सम्बन्ध होने के कारण उसे पढ़कर चित्त में क्षोभ होता है। वृद्धजन के साथ ऐसी हँसी उचित भी नहीं होती। अतएव यहाँ हास्य रसाभास है।

वीर रसाभास—जहाँ पर उत्साह औचित्य से गिर जाता है—वहाँ वीर रसाभास होता है—यथा

बीर बहकि बाहत नहीं कबहुँ बधिक सम बान।
बालक अबला वधनिरत वृथा बनत बलवान॥

किसी बालक और अबला वध में उत्साहित जन के प्रति किसी तेजस्वी महात्मा की यह उक्ति है। इसमें कहा गया है कि वीर उत्साह होने पर वधिक के समान निरीह प्राणियों पर बाण नहीं चलाता, क्योंकि यह अनौचित्य है। इसी प्रकार बालक एवं अबला पर हाथ उठाना भी कापुरुषता का परिचायक है, बलवान् द्वारा ऐसा अनुचित कार्य नहीं हो सकता। अतएव इस पद्य में स्पष्ट वीर रसाभास है।

वीभत्स रसाभास—किसी कारण से जहाँ वीभत्स में अनौचित्य दृष्टिगत होता है, वहाँ वीभत्स रसाभास होता है—यथा

रुधिर पियत तो कत कँपत सुनत नरक को नाम।
हाड़ चिचोरत रहत तो कहत जात कत राम॥

रुधिर पान करने के समय किसी रक्त पिपासित का नरक का नाम सुनकर कँप जाना उसकी दुर्बलता का सूचक है, अतएव अनौ-

चित्य है। इसी प्रकार हाड़ चिचोरते समय राम-राम कहते जाना भी समुचित नहीं, क्योंकि इससे एक ओर नाम की मर्यादा नष्ट होती है, और दूसरी ओर उसकी पाप-प्रवृत्ति की चरितार्थता नहीं होती, अतएव इस पद्य में वीभत्स रसाभास पूर्ण रूप से विराजमान है॥

शान्त रसाभास—जहाँ शान्त रस के प्रवाह में अनुचित कार्य कलाप बाधा उपस्थित करें, वहाँ शान्त रसाभास होगा—यथा—

का विराग भो जो रहे राग रंग में लीन।
रहे रामरत जो न तो का करवा कोपीन॥

विरागभाजन बनकर राग रंग में लीन होना, और करवा-कोपीन धारणकर राम में रत न होना, अनौचित्य है। अतएव यहाँ स्पष्ट शान्त रसाभास है॥

अद्भुत रसाभास—जब किसी विषय का वर्णन आश्चर्य की सीमा से आगे बढ़कर असंभवता तक पहुँच जाता है, वहाँ अद्भुत रसाभास होता है—क्योंकि इस प्रकार का वर्णन उचित नहीं होता। यथा—

उछरि अंजनीसुअन ने लीलि लियो ततकाल।
निरखि बाल रविविम्ब को सुमधुर फल सम लाल॥

—सूर्योआत्मा हि जगत:।

सूर्य्य जगत् की आत्मा है, वह हिन्दू जाति का आराध्य देव है, उसके विषय में यह लिखना कि उसको नर ने नहीं वरन् बानर ने निगल लिया, कितना बड़ा अनौचित्य है। सूर्य्य के सामने अंजनी-नन्दन की सत्ता हिमालय के सामने एक चींटे इतनी भी नहीं, भला वे सूर्य्य को क्या निगलते। जिस कार्य का उल्लेख दोहे में है, वह अद्भुत क्या महान् अद्भुत है, परन्तु प्रलापमात्र है और अनौचित्य पूर्ण भी, अतएव उसमें प्रत्यक्ष रसाभास है। एक दोहा और देखिये—

का न करति ललना, हनति पति को ले करवाल।
कँपि कलंक भय ते बनति कोख लाल को काल॥

एक ललना का कर में करवाल लेकर पतिदेव का वध करना, अपने फूल से कोमल लाल का कलंक भय से नाश कर देना, कितना विस्मयपूर्ण और आश्चर्यजनक है। किन्तु दुःख है कि संसार में ऐसा होता है। दोनों कार्यों में अनौचित्य की पराकाष्ठा है, इसलिये पद्य में अद्भुत रसाभास मौजूद है।

इसी प्रकार के रसाभास के और उदाहरण दिये जा सकते हैं, किन्तु मैं समझता हूँ विषय स्पष्ट हो गया, अतएव विस्तार की आवश्यकता नहीं। रसाभास का लक्षण क्या है, और वह रस ही होगा या और कुछ, इसकी मीमांसा रसगंगाधरकार ने विशेषतया की है, अभिज्ञता के लिये उनका विचार भी नीचे उद्धृत किया जाता है—

"तत्रानुचितविभावालम्बनत्वं रसाभासत्वम् विभावादावनौचित्यं पुनर्लोकानां व्यवहारतो विज्ञेयम्। यत्र तेषामयुक्तमिति धीरिति केचिदाहुः। तदपरे न क्षमन्ते। मुनिपत्न्यादि विषयकरत्यादेः संग्रहेपि बहुनायक विषयाया अनुभवनिष्ठायाश्च रतेरसंग्रहात् तत्र विभावगतस्यानौचित्यस्याभावात्। तस्मादनौचित्येन रत्यादि विशेषणीयमित्थं चोनुचितविभावालम्बनाया बहुनायकविषयाया अनुभवनिष्ठायाश्च संग्रहइति। अनौचित्यं च प्राग्वदेव।"

"उसके लक्षण के विषय में कुछ विद्वानों का मत है—अनुचित विभाव को आलम्बन मानकर यदि रति आदि का अनुभव किया जाय तो रसाभास हो जाता है। रहा यह कि किस विभाव को अनुचित मानना चाहिये और किसको उचित, सो यह लोक व्यवहार से समझ लेना चाहिये। अर्थात् जिसके विषय में लोगों की यह बुद्धि है कि यह अयोग्य है, उसीमें अनौचित्य का आरोप किया जा सकता है। पर दूसरे विद्वान् इस लक्षण को सुनकर चुप नहीं रहते, वे कहते हैं—इस लक्षण के द्वारा यद्यपि मुनि पत्नी आदि के विषय में जो रति आदि होते हैं, उनका संग्रह हो जाता है, क्योंकि

इतर मनुष्य मुनि-पत्नी आदि को अपना प्रेमपात्र माने यह अनुचित है। तथापि अनेक नायकों के विषय में होनेवाली और प्रियतम प्रियतमा दोनों में से केवल एक ही में होनेवाली रति का इसमें संग्रह नहीं होता, क्योंकि वहाँ तो विभाव अनुचित नहीं, किन्तु प्रेम अनुचित रूप से प्रवृत्त हुआ है, अतः अनुचित विशेषण रति आदि के साथ लगाना उचित है। अर्थात् यह लक्षण बनाना चाहिये—

"जहाँ रति आदि अनुचित रूप से प्रवृत्त हुए हों वहाँ रसाभास होता है।"

इस तरह जिसमें अनुचित विभाव आलंबन न हो, जो अनेक नायकों के विषय में हो, और जो प्रियतम प्रियतमा दोनों में न रहती हो, उस रति का भी संग्रह हो जाता है। अनुचितता का ज्ञान तो इस मत में भी पूर्ववत् (लोक व्यवहार) से ही कर लेना होगा।"

"तत्र रसाद्याभासत्वं रसत्वादिना न समानाधिकरणं निर्मलस्यैव रसादित्वाद्हेत्वा भासत्वमिव हेतुत्वेनेत्येके। नह्यनुचितत्वेन्यत्य हानिरपितु सदोषत्वादाभासव्यवहारोऽश्वाभासदिव्यवहारवदित्यपरे"

—मुख्य ग्रंथ ८४ पृ० द्वि० खं०

"रसाभासों के विषय में एक और विचार है। कुछ विद्वानों का कथन है "जहाँ रसादि के आभास होते हैं, वहाँ रस आदि नहीं होते, उन दोनों का साथ साथ रहना नियम विरुद्ध है, क्योंकि जो निर्मल हो जिसमें अनुचितता न हो, उसीका नाम रस है। जैसे कि जो हेत्वाभास होता है, वह हेतु नहीं। दूसरे विद्वानों का कथन है— अनुचित होने के कारण स्वरूप का नाश नहीं हो सकता अर्थात् वह रस ही है, किन्तु दोषयुक्त होने से उन्हें आभास कहा जाता है, जैसे कोई अश्व दोषयुक्त हो, तो लोग उसे अश्वाभास कहते हैं"।

—हिन्दी रसगंगाधर २६९, २७०

मैं समझता हूँ, यह अन्तिम सम्मति ही ठीक है; कुछ अनौचित्य के कारण रस कलुषित हो सकता है किन्तु यह नहीं हो सकता कि उसमें रस का अभाव हो जावे। यह भी समझ लेना चाहिये कि सब जगह अनौचित्य से रसाभास नहीं हो जाता। जहाँ अनौचित्य से किसी रस की पुष्टि होती हो, अथवा जहाँ अनौचित्य का उद्देश चरित्र सुधार कलंक अपनोदन, किंवा दोषअवगतकरण हो, वहाँ वह वर्जित नहीं होता। अनौचित्य वही निन्दनीय होता है, जो रस के प्रतिकूल हो। यथा—

कंचन संचय में निपुन रखत कंचनी मान।
कैसे बनै महंत नहिं महि में महिमावान॥

किसी धर्माचार्य पर कटाक्ष करना अनौचित्य है, इस पद्य में यही किया गया है, अतएव इसमें रसाभास माना जा सकता है। किन्तु महन्त के चरित्र शोधन के लिये ही, इस पद्य में उनकी हँसी उड़ाई गई है, अतएव यहाँ अनौचित्य हास्य रस को पुष्ट करता है, उसके प्रतिकूल नहीं है, इसलिये इसमें रसाभास नहीं माना जायगा। इसी प्रकार अन्यों को भी समझना चाहिये॥

शृंगाररस

शृंगार रस की परिभाषा

नाटय-शास्त्र के आचार्य महामुनि भरत ने शृंगार की यह परिभाषा लिखी है—

"यत्किञ्चिल्लोके शुचिमेध्यमुज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोपमीयते"

जो कुछ लोक में पवित्र, उत्तम, उज्वल, एवं दर्शनीय है, वह शृंगार रस कहलाता है।

"यथा गोत्रकुलाचारोत्पन्नान्यात्योपदेश सिद्धानि पुंसां नामानि भवन्ति, तथैवा रसानां भावानां च नाट्याश्रितानांचार्थामाचारोत्पन्ना

न्याप्तोपदेशसिद्धानि नामानि । एवमेव आचारसिद्धो हृद्योज्वल वेषात्मकत्वाच्छृंगारोरसः''

जैसे गोत्र, कुल और आचार से उत्पन्न आप्तोपदेश सिद्ध पुरुषों के नाम होते हैं। इसी प्रकार नाट्याश्रित रसों और भावों के 'अर्थ के अधार पर' आचारोत्पन्न, आप्तोपदेश सिद्ध नाम हैं। इसी प्रकार का आचार सिद्ध, हृदयग्राही, उज्वल वेषात्मक होने के कारण शृंगार (रस) कहलाता है।

साहित्यदर्पणकार लिखते हैं—

> शृंगं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः ।
> उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते ॥

"काम के उद्भेद (अंकुरित होने) को शृंग कहते हैं, उसकी उत्पत्ति का कारण अधिकांश उत्तम प्रकृति से युक्त, रस 'शृंगार' कहलाता है"।

शृंगार क्या है, उसकी परिभाषा क्या है ? मेरा विचार है, महा-मुनि भरत और साहित्यदर्पणकार की उक्तियों से यह बात स्पष्ट हो गई। जो कुछ संसार में दर्शनीय अर्थात् सुन्दर है, साथ ही जो पवित्र, उत्तम और उज्वल है, उसका जिसमें सरस एवं हृदयग्राही, वर्णन विकास अथवा प्रदर्शन होगा, वह शृंगार रस कहला सकेगा। आचार्य भरत के नाट्याश्रित' वाक्य से केवल नाटकों का ही ग्रहण न होगा, काव्यों और अन्य साहित्यिक विषयों का असमावेश उसमें समझा जावेगा। कारण यह है कि शृंगार रस की परिभाषा उन सबको अन्तर्गत कर लेती है। आचार्य्य के सम्मुख नाटक का विषय था, इसलिये अपने सूत्र में उसीका उल्लेख उन्होंने किया, और इस का कोई दूसरा हेतु नहीं। काव्य दो प्रकार का होता है, दृश्य और श्रव्य। इसलिये 'रमणीयार्थप्रतिपादक' दोनों हैं, क्योंकि पण्डितराज कहते हैं, 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।' फिर दृश्य काव्य

श्रव्य का उपलक्षण क्यों न माना जायगा। साहित्यदर्पणकार कहते हैं कि काम के अंकुरित होने को शृंग कहते हैं, इसलिये उसकी उत्पत्ति के आधार, उत्तम प्रकृतियों के अवलम्बन, रस को शृंगार कहा जाता है। इस कथन में भी उत्तम प्रकृति का प्राधान्य है। उत्तम प्रकृति ही पवित्र, उज्वल, और दर्शनीय होगी। अतएव शृंगार रस की परिभाषा के विषय में हम दोनों वावदूक विद्वानों का एक ही सिद्धान्त और एक ही विचार अवलोकन करते हैं। जिससे उसकी विशेष पुष्टि होती है॥

शृंगार रस का विवेचन

शृंगार रस के देवता विष्णुभगवान हैं। नाट्य शास्त्रकार लिखते हैं, 'शृंगारो विष्णु देवस्तु' यही सम्मति साहित्यदर्पणकार की भी है, वे कहते हैं 'स्थायिभावो रतिः श्यामवर्णोयं विष्णु दैवतः'। जिस रस का जो गुण, स्वभाव और लक्षण होता है, उसका देवता प्रायः उन्हीं गुणों और लक्षणादि का आदर्श होता है, क्योंकि उसीके आधार से उस रस की कल्पना होती है। भगवान् विष्णु में सतोगुण की प्रधानता है, वे सृजनकर्त्ता के भी सृजनकारी हैं। उन्हींकी नाभि से जो विश्व का केन्द्र है, ब्रह्मा की सृष्टि हुई। जो शतदल कमल पर विराजमान थे, यह शतदल कमल और कुछ नहीं, अनन्त जलराशि में प्रकटीभूत क्षुद्रतम पार्थिव अंश मात्र था। वे शेषशायी हैं, प्रयोजन यह कि विनष्टभूत अखिल ब्रह्मांड के जो शेषांश सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु स्वरूप में शून्य में अनन्त अगाध समुद्र के समान वर्त्तमान रहते हैं, वे उन्हींमें विश्राम करते हैं। उनकी सहकारिणी वह शक्ति है जो रमा है, जो उनके समान ही सर्वत्र ही रमण करती है, सबका पालन-पोषण करती है, और जो उन्हीं लोकोत्तर के सदृश लोकोत्तरा है। वे हिरण्य गर्भ हैं, 'कोटि सूर्य समप्रभ' हैं, अर्थात् असंख्य दिव लोक, अपरिमित सूर्य मण्डल, और अनन्त दीप्तिमान पिण्डों के

जनक हैं। उनका पवित्रतम-पद देश पुण्यसलिला भगवती भागीरथी का उत्पादक है, उस भगवती भागीरथी का, जो त्रिपथगा हैं, स्वर्ग, मर्त्य और पातालविहारिणी हैं; जो भगवान शिव के शिरोदेश की मालती माला हैं, और हैं उस कण्ठगत कालकूट विषमता की शमनकारिणी, जिससे त्रिलोक के भस्मीभूत होने की आशंका उपस्थित हो गई थी। वे हैं कोटि मन्मथ मनमथन और उस निर्जीव के जीवन दाता, जो अपने किशलय कोमल करों में सुमन शर धारण करके त्रिलोक को आयत्त करता है। फिर यदि यह कहा जावे कि लोक में जो कुछ पवित्र, उत्तम, उज्वल, और दर्शनीय है, वह श्रृंगार रस है, तो क्या आश्चर्य! क्योंकि वह ऐसे अलौकिकता-निकेतन, समानविभूतिसर्वस्व, 'रसो वै सः' का हीं आदिम विकास तो है।

मैं रस-प्रकरण में अग्निपुराण के आधार से लिख आया हूँ सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान विभु का स्वाभाविक आनन्द अभिव्यक्ति अवस्था में चित्शक्ति सम्पन्न और चमत्कारमय होता है। उसके अहंभाव से अभिमान का आविर्भाव, और ममता संकलित अभिमान से रति की उत्पत्ति होती है। यही रति श्रृंगार रस की जननी है, इसलिये रति उसका स्थायीभाव है।

प्रकृतिवाद में रति शब्द का अर्थ लिखा है—

रति—सं० स्त्री० स्मरप्रिया, कामपत्नी, अनुराग, आसक्ति, क्रीड़ा, रमण, संतोष।

—पृ० ८११

हिन्दी शब्दसागर में यह अर्थ लिखा गया है—

रति—सं० स्त्री० (३) प्रीति, प्रेम, अनुराग, मुहब्बत।

—पृ० २८९३

प्रदीपकार लिखते हैं—

'रतिस्तु मनोनुकूलेष्वर्थेषु सुखसंवेदनं'

मन के अनुकूल अर्थों में सुखप्रसूत ज्ञान का नाम रति है।

सुधासागरकार कहते हैं—

'स्मरकरम्बितान्तः करणयोः स्त्रीपुंसयोः परस्परं रिरंसा रतिः स्मृता'

स्त्री पुरुष के काम वासनामय हृदय की परस्पर रमणेच्छा का नाम रति है।

साहित्यदर्पणकार बतलाते हैं—

'रतिर्मनोनुकूलेर्थे मनसः प्रवणायितम्'

प्रिय वस्तु में मन के प्रेमपूर्ण उन्मुख होने का नाम रति है।

जब कहते हैं 'रतिर्देवादि विषया' तब रति का अर्थ भक्ति, प्रेम, अनुरागादि होता है, इसलिये रति शब्द का अनेकार्थक होना स्पष्ट है। जहाँ वह अनेकार्थक है, वहाँ उदात्त एवं मनोरम है। क्योंकि 'प्रेम एव परोधर्म्मः' प्रेम ही परमधर्म है।

भक्तिसूत्रकार कहते हैं—

'अनिर्वचनीयम् प्रेमस्वरूपम् मूकास्वादनवत्'

प्रेम का स्वरूप वर्णन नहीं किया जा सकता। गूँगे के आस्वादन के समान।

एक अँगरेज़ी का विद्वान् कहता है—

Love and life are words with a similar meaning.

'प्रेम और जीवन एक ही अथ के द्योतक शब्द हैं'

सहृदय वर हेनरीवान डाइक कहते हैं—

Love is not getting, but giving; not a wild dream of pleasure and a madness of desire. Oh, no, love is not that. It is goodness and peace and pure living; yes, love is that; and it is the best thing in the world and the thing that lives longest.

'प्रेम आदान नहीं, किन्तु प्रदान है। वह न तो भोग-विलास का सम्मोहक स्वप्न है, और न वासनाओं का उन्माद। यह सब

प्रेम नहीं हो सकता। भलाई, शान्ति और सदाचारिता को प्रेम कहते हैं। इन सद्‌गुणों में प्रेम ही का निवास है। संसार में इस प्रकार का प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ और चिरस्थायी वस्तु है।

बाबू हरिश्चन्द्र कहते हैं—

जाकौ लहि कछु लहन की चाह न चित मैं होय।
जयति जगत पावन करन प्रेम बरन यह दोय॥

कबीर साहब कहते हैं—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पण्डित भया न कोय।
ढाई अच्छर प्रेम का पढ़ै सो पण्डित होय।

एक संस्कृत का विद्वान् कहता है —

सर्वे रसाश्च भावाश्च तरंगा इव बारिधौ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति यत्र स प्रेमसंज्ञकः॥

सब रस भाव समुद्र में लहरों के समान जिसमें उठते और लीन होते रहते हैं उसका नाम प्रेम है।

ऐसी महिमामयी, विश्वव्यापिनी, अनन्त गुणावलम्बिनी रति, जिस शृंगार रस का स्थायीभाव है, वह यदि पवित्र, उज्वल, उत्तम एवं दर्शनीय न होगा, तो कौन होगा; क्योंकि विभाव, अनुभाव और रस-संचारी भावों के सहयोग से स्थायीभाव ही रस में परिणत होता है। यदि कहा जावे कि 'स्त्री पुरुष के काम-वासनामय हृदय की परस्पर रमणेच्छा का नाम भी तो रति है! फिर वह इतना प्रशंसनीय कैसे होगा? तो उत्तर यह है कि काम का वास्तविक स्वरूप न समझने से ऐसा प्रश्न होगा, अतएव मैं काम का यथार्थ स्वरूप समझाने की चेष्टा करूँगा। ऊपर मैं लिख आया हूँ कि 'काम के अंकुरित होने का कारण अधिकांश उत्तम प्रकृति से युक्त शृंगार रस है'। यह साहित्यदर्पणकार की सम्मति है। हृदय की सकामता क्या है? यह वह मानसिक प्रवृत्ति है, जो संसार के सृजन

का हेतु है। यदि वह न हो तो संसार उत्सन्न हो जावेगा—विश्व में प्राणियों का ही अभाव न हो जावेगा, कहीं हराभरा एक तृण भी दृष्टिगोचर न होगा। स्त्री-पुरुष की रमणेच्छा, सकामता की ही प्रक्रिया है। मंगलमय विधाता की यह वह विधि है, जिसमें संसार की सारी पवित्रता, उज्वलता, उत्तमता और दर्शनीयता एकत्रीभूत हैं। यह वह रहस्यमय शिवसंकल्प है, जिसपर आत्मोत्सर्ग कर काम अनंग बन गया और उसकी सहधर्मिणी रति ने स्त्री-पुरुष को एक सूत्र में बाँध दिया। दोनों की परस्पर सम्मिलनेच्छा स्वाभाविक है और उस पूत कर्तव्य का पालन है, जो नियति का अनुल्लंघनीय विधान है। इसीसे उसका आधार उत्तम प्रकृति से युक्त शृंगार रस है—जो प्रशंसनीय है, और जिसमें किसी कुत्सित भाव को स्थान नहीं। अँगरेजी का एक विद्वान् कहता है—

"The purest, noblest and most unselfish aspirations and purposes derive their strength and being from the sweet influences which have their beginning and continuance in this power which draws men and women together in happy and holy wedlock. By these sweet influences the most perfect natures are moulded and ennobled. By them are formed the strongest ties that hold humanity to the accomplishment of every high and holy endeavour."

"नर-नारी जिस शक्ति के वश आनन्दमय विवाह-बंधन में आवद्ध होते हैं, वही उन मधुर प्रभावों की सत्ता और उद्‌गम का कारण है, जिनसे पवित्र से पवित्र, उच्च से उच्च और निस्स्वार्थ से निस्स्वार्थ भावनाओं तथा कर्मों को बल और स्थिति प्राप्त होती है। इन मधुर प्रभावों द्वारा सम्पूर्णतया आदर्श प्रकृतियों में सुधार तथा

उच्चता सम्पादित होती है। जिस मनुष्य का वास्ता प्रत्येक उच्च और पवित्र प्रेरणा से है, वह मनुष्यता इन्हीं मधुर प्रभावों की दृढ़-से-दृढ़ गाँठों द्वारा जकड़ी रहती है"।

—मतिरामग्रन्थावली की भूमिका पृ० ४

आर्य-संस्कृति के अनुसार विवाह का बंधन पवित्र बंधन है, और स्त्री-पुरुष का स्वाभाविक संयत सम्मिलन एक पुनीत विधान। इसीलिये कहा गया है, 'पुत्रप्रयोजनादारा' स्त्री पुत्र के प्रयोजन लिये है। भाव यह कि सृजन-प्रणाली की रक्षा के लिये ही दम्पति-सम्मिलन की आयोजना है। पुत्रोत्पादन इतना पुण्यमय कार्य्य समझा जाता है, कि उसके विषय में शास्त्रों में इस प्रकार के वाक्य मिलते हैं 'अपुत्रस्यगतिर्नास्ति' अपुत्र की गति नहीं होती। बड़े-बड़े स्मृतिकारों ने इस विषय में जो कहा है, उसे भी सुनिये। भगवान् मनु यह कथन करते हैं—

> पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते।
> अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥१॥
> पुन्नाम्नोनरकाद्यस्मात् त्रायते पितरं सुतः।
> तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥२॥

मनुष्य पुत्र से सब लोकों को पाता है, पौत्र से बहुत काल तक स्वर्ग में रहता है और प्रपौत्र से सूर्यलोक को प्राप्त करता है। पुंनाम नरक का है, उससे पुत्र पिता को बचाता है, इसलिये स्वयं ब्रह्मा ने उसको 'पुत्र' संज्ञा प्रदान की है।

महर्षि अत्रि का यह वचन है—

> पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखम्।
> ऋणमस्मिन्स नयति अमृतत्वं च गच्छति।

पुत्र का जन्म होने पर जीवित पुत्र का मुख देखने से ही पिता पितरों के ऋण से मुक्त होता है और उसी दिन शुद्ध हो जाता है, क्योंकि पुत्र पिता को नरक से बचाता है।

वशिष्ठ देव की यह आज्ञा है—

अनन्ताः पुत्रिणा लोका नापुत्रस्य लोकोस्तीति श्रूयते।

पुत्रवाले को अनन्त काल तक स्वर्ग मिलता है, पुत्र-हीन मनुष्य को स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती।

बौधायन स्मृति का यह वाक्य है—

जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिऋर्णी जायते ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य इति।

ब्राह्मण तीन ऋण से युक्त होकर जन्म लेता है, वह ब्रह्मचर्य धारण करने पर ऋषि-ऋण से, यज्ञ करने पर देव-ऋण से और सन्तान उत्पन्न करने पर पितृ-ऋण से छूटता है।

—धर्मशास्त्रसंग्रह

मंगलमयी सृष्टि के संरक्षण के लिये किस प्रकार इन वचनों के द्वारा मनुष्य जाति को सतर्क किया गया है और कैसे एक धर्म कार्य की ओर प्रवृत्ति दिलाई गई है और कितने रोचकभाव से; इसकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं। किन्तु एक विशेष बात की ओर दृष्टि आकर्षण प्रयोजनीय ज्ञात होता है। वह यह कि संतानोत्पत्ति इसलिये आवश्यक है कि जिससे मनुष्य तीन ऋण से मुक्त हो सके। वे तीन ऋण हैं, देव ऋण, ऋषि ऋण, और पितृ ऋण। देव ऋण चुकाने का अर्थ है, अनेक यज्ञों और सदनुष्ठानों द्वारा सर्व भूत हित और लोक सेवा, ऋषि ऋण से मुक्त होने का भाव है सच्छास्त्रों का पठन और मनन कर जनसाधारण में सद्भावों और विश्व-हितकर विचारों का प्रचार और पितृ-ऋण से उद्धार पाने का उद्देश्य है, वंश वृद्धि, एवं देश कालानुसार कुल की शिष्टजनानुमोदित मर्यादा और परम्परा का पालन। मनुष्य का यह प्रधान कार्य है कि जब तक वह जीवित रहे तब तक इन महान् कर्त्तव्य कर्मों को स्वयं करता रहे और अपने पीछे अपना एक ऐसा प्रतिनिधि छोड़ जावे, जो इन

शुभ कार्यों को यथापूर्व चलाता रहे। यह बात विना पुत्र उत्पन्न किये नहीं प्राप्त हो सकती. इसीलिये शास्त्रों में संतानोत्पत्ति का इतना महत्व है। संतानोत्पत्ति विना स्त्री-पुरुष सम्मिलन के नहीं हो सकती, इसलिये उनका संयोग कितना पुनीत और महान् कार्य है। आशा है, यह बात भलीभाँति स्पष्ट हो गई। एक अँगरेजी विद्वान् भी लगभग ये ही बातें कहते हैं, देखिये—

"He is no longer to live for himself, but for his wife and children and in a larger sense for his descendants—for the good of the race. He is to continue by transmitting himself, that life may remain when he is gone what he does involves the interest of his wife and of those who are to come after him. Love is to conquer selfishness. He is to rise above himself and the present good and future happiness of others are to constitute his well-being".

'विवाह के बाद पुरुष की जीवन-यात्रा केवल अपने लिये नहीं होती, वरन् अपनी स्त्री और बच्चों के लिये अथवा व्यापक अर्थ में यों कहिये कि जाति-हित की दृष्टि से अपने उत्तराधिकारियों के लिये है। अपनी आत्मीयता को वह दूसरों को इस प्रकार से सौंपता है कि मर जाने पर भी वह जीवित रहता है। उसके प्रत्येक काम में उसकी पत्नी तथा बच्चों का हित लिपटा रहता है। स्वार्थ-परता पर प्रेम की विजय होती है, पति को अहंभाव के ऊपर उठना पड़ता है। उसकी सत्ता का प्रयोजन अब से दूसरों की वर्त्तमान भलाई और भविष्य आनन्द में ही है॥"

—मतिरामग्रन्थावली की भूमिका पृ० ७

एक प्रकार से और इस विषय को देखिये। जिसका शृंगार

किया जाता है, वह उत्तम, उज्वल और दर्शनीय बन जाता है। यह शृंगार चाहे प्रकृति करों से किया गया हो, चाहे मनुष्य जाति द्वारा। शरदमयंक, समुज्वल राका रजनी, अनन्त तारकावलि विलसित नीलनभोमण्डल, लोकरंजिनी अरुणरागआरंजिता ऊषा, हिम धवल गिरिशृंगश्रेणी, हरित दल विभूषित पादपावली, अनन्त सौंदर्य निकेतन विकच कुसुम समूह, विचित्र चित्रित विहँग वृन्द और नाना रंग आकार के चमत्कारमय कीट-पतंग किसको विमुग्ध नहीं बनाते, किसके लोचनों को नहीं चुराते और किसके हृदय को आनन्दित नहीं करते। मानव जाति के बनाये संसार के अनेकों मन्दिर, सहस्रों स्तंभ, कितने ही पिरामिड, बहुत से पुल, लाखों पुष्पोद्यान, असंख्य विलास-मन्दिर, करोड़ों बाग-बगीचे, अनेक मूर्तियाँ और खिलौने, इतने साफ़ सुथरे सुन्दर, मनोहर और देखने योग्य हैं कि उनकी जितनी प्रशंसा की जाय वह थोड़ी है। ये समस्त विश्व-विभूतियाँ पवित्र इसलिये हैं कि उनका दर्शन निर्दोष है और वे लोकोत्तर आनन्दसदन हैं। यह शृंगार का माहात्म्य है।

जब इस शृंगार को रसत्व प्राप्त हो जाता है, तो सोना और सुगंध की कहावत चरितार्थ होती है, उस समय वास्तव में मणि-काञ्चन योग उपस्थित होता है, निर्जीवप्राय सजीव बन जाता है और स्वर्ण कलस रवि-किरण-कान्त !!

क्या इन बातों पर गंभीरता पूर्वक विचार करने पर यह नहीं स्वीकार करना पड़ता कि शृंगार रस की पवित्रता और महत्ताओं के विषय में जो कथन किया गया, वह सत्य और युक्तिसंगत है।

शृंगार रस की व्यापकता

संसार में जो पवित्र, उत्तम, उज्वल, और दर्शनीय है, उसमें शृंगार रस का विकास है, इस कथन से ही शृंगार रस कितना

व्यापक है, यह स्पष्ट हो जाता है। परन्तु सूत्र-रूप में कही गई इस विषय की व्याख्या आवश्यक है, जिसमें वह भलीभाँति हृदयंगम हो जावे।

प्राणियों में मनुष्य सर्वप्रधान है। जब उसकी ओर दृष्टि जाती है तब शृंगार रस की व्यापकता अन्य प्राणियों की अपेक्षा उसमें अधिक पाई जाती है। किसी-किसी प्राणी में शृंगार रस का कोई-कोई अंश बहुत-ही प्रबल देखा जाता है, परन्तु उसका सर्वांश अथवा अधिकांश जितना मानव-जाति में मिलता है, अन्यों में नहीं। दर्शनीयता जितनी सौंदर्य्य में मिलती है, अन्य गुणों में नहीं। जितना आकर्षण और हृदयग्राहिता रूप में होती है, जितना मोहक वह होता है, दूसरा नहीं। इसी लिये काम लोकोत्तर कमनीय और कुसुमायुध है। उसकी सहधर्मिणी रति है, जो प्रेममयी, आसक्तिमयी, रमणशीला और क्रीड़ाकला-पुत्तलिका है। काम यदि सौंदर्य्य-सरसीरुह है, तो वह उसकी शोभा, काम यदि राकामयंक है, तो रति उसकी कौमुदी; शृंगार रस का दोनों के साथ आधार-आधेय का सम्बन्ध है। शृंगार रस शिशु का एक जनक है, और दूसरी जननी। मानव हृदय काम-रति-परायण है, अतएव उसके प्रांगण में प्राय: शृंगार रस शिशु रमण करता रहता है। जिसका परिणाम वे ललित कलाएँ हैं, जिससे सारा धरातल ललितभूत है!

सुन्दर-सुन्दर चित्र, तरह-तरह के वसन-आभूषण, कोमल कान्त बिछौने, नयनरंजन सामग्री, लोकमोहन आलोक, गगनचुम्बी प्रासाद, सुसज्जित उद्यान, मनोहर नहरें, अनेक देव दुर्लभ विभव, और बहुत-से अपूर्व सुखसाधन, मनुष्य जाति की सौंदर्य्यप्रियता से ही प्रसूत हैं। संगीत-साहित्य के सूक्ष्म से सूक्ष्म आविष्कार, स्वर ध्वनियों की लालायितकर लहरें, विविध वाद्ययंत्रों के मधुर निनाद, नृत्य और नृत्त के नाना विभेद, हाव-भाव कटाक्ष के महा-

प्रयोग, हास-विलास के क्रिया-कलाप, रूप माधुरी के विविध वर्णन, प्रकृति विभूतियों के मनोहर चित्रण, कवि-हृदय के सरस उद्‌गार, रसिक जनों के रस प्रसूत सम्बल, सौंदर्य्यप्रेम प्रकरण ही के विविध संस्करण हैं। मानव किस प्रकार इनके द्वारा अपनी सकामता को चरितार्थ करता है, कैसे इनमें अनुरक्त रहकर अपने जीवन को आनन्दमय बनाता है, यह अविदित नहीं, प्रत्येक सहृदय इसे जानता है।

वधिक की वीणा में कौन-सी वशीकरण विभूति होती है कि उसको श्रवण कर मृग इतना तन्मय हो जाता है कि उसके वाण पर आत्मोत्सर्ग करने में भी संकुचित नहीं होता? कृत्रिम करिणी को भी देखकर गजराज पर कौन-सा जादू हो जाता है कि वह गर्त्त में ही पतित नहीं होता, उस पराधीनता के बन्धन में भी बँध जाता है, जो उसको आजन्म जीवन के स्वतन्त्रता सुख से वंचित कर देता है? घोड़ियों में कौन-सी आकर्षिणी शक्ति है, जिनको अवलोकन करते ही घोड़े आनन्द-विह्वल होकर उछलने-कूदने ही नहीं लगते, अपने उच्चरव से दिशाओं को भी ध्वनित करने लगते हैं? मंथर गति, पीवर ग्रीव, विशाल काय बैलों में कौन-सी मोहनी रहती है कि उनको घूमते देख गाएँ आपे में नहीं रहतीं और पास पहुँच कर परस्पर लेहन करने में ही आनन्द लाभ करती हैं? वह कौन-सी प्रेरणा है कि अपने बच्चों में पशु मात्र का सहज प्यार होता है? वह कौन-सा भाव है जिसके वशवर्ती होकर पशुओं के जोड़े आपस में एक दूसरे की ओर खिंचते, मुँह से मुँह मिलाते, उछलते-कूदते और तरह-तरह की क्रीड़ाओं में रत रहते हैं? इन सब बातों का एक ही उत्तर है, वह यह कि ये सब भगवान कुसुमायुध की विचित्र लीलाएँ हैं!

प्रातःकाल ऊषा को अरुण राग रंजित और कान्त रविकर

आपीड़ से सुसज्जित अवलोकन कर विहंगवृन्द जो अलौकिक-गान आरम्भ करता है, जैसी कलकंठता दिखलाता है, जैसे मधुर स्वरों से दिशाओं को पूरित कर देता है, जैसा चहकता और उमंग में भर जाता है, वह किस प्रवृत्ति का परिचायक है ? क्या उस राग-मयी का अनुराग ऐसा कराता है, या उसका सौंदर्य्य अथवा उसका विकास ? कुसुमाकर जब कुसुमावलि का माल्य धारण कर दिशाओं को सुरभित करता है, पादपपंक्ति को नवल फल दल संभार से सजाता है, तो कोयल क्यों उन्मादिनी बनती है; क्यों रात-रात भर बोलती है ? क्यों कूक-कूक कर कलेजा निकाले देती है। क्या इनका कोई पारस्परिक सम्बन्ध है ? क्या प्रेमोन्माद ही तो उसे उन्मादिनी नहीं बनाता। जब घन गगन मण्डल में घिर जाते हैं, मन्द-मन्द गरजते हैं, कभी घूमते हैं, कभी रस बरसते हैं, तब पपीहा क्यों पीपी की रट लगाता है, मयूर क्यों मत्त होकर नर्त्तन करता है, घन-पटल को अवलोकन कर इनको कौन रस मिलता है ? कौन से आनन्द की धारा इनके मानसों में बहने लगती है, क्या इन बातों में कोई रहस्य नहीं ? पारावत कितना प्यारा पक्षी है, सौंदर्य्य की तो वह मूर्ति है। जिस समय वह अपने नीलाभ गले को फुलाकर बोलने लगता है, अपनी पूँछ को झुका और फैलाकर नृत्य आरम्भ करता है, उस समय उसकी विहगिनी ही उसपर मुग्ध नहीं होती, वरन उसे उस अवस्था में जो देखता है, वही मोह जाता है। उसका यह मोहक रूप क्यों ? क्या ये सब शृंगार रस के ही कौतुक नहीं ?

भृंग फूलों पर गूँजता फिरता है, कभी उनपर बैठता है, कभी उनसे रस ग्रहण करता है और कभी एक पुष्प का रज वहन करके दूसरों तक पहुँचा आता है। तितलियाँ नाचती फिरती हैं, चूम-चूमकर फूलों की बलाएँ लेती हैं। उनसे गले मिलती हैं, अपने रंग

में उन्हें और उनके रंग में अपने को रँगती हैं और फिर न जाने कहाँ चक्कर काटती हुई चली जाती हैं। मधुमक्खी चुपचाप आती है, फूलों के साथ विहार करती है, उनसे रस संचय करती है, कुछ को पी जाती है, और कुछ को लिये सँभलती, बचती न जानें कहाँ से कहाँ पहुँच जाती है। यदि हम आँख उठाकर देखें, तो अपने चारों ओर असंख्य कीट पतंगों को, इसी प्रकार के कार्यों में रत पायेंगे। प्राणी ही नहीं यदि हम अन्तर्दृष्टि से काम लेंगे, तो पेड़ों और लता बेलियों क्या फूल-पत्तों तक में कामदेव के साथ रति देवी विहार करती मिलेंगी, और वहीं रस रूपमें श्रृंगार देव भी अपना प्रभाव विस्तार करते दृग्गोचर होंगे। वास्तविक बात यह है कि संसार में जो कुछ है, वह सब एक दूसरे के साथ अदृश्य सूत्र से ग्रथित है। यह सम्बन्ध मानव बुद्धि से परे-भले ही हो, किन्तु इस सम्बन्ध द्वारा कहीं ज्ञात और कहीं अज्ञात रूप से संसार का सृजनादि समस्त मंगलमूलक कार्य यथा काल होता रहता है। एक अँगरेज़ विद्वान् कहता है—

"All things by immortal power
To each other linked are,
Near or for, That thou canst not stir a flower.
Hiddenly Without troubling of a star".

"समस्त वस्तुएँ चाहे वे दूर-दूर हों, चाहे पास-पास, एक अनन्त शक्ति के द्वारा गुप्त रीति से एक दूसरे से लगाव रखती हैं। तुम बिना एक सितारे को प्रभावित किये हुए, एक फूल को भी नहीं तोड़ सकते।" —सुधा संख्या २४ पृ० ५४८

श्रृंगार रस की व्यापकता का एक मनोहर चित्र प्रसंग सूत्र से कविकुलगुरु कालिदास ने अपने कुमारसंभव नामक ग्रंथ में बड़ी

सहृदयता से अंकित किया है, उसको भी देखिये। जिस समय भगवान् भवानीपति पर आक्रमण करने के लिये, कुसुमायुध अपनी पूर्ण शक्ति का विस्तार कर प्रयाण करता है, उस समय की दशा का वर्णन वे यों करते हैं—

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियाम् स्वामनुवर्त्तमानः।
शृंगेण च स्पर्श निमीलिताक्षीम् मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः॥
ददौ रसात् पंकजरेणुगन्धि गजायगण्डूषजलम् करेणुः।
अर्द्धोपभुक्तेन विसेन जायाम् संभावयामासरथांगनामा।
पर्याप्त पुष्पस्तवकस्तनाभ्यः स्फुरत् प्रवालोष्ठमनोहराभ्यः।
लतावधूभ्यस्तरवोप्यवापुर्विनम्रशाखा भुजबंधनानि।

भ्रमरगण अपनी-अपनी प्रिया का अनुगामी बनकर एक पुष्प-रूप पात्र में मधुपान करने लगा, कृष्णसार मृगों ने अपने-अपने सींगों से मृगीगण के गात्र को खुजलाया, अतएव स्पर्श सुख से विमोहित होकर उन्होंने अपनी आँखें बन्द कर लीं। करिणीगण ने पद्म-पराग से सुरभित सरोवर सलिल को करों के द्वारा कुंजर समूह को पिलाया और चकवा ने कमल नाल का एक टुकड़ा लेकर उसमें से आधा स्वयं खाया और आधा अपनी प्रियतमा को खिलाया। इतना ही नहीं, प्रभूत-पुष्प-स्तवक-स्तन और प्रवालोपम अधर-पल्लव से सुशोभित लता-वधूटियों ने भी अपनी आनत-शाखा बाहु-द्वारा पादप समूह को आलिंगन करना आरंभ कर दिया।

कविकुलतिलक गोस्वामी तुलसीदासजी ने इस विषय का वर्णन जिस प्रकार किया है, वह भी दर्शनीय है—

सबके हृदय मदन अभिलाखा। लता निहारि नवहिं तरु शाखा।
नदी उमगि अंबुधि कहँ धाई। संगम करहिं तलाब तलाई।
जँह अस दसा जड़न कै बरनी। को कहि सकहि सचेतन करनी।
पसु पच्छी नभ जल थल चारी। भये काम बस समय बिसारी।

देव दनुज नर किन्नर व्याला। प्रेत पिशाच भूत बैताला।
इनकी दसा न कहेउँ बखानी। सदा काम के चेरे जानी।

मैं समझता हूँ, अबतक जो शृंगाररस की व्यापकता के विषय में लिखा गया, वह पर्य्याप्त है। एक अँगरेज़ विद्वान् की सम्मति और सुन लीजिये—

It is under the awakening of reproductive life that the fields put on their verdure, the flowers unfold their beauty and fragrance, the birds put on their brightest plumage and sing their sweetest song while the chirp of the cricket, the note of the katydid, is but the call to its mate for the many tounged voices, which break the stillness of field and forest are lent myriad notes of love.

"सृजन सम्बंधिनी प्रेरणाओं से जाग्रत् होकर ही मैदान अपनी सब्ज़ी दिखलाते हैं, फूल अपने सौन्दर्य्य और सुगंध को प्रकट करते हैं, पक्षीगण अपने चमकीले से चमकीले पर धारण करते हैं, तथा मधुर-से-मधुर गीत गाते हैं। झिल्ली की झंकार, कोयल की कूक अपने जोड़े के आह्वान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मैदान और वनों की निस्तब्धता को भंग करनेवाले जो इन नाना प्रकार के पक्षियों के कलरव सुन पड़ते हैं, ये सब प्रेम के ही असंख्यगीत हैं।"

मतिरामग्रंथावली की भूमिका पृ० ४

शृंगार रस की प्रधानता

शृंगार रस की व्यापकता के विषय में जो कुछ लिखा गया उसे आपने अवलोकन कर लिया. दूसरी विशेषता इस रस में यह है कि यही सब रसों में प्रधान और आदिम माना जाता है—प्रकृतिवाद-कार लिखते हैं—

श्रृंगार—सं० पु० आद्यरस—ईहाते रति स्थायीभाव—पृ० ९९२
हिन्दी शब्दसागर में श्रृंगार के विषय में यह लिखा गया है—

श्रृंगार—सं० पु० साहित्य के अनुसार नौ रसों में से एक रस जो सबसे अधिक प्रसिद्ध है, और प्रधान माना जाता है।……… इसका स्थायीभाव रति है।………यही एक रस है जिसमें संचारी विभाव, अनुभाव, सब भेदों सहित होता है, और इसी कारण इसे रस राज कहते हैं। पृ० ३३४५

आचार्य केशवदास कहते हैं—

नवहूं रस को भाव बहु तिनके भिन्न विचार।
सबको केसवदास कहि नायक है सिंगार।—रसिक-प्रिया

कविपुंगव देव कहते हैं—

भूलि कहत नव रस सुकवि सकल मूल सिंगार।—कुशल-बिलास

कविवर पद्माकर कहते हैं—

नव रसमें सिंगार रस सिरे कहत सब कोय।—जगद्विनोद

भोजदेव अपने श्रृंगारप्रकाश नामक ग्रंथ में लिखते हैं—

श्रृंगारवीरकरुणाद्भुतहास्यरौद्र वीभत्सवत्सलभयानकशांत नाम्नः।
आम्नासियुर्दशरसान् सुधियोवंदंति श्रृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः॥

श्रृंगार, वीर, करुणा, अद्भुत, हास्य, रौद्र, वीभत्स, वत्सल, भयानक, और शान्त नामक दस रस बुद्धिमानों ने बतलाये हैं, किन्तु आस्वादन पर दृष्टि रखकर श्रृंगार ही रस माना जा सकता है।

प्रकृतिवादकार श्रृंगार को आद्य रस बतलाते हैं, कविपुंगव देव की सम्मति यह है कि सब रसों का मूल श्रृंगार है, अतएव लगभग दोनों का एक ही सिद्धान्त है। मैंने भी रस निरूपण में अग्निपुराण के आधार से यह प्रतिपादित किया है कि आद्य रस श्रृंगार ही है, और सब रसों की उत्पत्ति इसीसे हुई है, अतएव श्रृंगार रस का

प्राधान्य स्पष्ट है। कामदेव को शृंगारयोनि और शृंगारजन्मा कहते हैं, इसलिये काम का उत्पादक शृंगार है, यह स्वीकार करना पड़ता है। साहित्यदर्पणकार की भी सम्मति यही है, पहले के पृष्ठों में इसकी चर्चा हो चुकी है। सृष्टि का सृजन काम पर ही अवलम्बित है, ऐसी अवस्था में भी सब रसों में शृंगार को ही प्रधानता प्राप्त होती है।

मैंने स्थान विशेष में काम और रति को शृंगार का जनक और जननी भी लिखा है। कारण, भरत मुनि का यह वाक्य है—

'तत्र शृंगारो नाम रतिस्थायिभावप्रभवः उज्वलवेषात्मकः'

'शृंगार' रति स्थायिभाव से उत्पन्न हुआ है, और उज्वल वेषात्मक है।

जब शृंगार रति से उत्पन्न है, तो वह उसकी जननी हुई, और उसका पति कामदेव उसका जनक है—यह स्पष्ट है। किन्तु इस स्थानपर शृंगार से आद्य अथवा मूल शृंगार से नहीं, वरन् उस शृंगार से मतलब है, जिसको दम्पति का सम्मिलन अथवा स्त्री-पुरुष का सांसारिक सृजन सम्बन्धी कार्य कह सकते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं—

जग पितु मातु महेस भवानी।
तेहि शृंगार न कहौं बखानी॥

यह शृंगार भी इतना व्यापक है कि प्राणियों क्या, पेड़ों और लता बेलियों में भी उसकी उपस्थिति पाई जाती है। जनक ही जननी में पुत्र-रूप से उत्पन्न होता है, यह सभी जानता है, 'आत्मा वै जायते पुत्रः'। महाभारतकार भी यही लिखते हैं—

आत्मात्मनैव जनितः पुत्र इत्युच्यते बुधैः।
तस्माद्भार्याम् नरः पश्येन्मातृवत्पुत्रमातरम्॥

बुद्धिमानों का कथन है कि आत्मा ही पुत्र रूप में उत्पन्न होती

है, इसलिये नर को स्त्री को मातृ-रूप में देखना चाहिये, क्योंकि पुत्र की माता वही है। ऐसी अवस्था में मूल शृंगार से इस शृंगार में विशेष अन्तर नहीं पाया जाता, फिर भी कुछ अन्तर अवश्य है। इसी अन्तर पर दृष्टि रखकर काम को उसका जनक और रति को उसकी जननी माना जाता है। अस्तु।

हिन्दी शब्दसागरकार कहते हैं कि इसी एक रस में सब संचारीभाव विभावों एवं अनुभावों सहित आते हैं, इसीलिये इसे रस-राज कहते हैं। मैं भी इस सिद्धान्त को मानता हूँ, परन्तु कुछ लोगों की सम्मति है कि सब संचारी भाव शृंगार रस में भी नहीं आते, साहित्यदर्पणकार लिखते हैं—

त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्यजुगुप्सा व्यभिचारिणः।

उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा को छोड़कर सब व्यभि-चारी अथवा संचारी भाव इसमें आते हैं।

महामुनि भरत लिखते हैं—

'व्यभिचारिणश्चास्यालस्योग्र्यजुगुप्सा वर्जम्'

व्यभिचारियों में त्रास, आलस्य, उग्रता, और जुगुप्सा शृंगार में नहीं आते।

साहित्यदर्पणकार ने त्रास नहीं रक्खा, उसके स्थान में मरण रक्खा है। शेष त्यज्य संचारी भावों के विषय में दोनों आचार्यों की एक सम्मति है॥

मैं देखना चाहता हूँ कि जिन संचारी भावों को त्यज्य बतलाया गया है, साहित्यकार उनका प्रयोग शृंगार रस में करते हैं या नहीं। पहले तो यही देखिये कि जिस मरण संचारी को सर्वथा अमंगल-मूलक माना है, जिसके विषय में साहित्यदर्पणकार यह लिखते हैं—

'रसविच्छेदहेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते'

'रस का विच्छेदक होने के कारण शृंगार रस का वर्णन नहीं

किया जाता, वही मरण काम दशा की दश दशाओं में से एक है, क्योंकि अन्तिम अवस्था वही है। फिर उसका वर्णन शृंगार में क्यों न होगा। यद्यपि वे लिखते हैं—

जातप्रायं तु तद्वाच्यं चेतसा कांक्षितं तथा।
वर्ण्यतेऽपि यदि प्रत्युज्जीवनं स्याददूरतः॥

"मरण तुल्य दशा का वर्णन कर देना चाहिये, और चित्त से आकांक्षित मरण का भी वर्णन कर देना चाहिये। यदि फिर शीघ्र ही पुनर्जीवित होना हो तो मरण का भी वर्णन कर देते हैं"

विशेष दशा में ही सही, किन्तु यदि मरण का वर्णन किया जाता है, तो शृंगार रस में उसका वर्णन हो गया, फिर उसका त्याग कहाँ हुआ? चित्त से आकांक्षित मरण भी मरण दशा का वर्णन ही है, चाहे उसमें अधिक रस-विच्छेद भले ही न होता हो। भारतेन्दुजी के निम्नलिखित पद्य में इसी भाव की व्यंजना है, परन्तु है मरण का ही वर्णन—

'एहो प्रानप्यारे विन दरस तिहारे भये मुये हूँ पै आँखें ए खुली ही रह जायँगी'

कुछ लोगों की यह सम्मति है कि यदि यह बात सत्य है कि वियोग जनित पीड़ाधिक्य मरण का कारण भी होता है, तो उसका वर्णन क्यों न किया जावे। वियोग की वास्तविक अन्तिम दशा पर दृष्टि रखकर ही आचार्यों ने मरण को काम की दश दशा में स्थान दिया है, फिर उसकी उपेक्षा क्यों? कविवर बिहारीलाल ऐसे ही विचारवालों में ज्ञात होते हैं। उन्होंने निम्नलिखित पद्य में मरण का वर्णन किया है—

कहा कहौं वाकी दसा हरि प्रानन के ईस।
विरह ज्वाल जरिबो लखे मरिबो भयो असीस॥

फ़ारसी के कवि और उन्हींकी देखा-देखी उर्दू के कवि मरण दशा का वर्णन बड़े जोश-खरोश के साथ करते हैं। मरण समय की समस्त वेदनाओं, उस काल की अदर्शनीय यंत्रणाओं, पीड़ाओं और वीभत्सकाण्डों को मज़े ले लेकर कहते हैं। क़ब्र में की आरज़ूओं और तमन्नाओं को दिल खोलकर सामने रखते हैं। क़तल के वक़्त के तमाम नज़ारों को इस तरह क़लम बन्द करते हैं कि उस समय का दृश्य आँखों के सामने आ जाता है, फिर भी अमंगल कामना उनके हृदय में घर नहीं करती—इसको विचार-विभिन्नता छोड़ और क्या कहें। कुछ उनकी तबीयतदारी देखते चलिये—

लाश पर इबरत यह कहती है 'अमीर'।
आये थे दुनिया में इस दिन के लिये॥
क़रीबे क़ब्र हम आये कहाँ-कहाँ फिर कर।
तमाम उम्र हुई जब तो अपना घर देखा॥
ख़ुशी न हो मुझे क्योंकर क़ज़ा के आने की।
ख़बर है लाश पर उस बेवफ़ा के आने की॥
लगी ठोकर जो पाये दिल रुबा की।
महीनों तक मेरी तुरबत हिला की॥
कहते हैं आज 'ज़ौक़' जहाँ से गुजर गया।
क्या ख़ूब आदमी था ख़ुदा मग़फ़रत करे।

प्रयोजन यह कि किसी प्रकार हो, परन्तु मरण दशा का वर्णन शृंगार रस में होता है। शृंगार रस के स्तम्भ, रोमांच, स्वरभंग, कम्प और वैवर्ण्य का भय अथवा त्रास भी हेतु होता है। प्रायः आलस्य ही जृम्भा का कारण होता है, ये सब सात्विक भाव हैं। विब्बोक हाव शृंगार के ही अन्तर्गत है, इसमें जुगुप्सा और उग्रता दोनों संचारी भाव पाये जाते हैं, इसके अतिरिक्त प्रौढ़ा अधीरा और

मानिनी नायकाओं के हृदय में भी अनेक अवसरों पर दोनों संचारी भाव बड़े उग्र रूप में प्रकट होते हैं—कुछ प्रमाण लीजिये—

"नखते सिखलौं पटनील लपेटे लली सब भाँति कँपै डर पै।
मनो दामिनी सावन के घन मैं निकसै नहीं भीतर ही तरपै।"
भई भीति बस प्रीति बस किधौं भयो यवि पात।
उर धरकत थरथर कँपत कत तिय तेरो गात।
दरदर दौरति सदन दुति सम सुगंध सरसाति।
सेज परी आलस भरी तोरति अंग जम्हाति।
'जैहै जो भूखन काहू तिया को तो मोल छला के लला न बिकै हो।
'छैल छबीले छुओगे जो मोहिं तो गात मैं मेरे गुराई नरैहै।'
रहे देखि दृग है कहा? तोहि न लाज की छूत।
मैं बेटी वृषभानु की, तू अहीर को पूत।
कत मोढिग आवत रहत बकत कहा बेकाज।
तो पै कहा परी न जो गिरी लाज पै गाज।

ऐसी दशा में यह स्वीकार करना पड़ता है कि जो वर्जित संचारी भाव हैं, प्रयोजनवश वे भी उसमें गृहीत होते हैं, फिर यह क्यों न माना जाय कि इस रस में सब संचारी भाव आते हैं। वास्तविक बात तो यह है कि जीवन सम्बन्धी घटनाओं का जितना अधिक सम्बन्ध शृंगार रस से है, अन्य रसों से नहीं। दाम्पत्य जीवन में घटना सूत्र से जितनी मानसिक वृत्तियों का विकास एवं विविध नायिकाओं के आधार से जितने भावों का आविर्भाव शृंगार रस में होता है, अन्य रसों में हो ही नहीं सकता, क्योंकि प्रायः नूतन घटनाएँ उनमें संघटित नहीं होती, इसलिये उनमें समस्त संचारी भाव आ ही नहीं सकते। और रसों से शृंगार रस की यह बहुत बड़ी विशेषता है, इसलिये उसे रसराज माना जाता है। यह भी उसकी प्रधानता की ही दलील है।

शृंगार रस के ग्रन्थों में जहाँ रसों का वर्णन किया गया है, वहाँ सब रसों के संचारी भावों का निर्देश मिलता है। शृंगार रस को छोड़कर शेष आठ रसों में प्रत्येक में आधे से भी कम संचारी भाव आते हैं, किसी-किसी में तो चार-पाँच ही। इसीलिये भोजदेव कहते हैं कि रसन शक्ति जैसी शृंगार रस में है और जैसा आस्वादित वह होता है अन्य रस नहीं। मैं पहले बतला आया हूँ कि संसार के प्राणि-मात्र इस रस के रसिक हैं। क्योंकि जैसी ही इसकी विस्तृत व्यापकता है, वैसा ही विस्तृत इसका आस्वादन है। शान्त रस का स्वाद पशु-पक्षी, कीट-पतंग को क्या मिलेगा। हास्य मनुष्य को छोड़कर संसार के किसी प्राणी में नहीं मिलता। विश्व का वैचित्र्य विस्मयमूलक है, यह निश्चय ही अद्भुत रस का जनक है। इस विस्मयका बोध पशु-पक्षी आदि को नहीं होता, क्योंकि इसका लक्षण उनमें नहीं देखा जाता। प्रातः काल की विलक्षणता पक्षियों को विमुग्ध नहीं करती, वरन् उसका सौन्दर्य्य। इसी प्रकार मयूर मेघ की छटा और पिक कुसुमाकर का विकाश अवलोकनकर मत्त होता है, उनका वैचित्र्य देखकर नहीं। मल-मूत्र अथवा निन्दनीय पदार्थ देखकर घृणा करना मनुष्य की प्रकृति है, अन्य प्राणियों में यह अनुभव शक्ति नहीं होती, इसलिये वीभत्स रस के पात्र भी वे नहीं होते। पक्षियों में स्वच्छ रहने की प्रकृति देखी जाती है, किसी किसी पशु में भी, किन्तु इसका हेतु मल से घृणा नहीं, सौंदर्य्यप्रियता है, जिसका आधार शृंगार है। पशु पक्षियों में, कई एक जलचर जन्तुओं में शोक की मात्रा पाई जाती है, शोक करुण रस का स्थायीभाव है, अतएव इन सबों में करुण रस का अभाव नहीं माना जा सकता, परन्तु मनुष्य जाति में यह रस जिस परिष्कृत और व्यापक रूप में है, जैसा आस्वादन इस रस का वह करता है, अन्य नहीं। वीर और रौद्ररस के विषय में भी यही बात कही जा सकती है, जिनके स्थायीभाव

उत्साह और क्रोध हैं। चींटी भी दबने पर काटती है, और उत्साह की तो वह मूर्ति होती है, परन्तु उनके क्रोध में क्षमा को स्थान नहीं और न उनके उत्साह में परहितपरायणता है, अतएव इन दोनों रसों का आस्वादन भी जितना मनुष्य करता है, अन्य प्राणी नहीं; परन्तु प्रश्न यह है कि विशेषता लाभ करने पर भी क्या मानव करुण, रौद्र एवं वीर का उतना ही आस्वादन करता है, जितना शृंगार रस का? यदि नहीं तो अन्य प्राणियों का जीवन शृंगार-रस-सर्वस्व क्यों न होगा। हाँ, भय ही एक ऐसा रस है जिसका आस्वादन प्राणिमात्र को समान भाव से होता है। कहा भी है, 'आहारनिद्राभय मैथुनं च समानमेतत् पशुभिर्नराणाम्' परन्तु जैसा सहचर शृंगार रस है, भय नहीं। भय कभी होता है, कभी नहीं। उसका विकराल मुख मण्डल सदा नहीं डराता रहता, परन्तु शृंगार रस सौंदर्य्य का विकाश कब नहीं लुभाता। यह बात समस्त प्राणियों के विषय में कही जा सकती है।

जब इन बातों पर दृष्टि दी जाती है, तब यह स्वीकार करना पड़ता है कि वास्तव में जितना व्यापक, उदात्त एवं सर्वदेशी, शृंगार रस का आस्वादन है, अन्य रसों का नहीं। यह भी उसकी प्रधानता का असाधारण प्रमाण है। फिर भी कुछ बातें ऐसी हैं, जिनपर और विचार होना आवश्यक है। साहित्यदर्पणकार के पितामह यह कहते हैं—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कार सारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतोरसः।
तस्माददद्भुतमेवाह कृतीनारायणो रसम्॥

उत्तर रामचरित्रकार यह लिखते हैं—

एकोरसः करुणएव निमित्त भेदाद्भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।
आवर्त्त बुद्बुद्तरंगमयान् विकारान् अम्भोयथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥

इसी प्रकार कोई हास्य को प्रधानता देता है, और कोई शान्त

को। एक विद्वान् ने भक्ति को रस मान कर उसीको सब में प्रधान बतलाया है।

सब रसों में चमत्कार साररूप से प्रतीत होता है, इसलिये सर्वत्र अद्भुत रस पाया जाता है, इस सिद्धान्त पर दृष्टि रखकर पं० प्रवर-नारायण एक अद्भुत रस को ही स्वीकार करते हैं। प्रत्येक रस जब पूर्ण विकसित अवस्था में होता है, तभी उसकी रस संज्ञा सार्थक होती है। यदि करुण रस विकाश-प्राप्त है, तो अवश्य शोकस्थायी भाव प्रबल होगा, ऐसी दशा में यदि चमत्कार के आधार विस्मय ने आकर उसको दबादिया तो करुण का स्थान अद्भुत ने ग्रहण कर लिया, उसको रसत्व प्राप्त ही नहीं हुआ, फिर उसकी सत्ता कैसे लोप हुई। दूसरी बात यह कि यदि पूर्णता प्राप्त करुणरस में चमत्कार का भी प्रवेश हो गया, तो विस्मय के आधार से अद्भुत रस उसका सहकारी मात्र होगा, इसलिये उसका स्थायीभाव, संचारी बन जावेगा, तब उसको रसत्व प्राप्त ही न होगा, फिर वह प्रधान कैसे बन बैठेगा। ऐसी दशा में पं० जी का कथन युक्ति संगत नहीं, आशा है, यह बात समझ में आ गई होगी। इस विषय में श्रीमान् पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने रहस्यवाद, नामक ग्रंथ के पृष्ठ ६७ में जो लिखा है, वह नीचे उद्धृत किया जाता है—उससे भी मेरे कथन की पुष्टि होती है।

"पण्डितजी (नारायण पंडित) ने इस बात पर ध्यान न दिया कि रस के भेद प्रस्तुत वस्तु या भाव के विचार से किये गये हैं, अप्रस्तुत या साधन के विचार से नहीं। शृंगाररस की किसी उक्ति में उसके शब्द विन्यास आदि में जो विचित्रता होगी, वह वर्णनप्रणाली की विचित्रता होगी, प्रस्तुत वस्तु या भाव की नहीं। अद्भुत रस के लिये स्वतः आलम्बन विचित्र अथवा आश्चर्यजनक होना चाहिये शृंगार का वर्णन कौतुकी कवि लोग कभी-कभी वीर रस की सामग्री

अलंकार रूप में रखकर किया करते हैं। क्या ऐसे स्थानों पर शृंगार-रस न मानकर वीररस मानना चाहिये ?

करुणरस के विषय में उत्तर रामचरितकार ने जो लिखा है, उसके प्रतिपादन में उन्होंनेकोई युक्ति नहीं दी। वे केवल इतना ही कहते हैं।

'एक करुणरस ही निमित्त भेद से भिन्न होकर पृथक्-पृथक् परिणामों को ग्रहण करता है, जल के आवर्त्त, बुद्बुद, तरंगादि जितने विकार हैं, वे समस्त सलिल ही होते हैं।

करुणरस का स्थायी भाव शोक है, शोक उसी के विषय में होता है, जिससे रति अर्थात् प्रीति है। प्रीति के अभाव में शोक हृदय में स्थान पा ही नहीं सकता। जब हम किसी प्राणी को कष्ट में देखते हैं, अथवा उसको विपन्न पाते हैं, तो हमारे हृदय में शोक का आविर्भाव इसलिये होता है, कि उसमें हमारी ममता होती है। ममता ही प्रेम, प्रीति अथवा स्नेह की जननी है। यही प्रीति जब द्रवणशीला होती है, तब दया कहलाती है, करुणा अधिकतर दयावलम्बिनी होती है, इस लिये यह मानना पड़ेगा कि प्रीति के अभाव में करुणा का जन्म ही न होगा, फिर उसका विकार प्रीति कैसे होगी ? यदि कहा जावे कि प्राणी होने के नाते प्राणियों में स्वाभाविक आत्मीयता हो सकती है, किन्तु अनेक अवसरों पर वेलि, लता, पुष्पादि की दशा पर क्यों करुणा होती है ? तो इसका उत्तर यह है कि मनुष्य ने उन्हींमें से होकर मानव-जीवन लाभ किया है, अतएव उनके साथ भी उसकी स्वाभाविक ममता होती है। प्राणि-शास्त्र-विशारद आज इस बात को मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं। दूसरी बात यह है कि वनस्पतियों से मनुष्य जाति का बड़ा उपकार होता है, वे उसके चिर सहचर हैं, उनका प्रत्येक अंश उसके काम आता है। उनके पत्र पुष्प संसार सौंदर्य्य के सर्वस्व हैं, उनकी हरियाली लोकलोचन विभूति है, ऐसी दशा में मनुष्य जाति का उनसे स्नेह होना स्वभाव सिद्ध है।

फिर उनको म्लान और विपन्न देखकर उसका हृदय सकरुण हो तो क्या आश्चर्य ! रति से करुण रस की उत्पत्ति मैं पहले भी सिद्धि कर चुका हूँ। इसलिये शृंगार रस की उत्पत्ति करुण रस से किसी प्रकार स्वीकृत नहीं हो सकती। अन्यरसों के बारे में भी ऐसी बातें कही जा सकती हैं, परन्तु यह प्रस्तुत विषय नहीं है, इसलिये छोड़ता हूँ।

हास्य रस के विषय में मैं पहले लिख आया हूँ कि वह मनुष्य तक परिमित है, इसलिये न तो वह शृंगार रस के इतना व्यापक है और न उसके इतना आस्वादित होता है, उसमें सृजन शक्ति भी नहीं है, अतएव वह अपूर्ण और गौणभूत है। यदि शृंगार रस जीवन है तो वह है आनन्द, यदि वह प्रसून है तो यह है विकास, जिससे दोनों में आधार आधेय का सम्बन्ध पाया जाता है, आधेय से आधार का प्रधान होना स्पष्ट है। किसी-किसी का यह तर्क है कि शृंगार रस यौवन तक परिमित है, परन्तु हास्य रस समान भाव से बाल्यावस्था, यौवन और वृद्धावस्था तीनों में उदित रहता है, इसलिये शृंगार पर उसकी प्रधानता क्यों न मानी जावे। इस विचार में एक देश-दर्शन है, क्योंकि शृंगार का एक देशी रूप सामने रक्खा गया है। तर्क कर्ता ने सर्व देशी शृंगार रस के व्यापक रूप पर दृष्टि डाली ही नहीं। यदि उसके उद्दीपन विभावों को ही सामने रक्खा जाता तो ऐसी बात न कही जाती। क्या मलयानिल युवकों को ही मुग्ध बनाता है, बाल-वृद्ध को नहीं ? क्या हँसता हुआ मयंक, रस बरसते हुए घन, पुष्प-संभार-विलसित वसंत, पपीहे की पिहक, कोकिल की काकली और मयूर का नर्त्तन, बालक और वृद्ध को आनन्द निमग्न करने की सामग्री नहीं हैं ? क्या ललनागण का सौंदर्य्य वृद्धजनों को विमुग्ध नहीं बनाता, क्या उनका मधुरालाप, उनका मनोहर कण्ठ और उनका स्वर्गीय गान; उनकी सुखी

धमनियों में रक्त का संचार नहीं करता ? क्या बालिकाओं के भोले-भाले रूप का बालकों पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता ? क्या वे उनकी ललित लीलाओं पर मोहित नहीं होते ? फिर इस प्रकार की अनर्गल बातों का क्या अर्थ ? किसी-किसी का यह कथन भी है कि जीवन सुख-दुःख पर ही अवलम्बित है, दुःख का रोदन और सुख का हास सम्बल है। इसलिये जीवन का सम्बन्ध जितना करुण रस और हास्य से है, अन्य किसी रस से नहीं। किन्तु शृंगार के अस्तित्व में आये विना दुःख-सुख की कल्पना हो ही नहीं सकती, अग्निपुराण के आधार से यह बात प्रतिपादित हो चुकी है और किस प्रकार शृंगार से हास्य रस और करुण रस की उत्पत्ति होती है। यह भी बतलाया जा चुका है, फिर इस प्रकार की आपत्तियाँ कहाँ तक संगत हैं। मेरा विचार है जिस पहलू से विचार किया जावेगा, शृंगार पर हास्य को प्रधानता न मिल सकेगी।

शान्त रस की कल्पना त्याग और विरागमय है। मनुष्य को छोड़कर अन्य प्राणियों में इस भाव का अभाव है। मनुष्यों में भी इने-गिने लोगों में ही इसका यथार्थ विकाश देखा जाता है। अन्तर्जगत से इसका जितना सम्बन्ध है, उतना बाह्य जगत से नहीं। संसार क्षेत्र में जितना कार्य्य शृंगार का है, शान्त का नहीं। इसीलिये महात्मा भरत ने इसकी गणना रसों में नहीं की, उन्होंने आठ रस ही माने हैं। बाद के आचार्य्यों ने इसकी गणना रसों में की है, किन्तु किसीने उसको सर्वप्रधान रस बनाने की चेष्टा अबतक नहीं की, इसलिये मैं भी इस बात को नहीं उठाना चाहता। अब रहे वीर, रौद्र, भयानक और वीभत्स। वीभत्स और भयानक 'यथा नामस्तथा गुणः हैं, उनकी चर्चा ही क्या। पहले मैं यह लिख भी आया हूँ कि इनसे शृंगार में क्या विशेषता है, इसलिये इनको छोड़ता हूँ। वीर

और रौद्र रस प्रधान रसों में हैं। वीर का स्थायी भाव उत्साह और रौद्र का क्रोध है। प्राणी मात्र के जीवन के लिये दोनों की बड़ी आवश्यकता है। क्रोध के अभाव में आत्मसंरक्षण नहीं हो सकता और उत्साह के अभाव में जीवन यात्रा का यथार्थ निर्वाह नहीं हो पाता। वीर भाव जीवन को जाग्रत् और रौद्र भाव उसको सतर्क रखता है। संसार कार्य्य क्षेत्र उत्साह से हरा-भरा है और क्रोध से सुरक्षित। संसार की शान्ति वीरता का मुख देख जीती हैं और विश्व के दुर्जन, क्रोध की लाल आँखें देख कम्पित होते हैं। वीर के गले के विजय हार से बसुन्धरा सुगन्धित है और रौद्र के रक्त रंजित तलवार से दानवी कदाचार कुण्ठित। उत्साह हो चाहे क्रोध, वीर रस हो चाहे रौद्र रस, उनके जो संदेश अथवा लोकोपकारक भाव हैं, उनमें जो पवित्रता, उत्तमता, उज्ज्वलता और दर्शनीयता हैं वे सब शृंगार समर्पित विभूतियाँ हैं। शृंगार द्वारा ही वे उन्हें प्राप्त हुई हैं, क्योंकि 'यत्किंचिल्लोकेशुचिमेध्यमुज्वलम् दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोपमीयते।' ऐसी अवस्था में शृंगार ही उनका शृंगारक और उस हेतु का मूल है, जिसके लिये मंगलमय विश्व में उनकी सृष्टि हुई। अतएव इन दोनों रसों को भी शृंगार से प्रधानता नहीं मिल सकती।

किसी-किसी ने वात्सल्य रस को दसवाँ रस माना है और कुछ लोगों ने भक्ति को भी रस में परिगणित करने की चेष्टा की है। इतना ही नहीं, इनको सर्वप्रधान भी कहा गया है। वात्सल्य रस शीर्षक एक बहुत बड़ा लेख आगे आपलोगों को मिलेगा। मैंने उसमें इन दोनों के रसत्व के विषय में बहुत कुछ लिखा है, परन्तु इनको रसों में स्थान नहीं दे सका। कारण इसका यह है कि वत्सलता एवं भक्ति रति का ही एक रूप है। माँ की सन्तान विषयिणी रति वत्सलता है और भक्तों की ईश्वर विषयिणी रति भक्ति

इसलिये इनमें परस्पर ऐसी भिन्नता नहीं कि इनको अलग एक र
माना जावे। ज्ञात होता है, प्राचीन बड़े-बड़े आचार्य्यों ने भी य
विचार कर वत्सलता और भक्ति को अलग रस नहीं माना। र
की व्यापकता कितनी है, मैं भली-भाँति इसका प्रतिपादन कर चु
हूँ, ऐसी अवस्था में भक्ति का अथवा वात्सल्य रस का उसमें अन्त
र्भाव होना असंगत नहीं। जन साधारण अथवा मानव की प्रीति ह
यथा काल व्यापक होकर ईश्वरीय प्रेम अथवा भक्ति में परिण
होती है, यह भी एक अनुभूत सिद्धान्त है। इससे भी भक्ति औ
रति की एकता ही निश्चित होती है, मात्रा में भले ही कुछ अन्त
हो। इस सिद्धान्त पर उपनीत होने पर उस विवाद का निराकरण
हो जाता है, जो वात्सल्य और भक्ति को अलग रस मानने से उत्प
होता है। क्योंकि जब वे शृंगार के ही अंगभूत हैं तो फिर उन
परस्पर प्रधान और अप्रधान होने का तर्क कैसा? एक प्रकार
और इस विषय को देखिये। देव विषयिणी रति को आचार्यों
भाव माना है, इसलिये ईश्वर विषयक रति भी भाव ही है, पु
प्रेम को भी भाव ही कहा गया है—काव्यप्रकाशकार कहते हैं—

"रतिर्देवादि विषया व्यभिचारी तथाञ्जितः। भावः प्रोक्तः
आदि शब्दान्मुनिगुरुनृपपुत्रादिविषया॥"

काव्यप्रकाश के टीकाकार लिखते हैं—"अनुभावादिभिरपुष्टायाश्चन रसत्वम् किन्तु भावत्वमेवेतिभाव।" अनुभावादि से जो अपुष्ट होते है
उनको रसत्व नहीं प्राप्त होता, वे भाव ही रहते हैं। ऐसी दशा
भाव से रस का स्थान ऊँचा हुआ। यदि देव एवं पुत्र रति की
गणना भाव ही में है, जैसा कि ऊपर के वाक्यों से सिद्ध होता है
तो भी शृंगार रस को वात्सल्य भाव और भक्ति (देव रति) प
प्रधानता ही मिलती है। अब तक जो कुछ कहा गया उससे शृंगार
र स की प्रधानता ही प्रतिपादित हुई, और यही इष्ट था।

श्रृंगार रस का साहित्य

'सहितस्यभावः साहित्यम्' जिसमें सहित का भाव हो, उसको साहित्य कहते हैं। इस सहित की व्याख्या क्या है? उसे 'हिन्दी शब्दसागर' के निम्नलिखित अवतरण में देखिये—

साहित्य—संज्ञा पुं० (संस्कृत) (१) एकत्र होना, मिलना, मिलन (२) वाक्य में पदों का एक प्रकार का सम्बन्ध जिसमें वे परस्पर अपेक्षित होते हैं और उनका एक ही क्रिया से अन्वय होता है। (३) किसी एक स्थान पर एकत्र किये हुए मिलित उपदेश, परामर्श या विचार आदि। लिपिबद्ध विचार या ज्ञान। (४) गद्य और पद्य सब प्रकार के उन ग्रन्थों का समूह जिनमें सार्वजनीनमानव भाव बुद्धिमत्ता तथा व्यापकता से प्रकट किये गये हों।—पृ० ३५२६

प्रकृतिवाद में साहित्य शब्द का यह अर्थ लिखा है—

साहित्य—(सहित + य—भावे इत्यादि) सं० क्लो० संसर्ग, मिलन। शब्द शास्त्र, काव्य शास्त्र, सम्बन्ध विशेष, एकक्रियान्वयित्व।

शब्द विवेककार कहते हैं—

परस्परं सापेक्षाणाम् तुल्यरूपाणाम् युगपदेकक्रियान्वयित्वं साहित्यम्।

शब्द शक्ति प्रकाशिकाकार कहते हैं—

तुल्यवदेकक्रियान्वयित्वंबुद्धिविशेष विषयित्वं वा साहित्यम्।

शब्द कल्पद्रुमकार कहते हैं—

मनुष्यकृत श्लोकमयग्रन्थविशेषः साहित्यम्।

कवीन्द्र रवीन्द्र क्या कहते हैं, उसे भी सुनिये—

'साहित्य का विषय मानव हृदय एवं मानव चरित्र है'।

'मानव चरित्र ही नहीं। वस्तुतः वहिः प्रकृति और मानव चरित्र मनुष्य के हृदय में अनुक्षण जो आकार धारण करता है,

जो संगीत ध्वनित करता रहता है, भाषा रूप में परिणत वह चरित्र तथा वह गान ही साहित्य कहलाता है।' —साहित्य पृ० ५

संसार सौंदर्य्यमय है, हमारी दृष्टि जिधर जाती है, उधर ही सौंदर्य्य का विकाश दृष्टिगत होता है। आकाश के उज्वल नक्षत्र यदि अन्तस्तल में अद्भुत भाव उत्पन्न करते हैं, हृदय को विमुग्ध रखते हैं, तो धरातल के कुसुम कदम्ब, हरे-भरे वृक्ष, ललित लतिकाएँ और तरह-तरह के दूसरे दृश्य मानसों को कम विमोहित नहीं बनाते। इतना ही नहीं, ललनाओं का लावण्य, बालकों का लोकमोहन रूप, उनकी कलित ललित क्रीड़ाएँ, पक्षियों का सुन्दर आकार प्रकार, उनका लोकोत्तरगान, नाना सुस्वरूप पशु वृन्द का केलिकलाप, अनेकों कीट पतंगों का अद्भुत चित्रण, उनके विविध विहार, किसके मन नयन में घर नहीं करते ? सुन्दरसमय, ऋतुओं का मनोहर विकाश, सुसज्जित उद्यान, बाग-बगीचे और रमने, सैकड़ों हास-विलास के उपस्कर, मन के विकार और नाना मोहक भाव, हृदय का सौंदर्य्य, मनोमुग्धकर आलाप, किसको आनन्द में निमग्न नहीं कर देते ? इन सांसारिक सुन्दर से सुन्दर वाह्य एवं आन्तरिक दृश्यों को देखकर लोग मोहित और आनन्दित ही नहीं होते, उल्लसित भी होते हैं। उस दशा में जो भाव हृदय में उत्पन्न होते हैं, जो रस सोत की लहरें मानसों में उठती हैं, आनन्द उद्गार के स्वरूप में बाहर निकलने का उद्योग करती हैं। यही उनका शाब्दिक रूप है। किसी विशेष सहृदय द्वारा वे जब पद्य रूप में परिणत हो जाती हैं, कविता कहलाती हैं। गद्य में भी वे लिखी जाती हैं, किन्तु गद्य से उनका पद्य रूप विशेष मोहक होता है, क्योंकि उसमें संगीत होता है। कवि कर्म्म ही काव्य है और काव्य ही साहित्य। वाह्य जगत से अन्तर्जगत का कवि कर्म्म और साहित्य कम निमोहक और विलक्षण नहीं होता। इसीलिये उच्च कोटि का

साहित्य वही माना जाता है, जिसमें दोनों ही का सुन्दर वर्णन और विश्लेषण हो। कवीन्द्र रवीन्द्र की उक्ति का मर्म, व हिन्दी शब्दसागर के कथन का निचोड़ यही है।

जब मैं संस्कृत भाषा के साहित्य ग्रन्थों को उठाकर देखता हूँ, महाभारत से महान और विशालकाय एवं वाल्मीकि रामायण से मधुर और सरस ग्रन्थों को अवलोकन करता हूँ। कविपुंगव कालिदासादि के काव्य ग्रन्थों, महा विद्वान् मम्मट आदि के रस अलंकारादि सम्बन्धी रीति ग्रन्थों, पर दृष्टिपात करता हूँ। पुराणों और आख्यान पुस्तकों को पढ़ता हूँ, तो सबमें शृंगार रस की धारा प्रखर वेग से बहती मिलती है और सबों में ही वह ओत-प्रोत पाया जाता है। कारण इसका यह है कि सांसारिक जीवन शृंगार सर्वस्व है। सांसारिकता का आधार गार्हस्थ्य जीवन है, गार्हस्थ्य जीवन पुत्र कलत्रावलम्बित है, पुत्र-कलत्र मूर्तिमन्त शृंगार हैं, अतएव सांसारिकता का सम्बल शृंगार है। विश्व के जितने आहार-विहार उपादेय हैं, जितने हास-विलास वांछनीय हैं, जितने केलिकलाप कमनीय हैं, जितनी लीलाएँ लोक प्रिय एवं ललित हैं, जितने आचार-विचार और व्यवहार प्रशंसनीय हैं, उनमें से अधिकांश शृंगार रस के अन्तर्गत हैं, इसीलिये उक्त समस्त ग्रन्थों में उसका ही पूर्ण प्रसार देखा जाता है। कवीन्द्र-रवीन्द्रनाथ एक स्थान पर कवि और महाकवि पर विचार करते हुए अपने प्राचीन साहित्य नामक ग्रन्थ (पृ० १-२) में यह लिखते हैं—

"काव्य को दो भागों में बाँटा जा सकता है, किसी काव्य में अकले कवि की बातें होती हैं और किसी काव्य में वृहत् सम्प्रदाय का इतिवृत्त। अकले कवि की बातें कहने का यह भाव नहीं कि वह अन्य लोगों के लिये ज्ञेय नहीं। यदि ऐसा होता, तो उसे पागलपन कहा जाता। उसका यह अर्थ है कि कवि में ऐसी क्षमता

है कि जिसके भीतर से उसके सुख-दुःख, उसकी कल्पना और उसके जीवन की अभिज्ञता के सहारे, विश्वमानव का चिरन्तन हृदयावेग और जीवन सम्बन्धी मर्म-कथा अपने आप प्रकट हो उठती है।

जैसे एक प्रकार के कवि हैं, वैसे ही दूसरे प्रकार के वे कवि हैं, जिनकी रचना के भीतर से समग्र देश, समग्र युग, अपने हृदय की अभिज्ञता को प्रकट करके उसको मानव जाति की चिरकालिक सामग्री बना देता है।

इस दूसरे प्रकार के कवि को महाकवि कहा जाता है। समग्र देश और समग्र जातियों की सरस्वती इनका सहारा ग्रहण कर सकती है। ये लोग जो रचना करते हैं, उनको किसी व्यक्ति विशेष की रचना नहीं कही जा सकती। ज्ञात होता है मानों वह किसी विशाल वृक्ष के समान देश के भूतल जठर से उत्पन्न होकर उसी देश को ही आश्रयच्छाया प्रदान करते हैं। शकुन्तला और कुमार संभव में विशेष भाव से कालिदास की निपुण लेखनी का परिचय मिलता है। किन्तु रामायण और महाभारत के विषय में यह ज्ञात होता है कि पुण्यसलिला भगवती भागीरथी और अचल हिमाचल के समान वे भारत की ही सम्पत्ति हैं—व्यास एवं वाल्मीकि उपलक्षण मात्र हैं।'

कविवर रवीन्द्रनाथ ने जो कवि और महाकवि की विशेषता बतलाई है, उससे आपको उनलोगों का महत्व भली-भाँति अवगत हो गया होगा, जो संस्कृत-साहित्य के कर्त्ता हैं। कवि होना ही दुस्तर है, महाकवि होना तो 'नाल्पतपसः फलम्' है। ऐसे वन्दनीय कवियों और महाकवियों की रचनाओं में भी जो शृंगार रस का आधिक्य है, उसका क्या कारण? जो पुण्यश्लोक हैं, आर्य आदर्श के स्तम्भ हैं, इस तमसाच्छन्न काल में भी जो आलोक विकीर्ण कर हमको पथ-भ्रान्त नहीं होने देते, क्या उन्होंने बहककर ऐसा किया

है ? ऐसी कल्पना तो स्वप्न में भी नहीं हो सकती। वास्तविक बात यह है कि शृंगार रस की प्रधानता, व्यापकता, उज्ज्वलता और दर्शनीयता ही उसको इस उच्च पद पर आरूढ़ करती आई है। संस्कृत साहित्य ही नहीं, संसार के साहित्य को भी हाथ में उठाकर यदि आप देखेंगे तो उसमें भी शृंगार रस इसी पद पर आरूढ़ मिलेगा। ऐसी अवस्था में यदि हिन्दी-साहित्य में शृंगार रस कुछ अधिक मात्रा में है तो आश्चर्य क्या ! जिस स्वभाविकता सूत्र में संसार की भाषाएँ बँधी हुई हैं, उसे वह छिन्न कैसे करता।

सब काल का आदर्श समान नहीं होता। आदर्श के अनुसार रुचि बदलती है और रुचि के अनुसार साहित्य में भी परिवर्तन होता है। साहित्य अपने समय का दर्पण होता है, जिस काल में उसकी रचना होती है, उस काल का अधिकांश चित्र उसमें यथा तथ्य प्रतिविम्बित रहता है। किसी साहित्य की आलोचना करने के पहले, जिस काल का परिणाम वह साहित्य है, उसपर दृष्टि रखना आवश्यक है। एक काल में भी विभिन्न विचार के लोग होते हैं, किन्तु जो तत्व समाज द्वारा गृहीत हो जाता है, उस समय का आदर्श वही होता है। काल पाकर वह आदर्श उपयोगी न रहे, परन्तु अपने समय में भी वह उपयोगी नहीं था; यह नहीं कहा जा सकता। विधवा-विवाह आर्य जाति में कभी सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा गया, विधवाओं के ब्रह्मचर्य्य पालन और आत्म-संयम की ही प्रशंसा की गई है, और उनके त्याग का ही गुणगान किया गया है। आज इस विचार की कुत्सा की जा रही है और विधवा-विवाह को ही उपकारक माना जा रहा है। विधवा-विवाह प्रचलित भी हो रहा है। किन्तु जिस समय विधवा विवाह को अनुचित ठहराया गया, उस समय वैसा करना हो समुचित नहीं था, यह नहीं कहा जा सकता। साहित्य प्रायः सत्पथ पर चलने की

ही चेष्टा करता है, यह दूसरी बात है कि काल पाकर वह पथ अच्छा न समझा जावे। यह साधारण सिद्धान्त है, अपवाद की बात और है।

संस्कृत-साहित्य का एक काल ऐसा है, जिसमें साहित्य के प्रत्येक अंग का सूक्ष्म विवेचन किया गया है और उसके विशेष अंशों पर गहरी दृष्टि डाली गई है। यह कार्य बड़े त्याग और परिश्रम से किया गया और उसमें इतनी सफलता प्राप्त की गई कि उसको देखकर आज भी पाश्चात्य विद्वान् चकित होते हैं। इस महान् उद्योग में न तो स्वार्थ की गन्ध है, न वासनाओं की बास। उसमें समाज और देश की वरन् लोक की हितकामना हो निहित है, उसके द्वारा अपनी विद्या एवं कला की भी चरमोन्नति की गई है। रस सम्बन्धी गहन विचार भी ऐसा ही कार्य है। शृंगार रस सब रसों में प्रधानता रखता है, इसलिये उसके प्रत्येक अंगों पर साहित्य ग्रन्थों में बड़ा सूक्ष्म विवेचन है। उसका नायिका विभेद-विभाग कला की दृष्टि से अपूर्व तो है ही, उपयोगिता भी उसमें कम नहीं है। साहित्य के जितने उद्देश मैं ऊपर उद्धृत कर आया हूँ वे सब उसमें पाये जाते हैं। उसके कुछ अंश असामयिक समझे जा सकते हैं, परन्तु वास्तव में वे असामयिक हैं या नहीं, इसपर विचार करना होगा और विचार करते समय उस काल पर भी दृष्टि रखना होगा, जिस समय उनकी रचना हुई। इतना ही नहीं, उनको सामने रखकर वर्त्तमान प्रगति पर भी दृष्टि डालनी होगी और मिलान करके देखना होगा, कि वांछनीय कौन है। ऐसा मैं आगे चलकर करूँगा, इस समय मैं यह विचारूँगा कि संस्कृत-साहित्य में नायिका-विभेद की कल्पना कब हुई, संस्कृत-साहित्य-कारों ने उसको किस रूप में ग्रहण किया और फिर वह कैसे पल्लवित हुआ?

संस्कृत साहित्य और नायिका-भेद

समाज नियमन सुगम नहीं। मनोवृत्तियाँ बड़ी प्रबल होती हैं, उनमें अन्तर्दृष्टि नहीं होती, अथवा वे आवरित होती हैं। अपना स्वार्थ उनको जितना प्यारा होता है, परमार्थ नहीं। उनकी उच्छृङ्खलता अन्यों की परतंत्रता अथवा स्वतंत्रता पर दृष्टिपात नहीं करती। उनकी कामुकता इतनी अंधी होती है कि दूसरों की मान मर्यादा को देखती ही नहीं। फिर समाज कैसे चले? यदि सब मनमानी ही करता रहे, तो समाज में नित्य विप्लव ही होता रहेगा, शान्ति रहेगी ही नहीं, फिर सुव्यवस्था कैसे होगी? यदि सुव्यवस्था न होगी तो समस्त कार्यकलाप विशृङ्खल हो जावेंगे, जिसका परिणाम समाज और देश का विनाश होगा। इसी लिये देशकालज्ञ विबुधों ने ऐसे नियम बना रक्खे हैं, या ऐसे नियम यथाकाल बनाते रहते हैं, जिनके पालन से सर्व देश सुरक्षित रहता है और समाज अथवा मानव समूह का उन्नति-स्रोत बन्द नहीं होता। नियम बनाना उतना कठिन नहीं, जितना उसका पालन कराना। भिन्न-भिन्न रुचि और नाना प्रकार की प्रकृति होने के कारण, जब तक नियमों में सामञ्जस्य नहीं होता, तब तक उनका यथारीति न तो पालन होता है, न समाज सुव्यवस्था सूत्र में बँध सकता है। सामञ्जस्य स्थापन के लिये रुचि और प्रकृति का यथार्थ ज्ञान आवश्यक है। समाज दो भागों में विभक्त है, स्त्री और पुरुष उसके विभाग हैं। स्त्री और पुरुषों के स्वभाव में स्वाभाविक बहुत बड़ी-बड़ी भिन्नतायें हैं। इसलिये समाज की सुव्यवस्था के लिये एक को दूसरे की रुचि और प्रकृति का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। इसी प्रकार पुरुष का पुरुष के और स्त्री का स्त्री के भावों एवं विचारों से अभिज्ञ होना वांछनीय है। जहाँ प्रकृति नहीं मिलती, स्वभाव का पूरा परिज्ञान नहीं होता, वहाँ पद-पद पर पतन होता है, और सफलता दूर भागती है। किन्तु जहाँ मनोविज्ञान पर

दृष्टि रखकर कार्य संचालन किया जाता है, वहाँ स्खलन कदाचित् ही होता है, क्योंकि रुचि देखकर और स्वभाव पहचानकर कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होने से असफलता प्रायः सामने आती ही नहीं। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये अनेक साधनों की सृष्टि हुई है। सैकड़ों ग्रंथ लिखे गये हैं, बहुत-सी कवितायें रची गई हैं, और नाना प्रकार की शिक्षाओं का आयोजन नाना सूत्रों से किया गया है। नाट्य शास्त्र की रचना भी इसी उद्देश्य से हुई है, क्योंकि नाटकों के द्वारा मानसिक भावों का प्रत्यक्ष दर्शन कराकर जितना मानवी प्रकृति एवं रुचि का परिज्ञान कराया जा सकता है, अन्य साधनों द्वारा नहीं। नाटकों से मनोरंजन तो होता ही है, मानवी विचारों का सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अंश भी सामने आ जाता है। मेरा विचार है सबसे पहले संसार में इस बात को महामुनि भरत ने सोचा, क्योंकि उनका नाट्य शास्त्र शायद इस विषय का पहला ग्रंथ है। उन्होंने अपने ग्रंथ में नाटक सम्बन्धी सम्पूर्ण बातों का पूर्ण विवेचन कर दिखाया है, और उससे सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्येक विषय का विशद वर्णन भी किया है। रस की कल्पना उन्होंने ही की है, और अनेक मानसिक सूक्ष्म भावों का विश्लेषण भी उन्हींकी लेखनी का कौशल है। उन्होंने स्थायी भाव और संचारी भावों का वर्णन तो किया ही है, नायक-नायिका सम्बन्धी अनेक भावों और विचारों की सुन्दर व्याख्या भी की है, उद्देश्य केवल मनोभावों का यथार्थ पाठ पढ़ाकर समाज का मंगल साधन ही है। नाट्य-शास्त्र के कुछ अध्यायों में उन्होंने जिस प्रकार नायक-नायिकाओं के भेद बतलाकर उनके सूक्ष्म मानसिक भावों का चित्रण किया है, वह दर्शनीय है। उसमें जो कुछ वर्णन किया गया है, मैं समझता हूँ वह मनोविज्ञान विषयक बहुमूल्य सामग्री है। मेरा विचार है, रस और नायिका विभेद आदि के पहले आचार्य्य वे ही हैं। अग्निपुराण में उनके विषय में यह लिखा

है—'भरतेनप्रणीतत्वाद्भारतोरीति रुच्यते' इससे ज्ञात होता है कि वे उसी काल में हुए जिस काल में व्याकरण के आचार्य्य पाणिनि और न्यायदर्शन के आचार्य्य गौतम आदि हुए हैं। उस काल में जिन विषयों का विवेचन हुआ है, वैज्ञानिक रीति से और बड़ी ही गम्भीरता से हुआ है, इसीलिये नाट्य-शास्त्र का प्रत्येक वर्णन भी इसी रंग में डूबा हुआ है।

नाट्य-शास्त्र के छठवें अध्याय में रस का और सातवें अध्याय में भावों का वर्णन है। इन दोनों में आठ रसों और विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों का बड़ा सरस और व्यापक निरूपण है। वे लिखते हैं—

"तत्राष्टौभावास्थापितः। त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणाः। अष्टौसात्विकाः। एवमेतेकाव्यरसाभिव्यक्तिहेतवएकोनपंचाशद्भावाः प्रत्यवगन्तव्या। एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते।"

आठ स्थायी भाव। तैंतीस व्यभिचारी भाव और आठ सात्विक भाव, मिलकर ४९ भाव होते हैं, काव्य में रस अभिव्यक्ति के हेतु वे ही होते हैं। इन्हींसे सामान्य गुण योग द्वारा रस बनते हैं।

यह लिखकर उन्होंने सबका पूर्ण वर्णन किया है और बड़े विस्तार से बतलाया है कि अभिनय के समय उनको कैसे काम में लाना चाहिये। यद्यपि नाट्य-शास्त्र में इनका वर्णन अभिनय के लिये ही हुआ है, किन्तु पीछे इनका उपयोग श्रव्य काव्य में भी आवश्यकता के अनुसार किया गया। नायिका भेद के ग्रन्थों में नायिका तीन प्रकार की मानी गई हैं, यह कल्पना भी नाट्य-शास्त्र से ही ली गई है—उसके २२वें अध्याय में लिखा गया है—

सर्वासामेवनारीणांत्रिविधा प्रकृतिः स्मृता।
उत्तमामध्यमाचैवतृतीयाचाधमास्मृता ॥

प्रकृति के विचार से स्त्रियाँ तीन प्रकार की होती हैं—उत्तमा, मध्यमा और अधमा।

इसी अध्याय में एक दूसरे स्थान पर आठ प्रकार की नायिकाओं का वर्णन है, वे भी इसी रूप में यथातथ्य नायिका-भेद के ग्रन्थों में ले ली गई हैं—वे ये हैं—

तत्र वासकसज्जा वा विरहोत्कंठितापि वा।
खंडिता विप्रलब्धा वा तथा प्रोषितभर्तृका॥
स्वाधीनपतिका वापि कलहान्तरितापि वा।
तथाभिसारिका चैव इत्यष्टौ नायिका स्मृताः॥

इसी अध्याय में काम की दश दशाओं का उल्लेख यों किया गया है—

प्रथमे त्वभिलाषः स्याद्द्वितीयं चिन्तनं भवेत्।
अनुस्मृति तृतीये तु चतुर्थे गुणकीर्तनम्॥
उद्वेगः पञ्चमे प्रोक्तो विलापः षष्ठ उच्यते।
उन्मादः सप्तमे ज्ञेयो भवेद् व्याधिस्तथाष्टमे।
नवमे जड़ता चैव मरणं दशमे भवेत्॥

बाईसवें अध्याय में हावों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

लीलाविलासोविच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिञ्चितम्। मोट्टायितं कुट्टमितं बिब्बोकं ललितं तथा। विर्विहृतश्चेतिसंयुक्ता दशस्त्रीणां स्वभावजाः।

इसी प्रकार से किसी-न-किसी रूप में नायिका भेद की समस्त सामग्री इस ग्रन्थ में मिल जाती है। नायक, नायिका, सखा, सखी और दूतियों के भेद, उपभेद और अवस्थाओं का इतना विशद वर्णन इस ग्रंथ में किया गया है कि अन्य काव्य ग्रन्थों में उनका उल्लेख तक नहीं मिलता। हाँ, छाँटकर कुछ नायक, नायिका, सखा, सखी एवं दूतियों के भेद-उपभेद को उनमें स्थान मिला है, यत्र-तत्र कुछ विशेष बातें भी लिखी गई हैं। कहने का प्रयोजन यह कि नायिका

भेद का उद्गम स्थान नाट्य-शास्त्र ही है। जो नाट्य-शास्त्र लिखता है 'यत्किञ्चिल्लोके शुचिमेध्यमुज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोपमीयते' वह नायिका भेद को कभी ग्रहण न करता, जो उसमें अभव्य भावना होती। वास्तव में उसने लोकहित दृष्टि ही से उसका निरूपण किया है और उसको लिखकर साहित्य के उस अंग को पुष्टि की है, जिसके अभाव में उसका शरीर पूर्ण सशक्त न बन सकता।

नायिका भेद का कुछ वर्णन अग्निपुराण में भी है, परन्तु साहित्य-दर्पण में उसका पूर्ण विकाश देखा जाता है। मैं समझता हूँ आज-कल जिस प्रणाली से नायिका विभेद लिखा जाता है, उसके आदि प्रवर्त्तक साहित्यदर्पणकार ही हैं। रसमंजरी में साहित्यदर्पण की ही छाया दृष्टिगत होती है। यह ग्रंथ ईसवी सोलहवीं शताब्दी का है और केवल नायिका भेद पर लिखा गया है। ग्रंथ अच्छा है और आधुनिक प्रणाली का आदर्श है। उसमें साहित्यदर्पण से कहीं-कहीं कुछ भिन्नता है, पर नाम मात्र को। सम्भव है संस्कृत में नायिका भेद के और ग्रंथ भी हों, किन्तु वे मेरे देखने में नहीं आये। परन्तु अधिकांश काव्य ग्रन्थों में ऐसे वाक्य यत्र तत्र मिल जाते हैं, जिससे पाया जाता है कि उनके रचयिता नायिका भेद से परि-चित अवश्य हैं और उसके प्रेमी भी हैं, चाहे उनकी स्वतन्त्र रचना नायिका भेद पर भले ही न हो। गीतगोविन्द इसका प्रमाण है, जिसके पाँचवें सर्ग में अभिसारिका, छठे में वासकसज्जा, सातवें में विप्रलब्धा, आठवें में खण्डिता, नवें में कलहन्तरिता और दसवें में मानिनी का वर्णन है। ऐसे और ग्रन्थ भी बतलाये जा सकते हैं। कहने का प्रयोजन यह कि संस्कृत साहित्य के बड़े-बड़े आचार्यों और विद्वानों द्वारा भी नायिका विभेद उपेक्षित नहीं हुआ और न उसकी रचना शंका की दृष्टि से देखी गई। यदि उसमें कुछ तत्व और आक-र्षण न होता—उसमें कुछ उपयोगिता न होती तो ऐसा कदापि न होता।

संसार के साहित्य को उठाकर देखिये, उसमें भी यह विषय भरा पड़ा है। संस्कृत के विद्वानों के समान उन्होंने इस विषय का कोई विभाग नहीं बनाया और न उनको नियमबद्ध कर उनपर विशेष विवेचन किया, फिर भी उनको रचनाओं में वे विचार और भाव पाये जाते हैं, जो कि हमारे नायिका विभेद में मिलते हैं। संसार के मनुष्य मात्र के भाव दाम्पत्य धर्म के विषय में अधिकांश एक हैं, क्योंकि प्रकृति प्राय: मिलती है। इसलिये प्राय: विचारों का एक होना स्वाभाविक है। मनुष्य मात्र का हृदय एक उपादान से बना है, इसलिये उनकी स्वाभाविक चिन्ताएँ समान होती हैं। सुख-दु:ख के अनुभव का भाव संसार भर का एक ढंग में ढला देखा जायगा, यदि उसमें कृत्रिमता आकर शामिल न हो गई हो। मैं अपने कथन का प्रमाण दूँगा।

नायिका किसे कहते हैं, जो लोक-सुन्दरी हो, जिसका रूप देखकर आँखें अनुभव करें कि सौन्दर्य्य स्वयं रूप धारण करके सामने आ गया। संस्कृत-हिन्दी-साहित्य में नायिकाओं के रूप का वर्णन आपलोगों ने बार-बार पढ़ा है। एक अँगरेज़ विद्वान् टी-लाज की नायिका को देखिये—

Whith orient pearl, with ruby red,
  With marble white, with sapphire blue.
Her body every way is fed,
  Yet soft in touch and sweet in view.
    Heigh ho, fair Rosalynde !
  Nature herself her shape admires;
The gods are wounded in her sight;
  And love forsakes his heavenly fires,

And at her eyes his brand doth light:
Heigh ho, would she were mine!

'उसकी देह कहीं मोती, कहीं लाल मणि, कहीं श्वेत संगमर्मर और कहीं नीलम से पुष्ट हुई है। परन्तु स्पर्श में कितनी कोमलता है, दर्शन में कितनी मधुरता है! स्वयं प्रकृति उसके रूप की प्रशंसा करती है। देवता तक उसे देखकर मुग्ध हो जाते हैं। कामदेव तो स्वर्ग को छोड़कर उसीके नेत्रों से अपना शर तीक्ष्ण करते हैं। क्या वह मेरी नहीं होगी?

हमारी स्वकीया नायिका का क्या रूप है, उससे साहित्य-सेवी परिचित हैं। उसमें पति-दोष देखने की शक्ति नहीं होती, वह मूर्तिमती प्रेम होती है और सच्ची सहधर्मिणी बनकर रहती है—देखिये जी-डार्ली की नायिका वही है कि दूसरी?

Give me, instead of Beauty's burst,
A tender heart, a loyal mind.
Which with temptation I could trust,
Yet never linked with error find,—
One in whose gentle bosom I
Could pour my seeret heart of woes,
Like the care—burthen'd honey fly
That hides his murmurs in the rose.
My earthly comforter! whose love,
So indefeasible might be
That, when my spirit won above,
Hers could not stay for sympathy.

मैं सुन्दरता की मूर्ति नहीं चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि ऐसा कोमलहृदय हो, ऐसी दृढ़ अविचल बुद्धि हो, जो स्पृहणीय हो।

लोभ में भी मैं जिसपर विश्वास कर सकूँ, परन्तु दोषनिरूपण से जिसका सम्बन्ध न हो। जिससे मैं अपने गुप्त दुःखों की बातें कह सकूँ और जिससे मेरी समस्त चिन्ता और सारा संताप दूर हो जावे।

ऐसी ही नायिका यह कह सकती है—

Were I as h'gh as heaven above the plain,
And you, my love, as humble and as low.
As are the deepest bottoms of the main,
Whereso'er you were, with you my love should go.

यदि मैं मैदान के ऊपर के आकाश की तरह ऊँची होती और तुम, मेरे प्यारे, सबसे गम्भीर समुद्र-तल की तरह नीचे पड़े होते, तो जहाँ-जहाँ तुम रहते, तुम्हारे संग वहीं-वहीं मेरा प्रेम भी रहता।

मध्याधीरा वह है जो आगत अपराधी पति का भी सम्मान करे, जिसके रूखेपन में भी स्निग्धता हो। क्या कालेरिज की निम्नलिखित नायिका ऐसी ही नहीं है ?

But now her looks are coy and cold,
To mine they never reply,
And yet I cease not to behold,
The love light in her eye.

'वह देखती तो मेरी ओर इस ढंग से है, जिससे यह प्रकट हो कि उसमें प्रेम नहीं है, परन्तु उसके नेत्रों में प्रेम की ज्योति है।

अधमा वह है जो प्रेम करने पर भी प्रियतम से रुष्ट रहती है। एक ऐसे ही व्यथित से उसका मित्र क्या कहता है, उसे सुनिये—उसकी पंक्तियों में से अधमा का भाव फूटा पड़ता है—

Why so pale and wan, fond lover ?
Prithee, why so hale ?

Will, when looking well cant move her,
Looking ill pervail?
If of herself she will not love,
Nothing can make her:
The devil take her!

तुम इतने पीले क्यों पड़ गये? जब तुम अच्छे रहे. तब तो उसपर तुम्हारा कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा—वह रूठी ही रही। अब इतना दुःख करने से लाभ क्या? अगर वह स्वयं प्रेम नहीं कर सकती तो किसी तरह मनाने से वह राजी न होगी।

एक व्यथिता परकीया का उदाहरण देखिये—

We' lightsone heart I pu'd a rose,
And my fause bear staw the rose,
Phree off its thorny tree;
But lept the thorn wei' me.

प्रोषितपतिका—जो पति के प्रवास-दुःख से दुःखिता हो उसे प्रोषितपतिका कहते हैं—

Come ye, yet once again, and set your foot by mine,
Whose woful plight and sorrows great no tongue may well define,
My love and lord, alas! in whom consists my wealth,
Hath fortune sent to pass the seas, in hazard of his health.
Whom I was wont t' embrace with welt contended mind

Is now amid toe foaming floods at pleasure
of the wind,

तुम फिर एक बार आओ और मेरे साथ रहो तुम्हारी दुःखमयी दशा और बड़े-बड़े कष्टों का वर्णन कोई जिह्वा अच्छी तरह नहीं कर सकती। मेरे प्यारे और मेरे प्रभु, मेरे जीवन-धन तुम्हीं हो, स्वास्थ्य के लिये आपत्तिजनक होते हुए भी भाग्य ने तुमको समुद्र पार भेज दिया है। तुमको स्पर्श करने से मुझे सन्तोष होता था। हा! अब तुम समुद्र की भीषण लहरों के बीच पड़े होगे।

वासकसज्जा—जो श्रृंगार से सजकर अपने स्थान पर बैठी हुई पति की प्रतीक्षा करती है—

O some where, meek unconscious dove,
That sittest ranging golden hair,
And glad to find thyself so fair
Poor child, that waitest for thy love.

× × × × ×

And thinking this will please him best,
She takes a riband or a rose.

अपने बालों को सँवारती हुई वह अपने प्रियतम की प्रतीक्षा में बैठी है। यह सोचकर कि वह इससे अधिक खुश होगा, वह कभी बालों में रिबन लगाती है, कभी गुलाब।

कलहन्तरिता—जो प्रिय से कलह करके पश्चात्ताप करती है उसे कलहन्तरिता कहते हैं—

I loved him not; and yet, now he is gone,
I feel I am alone.
I checked him while he spoke; yet could he speak,
Alas! I would not check.

मैं उसे चाहती नहीं थी, पर अब वह चला गया है, तो मुझे बिलकुल सूना लगता है। जब वह बोलता था तब तो मैंने उसे रोक दिया। परन्तु अब यदि वह आ जाय और बोले, तो मैं उसे नहीं मना करूँगी।

फ़ारसी और अरबी में भी ऐसे विचारों की कमी नहीं है, परन्तु उनके पद्यों को उठाकर मैं इस लेख को बढ़ाना नहीं चाहता। उर्दू में उन दोनों भाषाओं के ही विचार भरे पड़े हैं, इसलिये कुछ उर्दू के ही इस प्रकार के पद्य आपलोगों के सामने रक्खूँगा। यह स्पष्ट है कि उक्त भाषाओं में माशूक़ आम तौर से अमरद होता है, इसलिये उसकी शायरी में स्त्रियों के भावों का प्रदर्शन बहुत कम हैं। फिर भी इस प्रकार के विचारों का अभाव नहीं है। मसनवियों में और यों भी ऐसे विचार मिल जाते हैं। उन्हींमें से कुछ नीचे लिखे जाते हैं। संस्कृत में मुझको नखशिख वर्णन कम मिला। मेरा विचार है कि हिन्दी में यह प्रणाली फ़ारसी और उर्दू से आई है। हिन्दी में पहले-पहल नख-शिख वर्णन 'पद्मावत' में मिलता है, जो ग्रन्थ मलिक मुहम्मद जायसी का लिखा है। यह निश्चित है कि उन्होंने फ़ारसी के 'सरापा' वर्णन का ही अनुकरण अपने ग्रन्थ में किया है। इसलिये इस विषय में फ़ारसी उर्दू वाले तो हिन्दीवालों से भी आगे हैं। फिर भी उनके इस तरह के कुछ विचारों को देखिये। एक विरहिणी अथवा प्रोषितपतिका का वर्णन गुलज़ार नसीम में यों किया गया है—

रातों को जो गिनती थी सितारे। दिन गिनने लगी ख़ुशी के मारे॥
करती थी जो भूक प्यास बस में। आँसू पीती थी खा के क़समें॥
सूरत में ख़याल रह गई वह। हैयत में मिसाल रह गई वह॥

—नसीम

एक परकीया की बातें सुनिये—

उड़ गई यों वफ़ा ज़माने से। कभी गोया किसीमें थी ही नहीं।
गुल है ज़ख़्मी बहार के हाथों। दिल है सदचाक यार के हाथों॥
दम बदम क़ता होती जाती है। उम्र लैलो निहार के हाथों॥
इक शिगूफ़ा उठे है रोज़ नया। इस दिले दाग़दार के हाथों॥

—हसन

एक मुग्धा का चित्र देखिये—

कुछ जवानी है अभी कुछ है लड़कपन उनका।
यों दग़ाबाज़ों के क़ब्जे में है जोबन उनका॥

—असीर

कमसिनी है तो निराली हैं ज़िदें भी उनकी।
इस पै मचले हैं कि हम दर्दे जिगर देखेंगे॥

—फसाहत

एक रूपवती नायिका के सौंदर्य का वर्णन यों किया गया है—
आया जो वह गुल चमन में। फूले न समाये पैरहन में॥ —पं०

दो पद्य विच्छित्तहाव के देखिये—जहाँ साधारण वेष-रचना से शोभा बढ़ती है—वहाँ विच्छित्तिहाव होता है—
है जवानी खुद जवानी का सिँगार-सादगी गहना है इस सिन के लिये।
शोख़ी बेबाकी मुक़तिज़ा सिनका। नाक में फक्त सींक का तिनका॥

—अमीर

एक धृष्ट नायक की बातें सुनिये—देखिये आप कितने बेदहल हैं—

दिल मुझसे लिया है तो ज़रा बोलिये हँसिये।
चुटकी में मसलने के लिये दिल नहीं होता॥
ऐ चश्मेयार देख तग़ाफुल से बाज़ आ।
दिल टूट जायगा किसी उम्मेदवार का॥

—अमीर

नायिका भेद के मूल में जो सत्य है, वास्तविक बात यह है कि वह सार्वभौम एवं सर्वकालिक है। उसके भीतर वे स्वाभाविक मानवी भाव सदा मौजूद रहते हैं, जो व्यापक और सर्व देशी हैं, इसलिये उसकी अभिव्यक्ति विश्व भर में अज्ञात रूप से यथाकाल और यथावसर होती रहती है। यह मंगलमयी प्रकृति का वह गुप्त विधान है कि जिससे संसार संस्कृति सूत्र स्वतः परिचालित होता रहता है। मेरा विचार है, नाट्य शास्त्रकार ने उसको वैज्ञानिक रीति से विधिवद्ध करके साहित्य की शोभा ही नहीं बढ़ाई है, लोकहित साधन का भी आयोजन किया है।

साहित्य और कला

कुछ लोग साहित्य को कला नहीं मानते किन्तु कुछ लोग उसको भी कला कहते हैं। महाराज भोज का यह श्लोक कि साहित्य सङ्गीतकलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः यह बतलाता है, कि साहित्य कला नहीं है, क्योंकि 'कला, का प्रयोग जिस प्रकार संगीत के साथ है, साहित्य के साथ नहीं, परन्तु इसका उत्तर यह कहकर दिया जाता है कि सङ्गीतमपिसाहित्यं । चतुर्दश विद्या में साहित्य को जिस प्रकार स्थान नहीं मिला है, उसी प्रकार चौंसठ कला में भी नहीं, हाँ, समस्यापूर्ति को कला माना गया है। यदि समस्या-पूर्ति कला है तो कविता भी उपलक्षण से कला मानी जा सकती है, क्योंकि उसके विषय में यह स्पष्ट कहीं नहीं लिखा गया है कि वह कला नहीं है। दूसरी बात यह कि आजकल के विद्वानों की यह स्पष्ट सम्मति है कि कविता ललितकला है—बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् द्विजेन्द्रलाल राय लिखते हैं—

"नियम-बद्ध होने के कारण काव्य और नाटक सुकुमार कला कहलाते हैं।"

—कालिदास और भवभूति पृ० ८२

पाश्चात्य विद्वान् उसको खुल्लम-खुल्ला कला कहते हैं। चेम्बर्स कहता है—

"Poetry is the art of expressing in meladious words the thoughts which are the creations of feeling and imagination."

"मधुर शब्दों में कल्पना और भाव-प्रसूत विचारों को प्रकट करने की कला को कविता कहते हैं"—

मेकाले का यह वाक्य है—

"By poetry, we mean the art of employing words in such a manner as to produce an illusion on imagination."

शब्दों के प्रयोग की ऐसी कला को कविता कहते हैं, जिससे उसको कल्पना में चमत्कार का आविर्भाव होता है।

आक्सफोर्ड कनसाइज़डिक्शनरी में Poetry का अर्थ यह लिखा है।

"Poetry'—"Art, work of the poet."

'कला' कवि का किया हुआ कर्म, (कविता)।

अतएव काव्य अथवा कविता का कला होना सिद्ध है, इस सूत्र से साहित्य को भी कला कह सकते हैं। किन्तु इस विषय में विशेष तर्क की आवश्यकता नहीं, क्योंकि मेरा विषय काव्य और कविता ही है और उसका 'कला' होना सिद्ध है। अतएव अब मैं प्रकृत विषय की ओर प्रवृत्त होता हूँ। नायिका विभेद अधिकांश काव्य अथवा कविता रूप में ही है, अतएव मैं देखना चाहता हूँ। कि कला के रूप में वह कहाँ तक संगत है। पहले काव्य और कविता के विषय में आचार्यों की सम्मति देखिये—

अग्निपुराणकार यह कहते हैं—

'संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थं व्यवच्छिन्नापदावली ।
काव्यं स्फुटदलङ्कारं गुणवद्दोषवर्जितम् ॥

जिसके वाक्य संक्षिप्त, जिसकी पदावली इष्टार्थ सम्पन्न हो, जिसमें सुन्दर अलंकार हों, जो गुण युक्त और दोष वर्जित हो वह काव्य कहलाता है—

'अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ शब्दार्थौ काव्यम्' । —वामन

जो दोष विहीन, गुणयुक्त और अलंकार सहित शब्दार्थ हैं, वे काव्य कहलाते हैं—

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दःकाव्यम् । —पंडितराज

रमणीय अर्थ प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा जाता है—

रसात्मकं वाक्यं काव्यम् । —साहित्यदर्पणकार

रसात्मक वाक्य को काव्य कहते हैं—

अँगरेज कवि लेहंट लिखते हैं—

Poetry is the best words in their best order."

जिसमें सर्वोत्तम शब्द सर्वोत्तम क्रम से स्थापित हों, वही कविता है।

"He is the best whose verse exhibits the greatest amount of strength, sweetness, unsuperfluousness, variety, straightforwardness, and oneness."

सर्वोत्तम कवि वही है, जिसके पद्यों में सामर्थ्य, माधुर्य, रोचकता, सहज प्रवाह, और भाव की सामञ्जस्यपूर्ण एकता हो।

शेली का यह कथन है—

"Poetry is the record of the best and happiest moments of the happiest and best minds."

कविता सर्वश्रेष्ठ और दृढ़तम मस्तिष्कों के श्रेष्ठ और सुखमय अवसरों की रचनाओं का समूह है।

ड्राइडेन की यह सम्मति है—

"Poetry is articulate music."

कविता अर्थ पूर्ण संगीत है।

इन उद्धरणों का निचोड़ यही है कि जिसका शब्द विन्यास सर्वोत्तम हो, जिसमें माधुर्य, रोचकता और रस प्रवाह हो, मधुर भावमयी कल्पना हो, अर्थ पूर्ण संगीत हो। जिसकी शब्द योजना में चमत्कार हो, रमणीयता हो, वही कविता अथवा काव्य है। कवि कर्म्म करनेवाले यह भली-भाँति जानते हैं कि ऐसी रचनाएँ श्रेष्ठ और सुखमय अवसरों पर ही हो सकती हैं और वह भी उन मस्तिष्कों से जो सर्वश्रेष्ठ और दृढ़तम हों। क्या ये सिद्धान्त कला की ओर ही अङ्गुलिनिर्देश नहीं करते? क्या इन वाक्यों के पठन से इस बात की पुष्टि नहीं होती कि कविता वास्तव में एक कला है? क्या कला की जाँच कला की दृष्टि से हो न होनी चाहिये?

वास्तविक बात यह है कि कला की इयत्ता कला में ही परिमित होती है, कला की सफलता और पूर्णता कला की ही निर्दोषता पर निर्भर है। विकलांग कला, कला हो सकती है, किन्तु वह निर्दोष नहीं कही जा सकती। इसलिये कला की महत्ता कला की सर्वांगीण पूर्ति पर ही अवलम्बित है। यदि किसी चित्रकार का बनाया कोई नग्न चित्र हस्तगत हो तो, हमको नग्नता चित्रण चातुरी पर ही दृष्टि डालनी होगी, उसकी सर्वांगीण पूर्ति देखकर ही यह मीमांसा करनी पड़ेगी कि चित्रकार चित्रण-कला में पारंगत है या नहीं। उसमें अश्लीलता हो, अभव्यता हो, अदर्शनीयता हो, ऐसे स्थान हों जिनको सलज्ज आँखें न देख सकें, किन्तु उन्हींसे उनकी शोभा है, वे ही उस चित्र की पूर्णता के साधन हैं। वे जितना ही पूर्ण होंगे, जितनी ही स्पष्टता के साथ दिखलाये गये होंगे, उतने ही चित्रकार के कौशल और उसकी सूक्ष्म-निरीक्षण-शक्ति के प्रदर्शक होंगे।

चित्रकार के चित्रण-कला की पराकाष्ठा के लिये इतना ही पर्याप्त है। उपयोगिता वाद उसके अन्तर्भूत नहीं, अतएव चित्र की परीक्षा के समय उसपर दृष्टि डालने की भी आवश्यकता नहीं। चित्रकार चित्र को ठीक-ठीक चित्रण करके ही सिद्धि लाभ करता है और यहीं पर उसके कार्य की समाप्ति हो जाती है। परीक्षक भी उसकी कृति की परीक्षा यहीं तक कर सकता है, और उसीके आधार से उसको योग्यता की सनद दे सकता है, आगे बढ़ने का उसको अधिकार नहीं।

मैं जब कला की कसौटी पर नायिका भेद की कविता को कसता हूँ, तो उसको बावन तोले पाव रत्ती ठीक पाता हूँ। ऊपर जितने लक्षण कविता के बतला आया हूं, वे सब उसमें पाये जाते हैं, इस विषय में उसकी रचनाये संसार की किसी समुन्नत भाषा का सामना कर सकती हैं। इस विषय के प्रसिद्ध संस्कृत अथवा हिन्दी के कवियों ने जब जिस भाव का चित्रण किया है, उस समय उस भाव का उत्तम-से-उत्तम चित्र खींचकर सामने रख दिया है। आप चाहे जिस चित्र को उठा लीजिये, और कला के विचार से उसपर दृष्टि डालिये तो आपको आश्चर्य-चकित हो जाना पड़ेगा। भावुकता कविता की रीढ़ है। नायिका भेद की कविताओं में वह कूट-कूटकर भरी है। यदि मनोभावों का स्वाभाविक विकाश देखना चाहें, तो उसमें देखें। इस विषय के कवि का रस पूर्ण हृदयाम्बुधि जब उत्ताल तरंग मालासंकुल होता हैं, उस समय कैसे-कैसे भाव मौक्तिक सहृदयों पर उत्सर्ग कर जाता है, इसका अनुभव उसीको होता है, जो कला की दृष्टि से उन मोतियों की परख करता है। जिनकी दृष्टि ऐसी नहीं, वे उन्हें भले ही पोत या और कुछ समझ लेवें।

आजकल एक विचार-धारा बड़े वेग से बह रही है; पहले वह कितनी ही अन्तर्मुखी क्यों न रही हो, परन्तु आज वह बहिर्मुखी

है। जिनको कवि-कर्म्म का दावा है, जो अपनी विजयिनी कविता को जन साधारण श्रद्धा पुष्प माल्य द्वारा अर्चित देखना चाहते हैं, वे प्रायः कहा करते हैं, कविता हृदय की वस्तु है। भावोद्रेक होने पर जो कविता स्रोत हृदय सरोवर से स्वभावतया फूट निकलता है, वास्तविक कविता के गुण उसीमें होते हैं। जिस सरस हृदय का उच्छ्वलित प्रवाह नैसर्गिक होता है, उसीमें वह कल-कल ध्वनि मिलती है, उसीमें वह उन्मादिनीगति पाई जाती है, जो सहृदय जन के कर्ण कुहर में प्रवेश करके अजस्र आनन्द सुधा वर्षण करती रहती है। इस प्रकार की कविता न तो किसी अलंकार की भूखी रहती है, न किसी विलक्षण शब्द-विन्यास की, वह अपने रंग में आप ही मस्त रहती है, और अपनी इसी अलौकिक मस्ती से मार्मिक हृदय पर अधिकार कर लेती है। इस प्रकार की कविता भावमयी होती है, भाव ही उसका सम्बल होता है, चाहे उसको कोई समझ सके या न समझ सके, चाहे उसका कुछ उपयोग हो या न हो, किन्तु उसका भाव ही उसका सर्वस्व होता है। मोर जब नर्त्तनशील होता है, तो उसके मुग्धकर गुणों का विकाश स्वाभाविक होता है, वह लोगों को मुग्ध भी करता है, किन्तु मयूर इस विषय में यत्नशील नहीं होता। यह विचार सर्वांश में मान्य नहीं, किन्तु यह कहा जा सकता है कि लगभग ऐसा ही रहस्य स्वाभाविक कविता में है, वह किसीको विमुग्ध करने की इच्छुक नहीं, किन्तु उसके नैसर्गिक गुण अपना प्रभाव डाले विना नहीं रहते। कला के विषय में भी यही कहा जा सकता है। खग कलरव से लेकर सुकविगण की समस्त सूक्तियों तक में कला का चमत्कार दृष्टि गत होता है। जिस दृष्टि से उसका आविर्भाव है, उसी दृष्टि से उसका अवलोकन यथार्थता है, अन्यथा विडम्बना की विकराल मूर्ति ही सामने आती है।

एक बात मैं और प्रकट कर देना चाहता हूँ। वह यह कि कला में हृदय की भावुकता ही नहीं होती, उसमें मस्तिष्क का कार्य कलाप भी होता है। दोनों के साहचर्य्य से ही कला पूर्णता को प्राप्त होती है। नायिका विभेद की कविता में यथास्थान दोनों का समुचित विकाश देखा जाता है, इसलिये उसकी कविताएँ कला की दृष्टि से बहुत ही उच्चकोटि की पाई जाती हैं।

शृंगार रस की उपयोगिता

शृंगार रस का मैं जैसा वर्णन कर आया हूँ, उसके उपरान्त उसकी उपयोगिता का उल्लेख व्यर्थ जान पड़ता है। परन्तु बात यह है कि नायिका विभेद की कुछ असंयत कविताओं के कारण उसका नाम इतना बदनाम हो गया है कि मुझको इस अंश का शीर्षक शृंगार रस की उपयोगिता, ही देना पड़ा, जिसमें उसके मिथ्या कलंक का अपनोदन हो सके। वास्तव में इस शीर्षक में नायिका विभेद की कविताओं और भावों की उपयोगिता का ही वर्णन होगा। कला की दृष्टि से तो इस विषय की रचनाओं पर कोई दोष लगाया नहीं जा सकता, यह बात मैं ऊपर लिख आया हूं। यदि यह सच है कि कला, कला के लिये है, तो उपयोगिता का प्रश्न उपस्थित हो ही नहीं सकता। किन्तु इस प्रकार की रचनाओं की उपयोगिता भी अल्प नहीं, इसलिये मैं उसपर भी कुछ लिखना आवश्यक समझता हूँ।

संस्कृति की जड़ साहित्य है, चाहे यह साहित्य कण्ठ गत नागरिक अथवा ग्रामीण गीत हो, या पुस्तक गत नाना प्रकार की रचनाओं का समूह। साहित्य का वातावरण जैसा होता है, जाति तदनुकूल ही बनती है। जैसे भावों का पोषण साहित्य करता है, जाति अथवा समाज में वैसे ही भाव स्थान पाते हैं। कहा जाता है, जाति के भावों

और विचारों का परिचय साहित्य से मिलता है, कारण इसका यह है, कि जाति के संस्कारों के आधार वे ही होते हैं। मनुष्य के सँस्कार धीरे-धीरे बनते हैं, उनका प्रारम्भ माता की गोद से होता है, परन्तु साहित्य और शिक्षा का प्रभाव भी उनपर कम नहीं पड़ता। मानस लोरियों और कथानकों से ही गठित नहीं होता, वह साहित्य के विविध रसों में भी पगता रहता है। पुरुष हो चाहे स्त्री, दोनों ऐसे खेलौने हैं, जो साहित्य कुंभकार के हाथों के गढ़े हैं। यह निर्माण क्रिया चिरकाल से होती आई है, और प्रलय काल तक होती रहेगी।

लड़कियाँ जब माँ के कण्ठ का मधुर गाना सुनती हैं, उस समय वे बहलती ही नहीं, कुछ संस्कृति संचय भी करती हैं। लड़के जब पुस्तकों का पाठ पढ़ते हैं, उस काल उनकी शिक्षा ही नहीं होती, उनके हृदय पटल भी खुलते हैं। युवक और युवतियों से जब कविता पाठ कराया जाता है, तब उसका उद्देश आनन्द लाभ करना ही नहीं होता, उनके चरित्र और भावों का निर्माण भी उस समय सामने रहता है। यदि स्त्री पतिपरायणा, लज्जावती, सहृदया, सदाचारिणी, एवं उदारस्वभावा है, तो समझना चाहिये, परम्परागत सत्साहित्य के अंक में लालित होने का ही यह सुपरिणाम है, और यदि वह कोपनस्वभावा, उच्छृंखलताप्रिया, दुराचारिणी, निर्लज्जा, एवं कटुवादिना है, तो जानना चाहिये कि किसी कुत्सित साहित्य के प्रपंच में पड़ने का हो यह फल है। ये ही बातें पुरुष के गुणदोष के विषय में भी कही जा सकती हैं।

संसार-सुखशान्ति गाड़ी के दो पहिये हैं, एक पुरुष दूसरो स्त्री। यदि ये दोनों पहिये ठीक-ठीक काम देते हैं, तो यह सुखशान्ति की गाड़ी यथा रीति चलती रहती है, और मनुष्यजीवन आनन्दमय बनता रहता है। अन्यथा जिस परिमाण में पहियाओं में दोष आ जाता

है, उसी परिमाण में सुखशान्ति गाड़ी की गति बिगड़ती और अनेक अवस्थाओं में नष्टभ्रष्ट हो जाती है। जबतक पुरुष को स्त्री के हृदय और उसके मनोभावों का यथातथ्य ज्ञान नहीं होता और जबतक स्त्री पुरुष के स्वभाव से पूर्णतया परिचित नहीं होती, उस समय तक संसार यात्रा का यथोचित निर्वाह नहीं होता। जबतक दोनों दोनों के गुण-दोष नहीं जानते, प्रवृत्ति को नहीं पहचानते, जबतक वे नहीं समझ सकते कि संसार सुमनमय ही नहीं है, उसमें काँटे भी हैं; तबतक न तो वे अपने जीवन को सफल बना सकते हैं, और न आये दिन की आपदाओं से बच सकते हैं। दुनिया बहुरंगी है, जो उसके सब रंगों को पहचानता है, उसीके मुख की लाली रह सकती है, वह चाहे स्त्री हो चाहे पुरुष। जहाँ सती साध्वी कुल-ललनाएँ हैं, वहीं प्रवंचनामयी वारवधूटियाँ भी हैं। जहाँ कोमल स्वभावा सरल बालिकाएँ हैं, वहीं कटुवादिनी गर्विणी मानवती नायिकाएँ भी हैं। जहाँ पति की परछांहीं से भीत होनेवाली मुग्धाएँ हैं, वहीं अनेक कलाकुशला प्रौढ़ाएँ भी हैं। कहीं स्वकीया हैं, कहीं परकीया, कहीं सामान्या। जबतक कोई संसारी पुरुष इन सब का यथार्थ ज्ञान न रक्खेगा, तबतक उसकी संसारयात्रा का निर्वाह सफलतापूर्वक कैसे होगा। इसी प्रकार जबतक सब प्रकार के पुरुषों से ललनाएँ अभिज्ञ न होंगी तबतक क्या पद-पद पर उनके पतन की सम्भावना न होगी ? संसार विचित्रताओं का आकर है। हमारे सामने बिम्बा-फल है, और रसाल भी; ईख है और नरकट भी; सुधा है और गरल भी, तबतक हम कैसे उन्हें पहचानेंगे जबतक उनकी परीक्षा न करेंगे। परीक्षा तबतक कैसे करेंगे, जबतक हमको अनुभव न प्राप्त होगा। यह अनुभव चाहे पुस्तक द्वारा प्राप्त हो, चाहे अन्य साधनों से। अनेक दृष्टियों से पुस्तक द्वारा प्राप्त अनुभव ही सर्वोत्तम है, क्या नायिका विभेद की पुस्तकें, ऐसी ही पुस्तकें नहीं हैं ? क्या स्त्री-

पुरुष के सम्बन्ध का ऐसा सूक्ष्म विवेचन किसी अन्य पुस्तक में भी है ?

रूप का मोह कामनामय होता है, किन्तु प्रेम त्यागमय। नायिका भेद की स्वकीया त्यागमयी होती है, क्योंकि आर्य ललनाओं के त्यागमय जीवन की ही प्रशंसा है। उसको वही आदर्शप्रिय है, जो उच्च है, और जिसमें लोक-हित की वासना है। वह अपने सुख से ही सुखी नहीं रहती, वह अपने प्राणधन के सुख पर ही उत्सर्गीकृत जीवन होती है। वह पति के कुटुम्ब को उसी आँख से देखती है, जिस आँख से उसका पति उसे देखता है। वह पति के कर्तव्य को ही अपना कर्तव्य समझती है, अतएव स्वार्थमय परिवार में भी शान्ति की मूर्ति बनी रहती है। वह होती है तो मानवी, किन्तु सब की दृष्टि में देवी दीखती है, क्योंकि दिव्यगुण ये ही तो हैं। एक स्वकीया का चित्र देखिये—

सेवाही में सास औ ससुर की रहै सदैव सौतिन सों नाँहि सपनेहूँ मैं लरति है।
सीलसुघराई त्यों सनेहभरी सोहति है रोसरिसरार ओर क्योंहूँ नाढरति है।
'हरिऔध' सकल गुनागरी सती समान सूधे सूधे भायन सयानप तरति है।
परम पुनीत पतिप्रीति मैं पगी ही रहै प्रानधन प्यारे पै निछावर करति है॥

नैनन को तरसैयै कहाँ लौं, कहाँ लौं हियो बिरहागिनि तैये।
एको घरी न कहूं कल पैये कहाँ लगि प्रानन को कलपैये॥
आवै यही अब जी मैं बिचार सखी चलि सौतिहुँ के घर जैये।
मान घटे ते कहा घटिहै जो पै प्रानपियारे को देखन पैये॥
लखि सासुहिँ हास छिपाये रहै ननदी लखि ना उपजावति भीतहिं।
सौतिन सों सतराति कबौ न जेठानिन सौं नित ठानति प्रीतहिं॥
दासिनहूं सों उदास न 'देव' बढ़ावति प्यारे सों प्रीति प्रतीतहिं।
धायसों पूछति बातें बिनै की सखीन सों सीखै सुहाग की रीतहिं॥

पाश्चात्य स्त्रियों के लिये सौत की कल्पना भी प्रकम्पितकरी है,

किन्तु भारतीय ललनाओं में इतनी सहनशीलता होती है, कि 'सौतिन सों नाहिं सपनेहूँ मैं लरति है,' वरन् एक कवि के कथनानुसार 'आपने सुहाग भरे भाल पै लगाइ भटू सौतिन की मांगहूँ मैं सेंदुर भरति है, कहा जा सकता है, यह कवि कल्पना है। मैं कहूँगा कवि कल्पना नहीं, हमारे परम्परागत साहित्यजन्य संस्कृति का माहात्म्य है, कुलीन घरों में जाकर देख लीजिये, ऐसी महान्-हृदया स्त्रियों का अभाव अब भी नहीं हुआ है। फिर जबतक समाज में किसी भाव का प्रचलन न होगा, तबतक कवि लेखनी से उसकी प्रसूति कैसे होगी? साहित्य समाज के आचार व्यवहार का ही प्रतिबिम्ब होता है, वह आरम्भ यों ही होता है, काल पाकर वह स्वयं आदर्श भले ही बन जावे। जिस दशा में पाश्चात्य स्त्रियाँ डाइवोर्स करने को तैयार हो जाती हैं, आवेदन पत्र लेकर कोर्ट में दौड़ जाती हैं, उस अवस्था में भी हमारी कुल बालाएँ कितने संयम से काम लेती हैं। यह कविता की पंक्तियाँ बतला रही हैं। अब रहा यह कि प्रणाली कौन अच्छी है, हमारी कुलललनाओं की अथवा योरोपियन स्त्रियों की? मैं कहूँगा, जरा आँख उठाकर योरोप अथवा अमेरिका के वर्त्तमान सामाजिक हलचल को देखिये, उस समय प्रश्न का उत्तर आप ही मिल जावेगा।

मर्यादा और शिष्टता सभ्यता की सहचरी है, उनकी रक्षा से ही मानवता की शोभा होती है। उनका पालन सम्मानित तो करता ही है, मनस्तुष्टि का कारण भी होता है। जो सम्मान चाहता है, उसको, दूसरों का स्वयं सम्मान करना चाहिये। पतिपरायणा स्त्रियाँ स्वयं पति द्वारा कम आदृता नहीं होतीं। स्त्री पुरुष का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है, कि वे नीरक्षीर समान सम्मिलित रहते हैं। उनमें भेद-भाव कम होता है। कोई सेवा ऐसी नहीं, जिसे स्त्री पुरुष की और पुरुष स्त्री की न कर सके। हास विलास, आहार विहार में वे दो शरीर

एक प्राण होते हैं। फिर भी आर्य ललनाओं का पति में पूज्य भाव होता है। इस पूज्य भाव के उदाहरण भी नायिका भेद में कम नहीं मिलते। जहाँ कहीं इस भाव का निरूपण पाया जाता है, वहाँ पर आर्य आदर्शों, एवं कुल ललनाओं के चरित्र की उज्वलता का बड़ा सुन्दर विकाश देखा जाता है। निम्न लिखित पद्यों में ऐसे भावों का बड़ा पवित्र चित्रण है—

फूलन सों बाल की बनाइ गुही बेनी बाल,
भाल दीन्हीं बेंदी मृगमद की असित है।
अंग अंग भूखन बनाइ ब्रजभूखन जू,
बीरी निज करते खवाई अति हित है॥
ह्वै कै रस बस जब दीबे को महावर के,
'सेनापति' श्याम गह्यो चरन ललित है।
चूमि हाथ नाह के लगाइ रही आँखिन सों,
कही 'प्रान प्यारे यह अति अनुचित है॥'

अंग राग औरै अँगन, करत कछू बरजोन।
पै मेंहदी न दिवाइ हौं, तुमसों पगन प्रवीन।
खान पान पीछू करति, सोवति पिछले छोर।
प्रानपियारे तें प्रथम, जगति भावती भोर।
धरति न चौकी नगजरी, याते उर में लाइ।
छांह परे परपुरुख की, जनि तियधर्म नसाइ।

देखी आपने आर्य बाला की मर्यादाशीलता और शिष्टता? साधारण हास विलास और क्रीड़ा में भी वह पति को अपना चरण स्पर्श कराना पाप समझती है। पति के खा पी लेने पर खाती पीती है, उसके सो जाने के बाद सोती है, और प्रातःकाल उसके उठने के पहले उठ जाती है। वह नगजड़ी चौकी इसलिये हृदय पर धारण नहीं करती कि कहीं परपुरुष की छाया उसपर पड़ने से

उसके स्त्री धर्म में छूत न लग जावे। संभव है, आज कल इस प्रकार के विचारों में अत्युक्ति की गंध पाई जावे, और इनमें वास्तविकता न मिले। परन्तु ऐसे ही सर्वाभिमुखी, देशव्यापी, एवं पवित्र आदर्शों के द्वारा ही दाम्पत्यभावों की महत्ता सुरक्षित एवं परिवर्द्धित होती आई है। इन कविताओं की व्यंजना कितनी भावमयी और उदात्त है, इसके लिखने की आवश्यकता नहीं। पाश्चात्य स्त्रियाँ अपने सबूट चरणों को पतिदेव के युगल हाथों पर रखकर घोड़े पर से उतरने में ही अपना गौरव समझती हैं। हास विलास और आहार विहारादि में स्वतंत्रता ग्रहण कर अन्यों के साथ स्वच्छंद विचरने में ही स्वाधीनता सुख का अनुभव करती हैं। दुर्भाग्य से हमारे देश में भी उनका अनुकरण होने लगा है। किन्तु स्मरण रहे, मायिकता से सरलता, अहमहमिकता से मानवता, कटुता से मधुरता एवं उच्छृङ्खलता तथा मदांधता से सदाशयता सदा श्रेष्ठ मानी गई है, वह सदा श्रेष्ठ रहेगी भी, क्योंकि महान् गुण से ही महत्ता प्राप्त होती है।

नायिका भेद को रचनाओं में स्त्री पुरुष के अनेक स्वकीय विचारों एवं भावों का भी बड़ा सुन्दर चित्रण है। उनमें ऐसे जीते जागते चित्र हैं कि हृदयों पर अद्भुत प्रभाव डालते हैं। स्त्री पुरुष की प्रकृतियों एवं व्यवहारों में धीरे-धीरे कैसे परिवर्तन होते हैं, किस अवस्था में उनके कैसे विचार होते हैं, उन विचारों का परस्पर एक दूसरे पर क्या प्रभाव पड़ता है। स्त्री पुरुष के सम्बन्धों में कैसे कटुता कैसे मधुरता आती है, जीवन यात्रा के मार्ग में कैसे कैसे रोड़े हैं, प्रेम पथ कितना कंटकाकीर्ण और दुर्गम है, समाज के स्त्री पुरुषों की रहन-सहन प्रणाली साधारणतः क्या है? वह कैसी विचित्रतामयी है? उसके चक्र में पड़कर जीवन यात्रा में क्या क्या परिवर्तन हो जाते हैं? हिन्दू समाज की व्यापक

रूढ़ियाँ क्या हैं? स्त्री पुरुषों में क्या क्या चालबाजियाँ होती हैं? आपस में वे एक दूसरे के साथ कैसी कैसी कुटिलताएँ करते हैं। वियोग अवस्था में उनकी क्या दशा होती है, और सुख के दिन उनके कैसे सुन्दर और आनन्दमय होते हैं, इन सब बातों का व्यापक वर्णन आपको नायिका भेद के ग्रंथों में मिलेगा। कार्य क्षेत्र के लिये सम्यक् ज्ञान ही उपकारक है। संसार का सुख दुःख सहयोगियों के मानसिक भावों के ज्ञान अज्ञान पर ही निर्भर करता है, अतएव उनके साधनों की उपेक्षा उचित नहीं। किस युक्ति से उन ग्रंथों में इन बातों की अवतारणा हुई, फिर वे कैसे पल्लवित पुष्पित बनीं, कुछ इसे भी देखिये—

संसार स्वार्थ मय है, दूसरे का कलंक अपने सिर पर कौन लेता है। परन्तु सच्चा प्रेम अद्भुत कर्मा है, वह यह कार्य भी करता है। आप आँच सहता है, परन्तु अपने प्रेमपात्र को आँच नहीं लगने देता। एक कुल ललना का आत्म त्याग देखिये—उसका पति नपुंसक है, अतएव वह अपने को बाँझ कहा जाना पसंद करती है, किन्तु भेद नहीं खोलती।

सुत हित सुनो पुरान यों लोगन कह्यो निहोरि।
चाहि चाह युत नाह मुख मुसिक्यानीं मुख मोरि।
गुरु जन दूजे ब्याह को प्रति दिन कहत रिसाइ।
पति की पति राखति बहू आपुन बांझ कहाइ।

प्रायः कहा जाता है, भारतीय सभ्यता स्त्री जाति के विषय में उदार नहीं है, यहां की पुरुष जाति स्त्री जाति का सम्मान करना नहीं जानती। यह वृथा लाञ्छन है, जहाँ के महापुरुषों के ये वाक्य हैं,—

प्रत्यक्ष देवता माता जाया छायास्वरूपिणी।
स्नुषा मूर्तिमती प्रीतिः दुहिता चित्तपुत्तली।

वहाँ के लोगों के विषय में ऐसा कहना सत्य नहीं शृंगार रस में प्रेम गर्विता नायिका की सृष्टि इसका प्रवल प्रमाण है। उसकी बातें सुनिये।

सपने हूं मन भावतो करत नहीं अपराध।
मेरे मन ही मैं रही सखी मान की साध।

रूप जन्य मोह की आदिम अवस्था कितनी उत्कट और उत्सुकता मयी होती है। किसी बाधा के पहुँचने पर वह कितनी गंभीर और जटिल होजाती है, कितनी वेग मयी, एवं अवाधित अथच उग्र बन जाती है, इन बातों का नायिका भेद के ग्रंथों में बड़ा विलक्षण वर्णन है इसको पूर्वानुराग कहते हैं। वह चार प्रकार का होता है। कुछ उसके पद्य देखिये

सोहैं दिवाय दिवाय सखी इकबारक कानन आन बसाये।
जानै को 'केशव' काननते कितह्वै हरि नैनन मांहिं समाये॥
लाज के साज धरेई रहे तब नैनन लै मनहीं सों मिलाये।
कैसी करौं अब क्यों निकसैं री हरेई हरे हिय में हरिआये॥

जबते कुँवर कान्ह रावरी कलानिधान।
कान परी वाके कहूँ सुजस कहानीसी। ॥
तबहींते 'देव' देखी देवतासी हँसतिसी।
रीझतिसी खीझतिसी रूठति रिसानीसी॥
छोहीसी छलीसी छीन लीनीसी छकी छिनसी।
जकीसी टकीसी लगी थकी थहरानीसी॥
बीधीसी बँधीसी बिख बूड़ति निमोहनिसी।
बैठी बाल बकति विलोकति विकानी सी॥

प्रश्न यह है, इन पद्यों में कोई आकर्षण है या नहीं? कोई विमुग्धकरी शक्ति है या नहीं? कोई हृदय हिला देनेवाली माया है या नहीं? अवश्य है, इनमें पत्थर को मोम बना देनेवाली कला है,

निर्मोही मन को मोह लेनेवाला मंत्र है, जी में जगह करनेवाला जादू है, और है इनमें वह महा प्रयोग, जो अंधों की आँखें खोलता है, और दुराग्रही संसार को सावधान होकर चलने की शिक्षा देता है। फिर कैसे कहें कि इनमें कोई उपयोगिता नहीं।

स्त्रीजाति और तो क्या यह भी नहीं चाहती कि पराई स्त्री का नाम भी पति के मुख पर आजाये। जब मुख पर नाममात्र आ जाने से रस में विष घुल जाता है, तो पराई स्त्री के संसर्ग से स्त्रीजाति को कितना अधिक कष्ट हो सकता है, क्या यह शिक्षा नीचे के पद्य से नहीं मिलती—

दोऊ अनन्द सों आँगन मांझ विराजे असाढ़ की साँझ सोहाई।
प्यारी के बूझत और तियाको अचानक नाम लियो रसिकाई॥
आई उनै मनमें हँसी कोपि तिया सरचापसी भौंहैं चढ़ाई।
आँखिन ते गिरे आँसू के बुन्द सुहास गयो उड़ि हंस की नांई॥

जब हम किसी वियोगिनी अथवा प्रोषितपतिका के मुख से यह सुनते हैं—

पर कारज देह को धारे फिरो परजन्य यथारथ ह्वै दरसो।
निधिनीर बनावत हौ मधुरो सबही विधि सज्जनता सरसो॥
'घनआनंद' जीवनदायक हौ कछु मेरिऔ पीर हिये परसो।
कबहूँ वा विसासी सुजान के आँगन मो अँसुआन को लै बरसो॥

तब क्या किसी विरहिणी की व्यथा का चित्र हमारी आँखों के सामने नहीं खिंच जाता? क्या हमारे हृदय में पीड़ा-सी नहीं होने लगती? क्या हमारा जी तड़प नहीं जाता? उस समय क्या हमारी आँखें नहीं खुलतीं? क्या हमको यह ज्ञान नहीं होता, कि विरह स्त्री जाति के लिये कितना वेदनामय है? यह ज्ञान अपने तथा अन्यों के लिये क्या उपयोगी नहीं?

नीचे की रचनाओं को देखिये। इनमें मानसिक भावों का सूक्ष्म चित्रण है, आर्य ललनाओं के स्नेहमय हृदय का रुचिर निरूपण है, प्रेम पारावार के तरंग भंग का सच्चा प्रदर्शन है, और है मानव मानस सुमन का सरस विकाश। भाव इनके इतने सुन्दर हैं कि उपयोगिता उनमें से फूटी पड़ती है। यह उपयोगिता एक देशी नहीं व्यापक है, और है पवित्र पाठों से पूर्ण—

गिरिते ऊँचे रसिक मन बूड़े जहां हजार।
वहै सदा पसुनरन को प्रेम पयोधि पगार॥
इक भीजे चहले परे बूड़े बहे हजार।
कितने अवगुन जग करत नयबय चढ़ती बार॥
बिछुरे जिये सकोच यह बोलत बनं-न-बैन।
दोऊ दौर लगेहिये किये निचौहैं नैन॥
तच्यो आंच अति विरह की रह्यो प्रेमरस भीजि।
नैनन के मग जल बहै हियो पसीजि पसीजि॥
यद्यपि सुन्दर सुघर पुनि सगुनो दीपक देह।
तऊ प्रकास करै तितो भरिये जितौ सनेह॥
जो चाहै चटकन घटै मैलो होय न मित्त।
रजराजस न छुवाइये नेह चीकने चित्त॥
तनक कंकरी के परे नैन होत बेचैन।
वे बपुरे कैसे जियें जिन नैनन मैं नैन॥

प्रायः कहा जाता है, गणिकाओं का वर्णन करके नायका विभेद के ग्रन्थों में अनर्थ कर दिया गया है। किन्तु गणिका के वर्णन में भी विशेषता है, उसमें भी उत्तम पाठ मौजूद हैं। देखिये—

धीरज मोचन लोचन लोल विलोकि कै लोक की लीकति छूटी।
फूटि गये श्रुति ज्ञानके केशव आँख अनेक विवेक की फूटी॥

छोड़ि दई सरिता सबकाम मनोरथ के रथ की गति टूटी।
त्यों न करै करतार उबारक जो चितवै वह बार बधूटी॥

यदि कहा जावे कि इस पद्य में वह नायिका रूप में वर्णित नहीं है—इसलिये यह पद्य प्रमाण कोटि में नहीं गृहीत हो सकता। तो निम्नलिखित पद्य लिया जावे—

क्यों हूँ न याम जनात है जातरिझावत ऐसी रहैं रतिआन मैं।
देखत ही मन टूटि परै कछु राखहिं ऐसी छटा छतिआन मैं॥
ए 'हरिऔध' करो कितनो हूँ विलम्ब पै होत नहीं पतिआन मैं।
बीसगुनी मिसिरी ते मिठास है वार विलासिनी की बतिआन मैं॥

क्या इस पद्य के पढ़ने से यह नहीं ज्ञात होता कि वैसिकों का कितना पतन हो जाता है। उनके पतन का चित्र ही तो इस पद्य के पद-पद में अङ्कित है, उनकी कामुकता का ही वर्णन तो इस में है। फिर उनको कौन निन्दनीय न समझेगा, ऐसे पुरुषों की ओर दृष्टि फेर कर सर्वसाधारण को सावधान करना ही तो इस पद्य का उद्देश है, फिर वह उपयोगी क्यों नहीं। यदि कहा जावे किसी कुलांगना के हाथ में यह पद्य नहीं दिया जा सकता, तो मैं कहूँगा यदि उनको अपने पति पुत्र को पतन से बचाने का अधिकार प्राप्त है, यदि उनको इस विषय में सावधान रखना है, तो उनके सामने इस पद्य को अवश्य रखना चाहिये। जिससे उनकी आँखें खुली रहें, और वे अपने पति पुत्र की रक्षा इस कुमार्ग से कर सकें। इस पद्य में जितना प्रलोभन है, उतनी ही उस में सतर्कीकरण की शिक्षा है। बुराई का यथार्थ ज्ञान होने पर ही, उससे पूरी तौर पर कोई बचाया जा सकता है।

नायिका विभेद के ग्रंथों में उच्च कोटि के पुरुषों के वर्णन के साथ जैसे अधम से अधम पुरुषों का निरूपण भी किया गया है, उसी प्रकार पूज्य पतिव्रता स्त्रियों के साथ गणिकाओं तक का विव-

रण है। कारण इसका यह है कि तुलना का अवसर हाथ आने पर ही हमें भले बुरे का ज्ञान होता है। राका निशा का यथार्थ ज्ञान तमोमयी अमा कराती है, और अरुण राग रंजित ऊषा की विशेषताओं को कालिमा मयी संध्या ही बतलाती है। काक और पिक का क्या अन्तर है, फूल और काँटे में क्या भेद है, सुधा क्यों वांछनीय है, और गरल क्यों निन्दनीय, यह मिलान करने पर ही जाना जा सकता है। जैसे पुरुष जीवन को परकीया कलंकित करती है, और गणिका नष्ट। उसी प्रकार स्त्री जीवन को लाञ्छित-करता है उपपति, और कष्टमय बनाता है वैसिक। इस लिये एक को दूसरे के यथार्थ परिचय की आवश्यकता है। नायिका भेद के ग्रंथ इन उद्देशों को सामने रखकर लिखे गये हैं। यह देखा जाता है कि अनेक पुरुष स्त्रियों द्वारा इसलिये आदर नहीं पाते, वरन् वंचित और तिरस्कृत होते हैं कि उनमें रसज्ञता नहीं होती, और वे उन कलाओं के ज्ञाता नहीं होते, जिनसे ललनाकुल को अपनी ओर आकर्षित किया जा सकता है। इसी प्रकार कितनी स्त्रियों को इसलिये दुःख भोगना और पति के प्यार को गँवाना पड़ता है, कि उनमें न तो वे भाव होते हैं, जो मनों को मुट्ठी में करते हैं, और न वे मनोहर ढंग, और न वे मधुर व्यवहार जो हृदय के सुकुमार भावों पर अधिकार करते और नीरस मानसों में भी रस धारा बहाते हैं। नायिका भेद के ग्रंथ इन बातों का भी प्रतिकार करते हैं, और बड़ी सरसता से वे मार्ग बतलाते हैं, जिन पर चलकर स्त्री पुरुष दोनों अपने जीवन को सुखमय बना सकते हैं। जैसे कुछ विद्याएँ और कलाएँ ऐसी हैं, कि जिनका कुछ न कुछ ज्ञान होना जीवन के लिये उपयोगी है, वैसे ही साहित्य के इस अंग पर भी अधिकार होना आवश्यक है। संसार में सर्वज्ञ कौन है, अल्पज्ञ होना अच्छा नहीं, इसलिये जहाँ तक हो सके प्रत्येक

पुरुष और स्त्री विशेष आवश्यक विषयों का विज्ञ बनने की चेष्टा अवश्य करे। विज्ञता ग्रंथ पढ़कर ही नहीं लाभ की जा सकती। विषयज्ञों का साथ कर के भी बहुत कुछ सीखा जा सकता है। नायिका भेद की उपयोगिता के विषय में मैं बहुत कुछ लिख चुका मेरा विचार है, कि सदुद्देश से ही उसकी रचना हुई है। निर्दोष आमोद प्रमोद और सरस हास विलास का उत्तेजन भी उसके सृजन का हेतु हो सकता है। किन्तु यह उसके व्यापक उद्देश का एक देश मात्र है। मैंने उपयोगिता के उदाहरण ब्रज भाषा के पद्यों को उठाकर ही दिये हैं, इस लिये नहीं कि संस्कृत में इस प्रकार के पद्य नहीं हैं, वरन इसलिये कि जिसमें व्यर्थ ग्रंथ के कलेवर की वृद्धि न हो।

शृंगार रस और ब्रज भाषा

शृंगार रस की रचनाएँ यदि कला की कसौटी पर कसे जाने पर ठीक उतर जातीं, तो भी किसीको उनपर उँगली उठाने का अधिकार न होता, क्योंकि कला की सार्थकता कला तक ही परिमित है। यदि कला की दृष्टि से कोई कला पूर्ण पाई गई तो उसको पूर्णता प्राप्त हो गई, फिर उसमें कोई न्यूनता नहीं मानी जा सकती। नायिका भेद की रचनाएँ ऐसी ही हैं अतएव वे अभिनन्दनीय हैं, उपेक्षणीय नहीं। जब उनमें उपयोगिता भी पाई गई, तो उनके लिये मणिकाञ्चन योग हो गया, वे सब प्रकार आदरणीय हो गईं। इतना ही नहीं उनकी उद्भावना ऐसे महापुरुषों द्वारा हुई है, जो सत्यव्रत ही नहीं अर्चनीय भी हैं। भरत मुनि स्वयं आप्त हैं, किन्तु उन्होंने शृंगारादिक अष्ट रसों का आविष्कारक जिनको माना है, उनको महात्मा विशेषण दिया है, वे लिखते हैं 'एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना' इसलिये नायिका भेद की कल्पना लोकहित कामना से ही हुई है, यह स्वीकार करना पड़ेगा। फिर

भी उसके कारण शृंगार रस आजकल अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता। नायिका भेद सम्बंधिनी शृंगार रस की अधिकतर रचनाएँ व्रजभाषा में हैं, अतएव इसी सूत्र से आजकल व्रजभाषा की छीछालेदर भी की जा रही है। विचारणीय यह है कि इस विषय में व्रजभाषा का उत्तरदायित्व कहाँ तक है।

अग्निपुराण का वचन है—

शृंगारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
सचेत् कविर्वीतरागी नीरसं व्यक्तमेवतत्॥

भाव यह है कि यदि कवि शृंगारी होता है, तो उसके काव्य से जगत रसमय हो जाता है, किन्तु यदि वह वीतरागी होता है, तो सब ओर नीरसता फैल जाती है। मैं शृंगार रस की प्रधानता का प्रतिपादन कर आया हूँ, यह भी बतला चुका हूँ कि शृंगार रस ही सब रसों का जनक है। यही कारण है कि संस्कृत भाषा के साहित्य में शृंगार रस का स्रोत बहता है। कवि-कुल-गुरु कालिदास के समय से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ के समय तक जितने बड़े-बड़े काव्यकार हो गये हैं, जितने लोगों ने लक्षण ग्रंथ, अलंकार ग्रंथ, अथवा छोटे-बड़े रस ग्रंथ, नाटक, चम्पू, किंवा प्रबंध ग्रंथ लिखे हैं, उपन्यास, कथानक या मुक्तकों की रचनाएँ की हैं, उनमें से अधिकांश में शृंगार रस की ही छटा देखने में आती है। अन्य विषयों में भी शृंगार का पुट कुछ-न-कुछ अवश्य रहता है। कारण इस का यही है कि संसार रस का ग्राहक है, और सरसता विना शृंगार के आती नहीं। पुराण, उपपुराण अथवा संहिताएँ धर्म दृष्टि से लिखी गई हैं, परन्तु उनमें भी प्रायः शृंगार रस का मधुर आलाप श्रुति गोचर होता है। प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य ग्रंथों की भी यही दशा है। सातवाहन की प्राकृत गाथा सप्तशती को देखकर ही आचार्य गोवर्धन ने आर्या सप्तशती की रचना की। दोनों में

ही शृंगार रस छलका पड़ता है। विरोध करनेवालों ने उस समय भी उसका विरोध किया और मूल पर ही कुठाराघात करना चाहा। काव्य की ही निन्दा कर डाली, लिख मारा—

"असभ्यार्थाभिधायित्वान्नोपदेष्टव्यं काव्यम्"

'अश्लील भावों का द्योतक होने के कारण काव्य की रचना न होनी चाहिये।'

पर इसको किसी ने न सुना–यह बात नक्कारखाने में तूती की आवाज़ हुई, क्योंकि स्वाभाविक भावों का प्रतिरोध नहीं होता। प्रयोजन यह कि शृंगाररस का स्रोत चिरकाल से प्रवाहित है, वह सँस्कृत से प्राकृत में आया, और प्राकृत से व्रजभाषा में। ऐसा होना स्वाभाविक था, व्रजभाषा ने स्वयं इसकी उद्भावना नहीं की।

कुछ लोगों का विचार है कि स्त्रीजाति के अंगों का वर्णन उचित नहीं, क्योंकि यह एक प्रकार की अमर्यादा है। हास-विलास और प्रिया-प्रियतम की क्रीड़ाओं एवं उनके रसमय कथनोपकथन का चित्रण भी संगत नहीं, क्योंकि उसमें अश्लीलता आ जाती है। मेरा विचार है, इस कथन में मार्मिकता नहीं। खोपड़ी खरोंचकर कुछ बातें कही गई हैं, परन्तु उनमें सहृदयता का लेश नहीं। आँखें विश्व-सौंदर्य देखने के लिये बनी हैं, और हृदय भाव ग्रहण करने के लिये। किन्तु ये बातें कहती हैं आँखों पर पट्टी बाँध लेने और कलेजे पर पत्थर रख लेने के लिये, सौंदर्य देखकर पशु विमुग्ध हो जावें, चिड़ियाँ चहकने लगें, परन्तु मनुष्य को विशेषकर कवि को जीभ हिलाने का अधिकार नहीं! यदि उसने सुन्दर दाँत देखकर उसे मोती जैसा कह दिया, मुख को मयंक सा, आँखों को कमल-सा बतला दिया, तो मर्यादा पर वज्रपात हुए बिना न रहेगा। यदि मर्द के दाँत मोती जैसे कह दिये जावें, तब तो शायद मर्यादा सुरक्षित भी रह जावे, किन्तु स्त्री के दाँत को मोती

कहा नहीं कि उसपर बिजली गिरी नहीं। किन्तु यदि योरप और अमेरिका की श्वेतांग ललनाएँ अपने अंग प्रत्यंगों की वर्णना रस-मयी भाषा में कर अपने रूप-यौवन का विज्ञापन देती रहें, समाचार-पत्रों के कालम के कालम काले करती रहें, तो वह हमारे पाश्चात्य सभ्यतानुरागियों के लिये संगत होगा, क्योंकि वे वर्त्तमानयुग की अधिष्ठातृ देवियाँ हैं। प्रिया प्रियतम के हास विलास, क्रीड़ा एवं कथनोपकथनों से संसार का साहित्य क्यों न भरा हो, वे क्यों न नीरस जीवन की रसधारा हों, दुःख भरे संसार के सुख-संदोह हों, किन्तु उनके अश्लील हो जाने का डर है, इसलिये वे वर्णनीय नहीं। पानी इसलिये नहीं पीना चाहिये कि वह खारा भी होता है, वायु सेवन इसलिये नहीं करना चाहिये कि उसमें दुर्गंधि भी मिलती है, व्यञ्जन इसलिये नहीं खाना चाहिये कि वह रोग-प्रवण भी होता है, और आग को इसलिये काम में नहीं लाना चाहिये कि उससे उँग-लियाँ भी जल सकती हैं। ऐसे लोगों का विचार कहाँ तक मान्य है, इसको आपलोग स्वयं समझ सकते हैं। गुण समूह में जिनकी दृष्टि साधारण से साधारण दोष पर ही रहती है, वे हों कैसे ही, परन्तु इस विचारवाले लोग भी हैं। अपने सिद्धान्तानुसार वे ब्रजभाषा के नखशिख वर्णन को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते। किन्तु नखशिख वर्णन भी परम्परा द्वारा ही ब्रजभाषा में गृहीत हुई है। तर्क करने वालों का यह कथन है कि उसने फारसी और उर्दू से यह प्रणाली ग्रहण की है, किन्तु यह सत्य नहीं है। कवि कुलगुरु कालिदास ने कुमारसंभव के सातवें सर्ग में हिमाचल-नन्दिनी के अनेक अङ्गों का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। विवाह काल में सखियों ने उनको जैसे सुसज्जित किया, उसका वर्णन बड़ा ही मनोमोहक है। इसके अतिरिक्त अङ्गों के उपमानों की कल्पना ब्रजभाषा के कवियों की नहीं है, वे वे ही उपमान हैं, जो संस्कृत के आचार्य्यों द्वारा वर्णित

हैं। कवि-प्रिया में कविवर केशवदास ने इस विषय का बड़ा विशद वर्णन किया है। वे यह भी लिखते हैं—

> नखते सिखलौं बरनिये, देवी दीपति देखि।
> सिखते नखलौं मानुखी, केशवदास बिसेखि॥

इस नियम का उल्लेख उन्होंने प्राचीन आचार्य्यों के मन्तव्य अनुसार ही किया है, इससे पाया जाता है कि नखशिख वर्णन प्रणाली परम्परागत है। हाँ, यह अवश्य है कि व्रजभाषा में उसका विस्तृत रूप देखने में आता है। कारण इसका उर्दू एवं फ़ारसी रचनाओं से हिन्दी भाषा का उत्कर्ष साधन है, क्योंकि उस काल के अधिकांश कवियों में यह प्रवृत्ति पाई जाती है। उस समय अपनी भाषा की रक्षा के लिये ऐसा करना आवश्यक था।

अब रहे स्वकीया, परकीया और गणिका के विषय। स्वकीया की कल्पना बड़ी सुन्दर कल्पना है, उसमें इतनी मोहकता है कि निर्गुण वादी संतों ने भी उसकी ममता नहीं छोड़ी। जो साकारता की चर्चा होने पर कानों पर हाथ रखते हैं, उनको भी परमात्मा को पति और अपने को पत्नी मानकर मानसिक उद्गारों को प्रकट करते देखा जाता है। वास्तव में स्वकीया का जीवन बड़ा ही उदात्त, त्यागमय एवं प्रेममय है, उसकी कामनाएँ बड़ी ही मधुर और भावमय हैं, अतएव उसके हृदयोद्गार अनेक अवसरों पर बड़े ही आकर्षक होते हैं। कुछ असहृदय उनको सुनकर भले ही नाक-भौंह सिकोड़ें, किन्तु संसार इस रस में निमग्न है। यहाँ तक कि जो संसार-त्यागी हैं वे भी अपनी मानसिक व्यथाओं और आकुलताओं को पत्नी का भाव ग्रहण कर ही लोकपति तक पहुँचाते हैं। कबीर कट्टर निराकारवादी हैं। ज़रा उनकी बातें सुनिये—उनका उक्ति कितनी मर्मस्पर्शनी है, और वे किस प्रकार स्वकीया-

हृदय के भावों को व्यंजित करते हैं—यह बात उनके गान का एक-एक पद ध्वनित कर रहा है—

तोको पीव मिलेंगे घूंघट को पट खोल रे।
घट घट मैं वह साईं रमता कटुक बचन मत बोल रे॥
धन जोवन को गरब न कीजै झूठा पचरँग चोल रे।
सुन्न महल में दियना बारिले आसा सों मत डोल रे॥
जोग जुगुत सों रंगमहल में पिय पायो अनमोल रे।
कहै 'कबीर' अनन्द भयो है बाजत अनहद ढोल रे॥१॥
मिलना कठिन है कैसे मिलौंगी पिय जाय।
समुझि सोचि पग धरौं जतन से बार बार डिग जाय॥
ऊंची गैल राह रपटीली पाँव नहीं ठहराय।
लोक लाज कुल की मरजादा देखत मन सकुचाय॥
नैहर बास बसा पीहर में लाज तजी नहिं जाय।
अधर भूमि जहँ महल पिया का हमपै चढ़ो न जाय॥
धन भई बारी पुरुष भये भोला सुरत झकोरा खाय।
दूती सतगुरु मिले बीच मैं दीन्हों भेद बताय॥
साहब 'कबिर' पिया सों भेट्यो सीतल कंठ लगाय॥२॥

बालम आओ हमारे गेह रे।
तुम बिन दुखिया देह रे॥

सब कोइ कहै तुम्हारी नारी मोको यह संदेह रे।
एक येक ह्वै सेज न सोवे तब लग कैसो नेह रे।
अन्न न भावै नींद न आवै गृह वन धरे न धीर रे।
ज्यों कामी को कामिनि प्यारी ज्यों प्यासे को नीर रे।
है कोउ ऐसा पर उपकारी पिय से कहै सुनाय रे।
अब तो बेहाल 'कबीर' भये हैं बिन देखे जिउ जाय रे।३।

सपने में साईं मिला सोवत लिया जगाय।
आँख न खोलूँ डरपती मत सपना है जाय।५।

स्वकीया के विषय में अधिक तर्क-वितर्क भी नहीं किया जाता। अतएव मैं परकीया और गणिका के विषय को लेता हूँ। कहा जाता है, इन दोनों नायिकाओं का वर्णन करके ब्रजभाषा ने उच्च आदर्शों का तिरस्कार किया है। प्रश्न यह है कि क्या ब्रजभाषा द्वारा ही इन दोनों नायिकाओं की वर्णना हुई है? यह भी तो संस्कृत साहित्य से ही ब्रजभाषा में आई हैं, इसलिये इन दोनों नायिकाओं का निरूपण भी साहित्यशास्त्र के नियमानुसार परम्परा गत है, इसमें ब्रजभाषा का क्या अनौचित्य? जब मैं परम्परा की बात कहता हूँ तो इसका यह अर्थ न समझना चाहिये कि मैं परम्परा के अन्धानुकरण का पक्षपाती हूँ। परम्परा वहीं तक ग्राह्य है, जहाँ तक वह आपत्तिजनक न हो। जब उसके द्वारा समाज अथवा जाति का अमंगल होता हो, जब उसके आधार से उनमें बुराइयाँ फैलती हों तो वह इस योग्य है कि उसकी उपेक्षा की जावे। इसको मैं स्वीकार करता हूँ। इसलिये जब मैं परम्परा की बात कहता हूँ तो उसका इतना ही प्रयोजन होता है कि प्रस्तुत विषय की उद्भावना ब्रजभाषा द्वारा नहीं हुई। कहा जा सकता है कि ब्रजभाषा उसे छोड़ सकती थी, यह तर्क ठीक है। अतएव अब मैं यह देखूँगा कि ब्रजभाषा ने उसे क्यों नहीं छोड़ा— साहित्यदर्पणकार लिखते हैं—

'उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते।
परोढ़ां वर्जयित्वा तु वेश्यां चाननुरागिणीम्।
आलम्बनं नायिकाःस्युर्दक्षिणाद्यांश्च नायकाः॥'

"अधिकांश उत्तम प्रकृति से युक्त-रस शृंगार कहलाता है। पर स्त्री तथा अनुराग शून्य वेश्या को छोड़कर अन्य नायिकाओं तथा दक्षिण आदि नायक इस रस के आलम्बन विभाव माने जाते हैं"।

यह लिखकर भी साहित्यदर्पणकार ने परकीया और गणिका का वर्णन अपने ग्रंथ में किया है। वे लिखते हैं—

परकीया द्विधा प्रोक्ता परोढ़ा कन्यका तथा।
यात्रादिनिरतान्योढ़ा कुलटा गलितत्रपा।
कन्यात्वजातो पयमा सलज्जा नवयौवना।
धीरा कलाप्रगल्भा स्याद्वेश्या सामान्यनायिका।

"परकीया नायिका दो प्रकार की होती है, एक अन्य विवाहिता और दूसरी अविवाहिता कन्या। उनमें से यात्रा आदि के मेले तमाशों की शौक़ीन निर्लज्जा 'अन्योढ़ा' कहलाती है"।

"अविवाहिता सलज्जा नवयौवना कन्या कहलाती है और धीरा नृत्य गीतादि ६४ कलाओं में निपुण सामान्या स्त्री वेश्या"।

कन्या के विषय में लिखते हैं, अस्याश्च पित्राद्यायत्तत्वात्परकीयात्वम्'। यह पिता आदि के वश में होने से परकीया कहलाती है।

इसके बाद स्वाधीनपतिका आदि आठ प्रकार की नायिकाओं को गिनाकर वे यह भी कहते हैं—

इति साष्टाविंशतिशतमुत्तममध्याधमस्वरूपेण।
चतुराधिकाशीति युतं शतत्रयं नायिकाभेदाः।

मतलब यह कि स्वीया के १३ भेदों में जब परकीया के दो भेद और एक वेश्या को मिलायेंगे तो उनकी संख्या १६ होगी। इसको स्वाधीनपतिका आदि आठ भेदों से गुणेंगे तो उनकी संख्या १२८ होगी, उत्तमा, मध्यमा, अधमा के विचार से यही संख्या ३८४ हो जायगी। इससे यह पाया गया कि स्वकीया, परकीया, के समान गणिका के भी स्वाधीनपतिका आदि आठ भेद हो सकते हैं, और उनमें भी 'उत्तमा' आदि का क्रम रक्खा जा सकता है। साहित्यदर्पण में गणिका अथवा परकीया के इन

भेदों का वर्णन नहीं है। परन्तु 'रसमंजरी' में इनका विलक्षण निरूपण है। 'रसमंजरी कार' भानुदत्त की उपस्थिति षोड़शशताब्दी में बतलाई जाती है।

नाट्य-शास्त्रकार ने अपने ग्रंथ में स्वीया, परकीया, एवं सामान्या का वर्णन इस प्रकार से नहीं किया है, जिस प्रकार से उक्त ग्रंथों में पाया जाता है। किन्तु उन्होंने इतनी नायिकाएँ अपने ग्रंथ में लिखी हैं कि उनमें इन सबका अन्तर्भाव हो जाता है। बाईसवें अध्याय में वे लिखते हैं—

वेश्यायां कुलटायां वा प्रेष्यायां वा प्रयोक्तृभिः।
एभिर्भावविशेषैस्तु कर्तव्यमभिसारणम्।२१२।

तेईसवें अध्याय में आठवें श्लोक में वे यह कहते हैं—

दिव्या च नृपपत्नी च कुलस्त्री गणिका तथा।
एतास्तु नायिका ज्ञेया नाना प्रकृतिलक्षणाः।

इसी अध्याय में १५, १६, १७ श्लोकों में उन्होंने स्त्रियों के सत्तरह भेद बतलाये हैं। वे ये हैं। महादेवी, देवी, स्वामिनी, स्थायिनी, भोगिनी, शिल्पकारी, नाटकीया, नर्तकी, अनुचारी, युक्ता, परिचारिका, संचारिणी, प्रेषण कारिका, महत्तरा, प्रतीहारी, कुमारी, स्थविरा, फिर अनुरक्ता, विरक्ता आदि। कुछ और नायिकाएँ उन्होंने गिनाई हैं और सबों के लक्षण बतलाये हैं। उनके देखने से लग-भग सब नायिकाएँ उनमें आ जाती हैं। जिनका वर्णन उक्त ग्रंथ-कारों ने किया है। इससे पाया जाता है कि परकीया अथवा गणिका की वर्णना आधुनिक नहीं है, वरंच बहुत प्राचीन है। प्राचीन होने से ही कोई विषय श्लाघनीय अथवा अभिनन्दनीय नहीं होता, इसलिये विचारणीय यह है कि साहित्य में परकीया और गणिका का ग्रहण कहाँ तक युक्ति संगत है।

जब मैं किसी विषय के परम्परागत अथवा प्राचीन होने पर

ज़ोर देता हूँ तो उसका अर्थ यह होता है कि उनके उद्‌भावक वे हैं, जो विश्वबंधु और सत्यव्रत कहे जा सकते हैं। ऐसी अवस्था में वे तर्क योग्य नहीं। फिर भी मैं प्रस्तुत विषय की ओर प्रवृत्त होता हूँ। कहा जाता है कि परकीया का आदर्श ही बुरा है, यह ऐसा आदर्श है जो कुलांगनाओं को मार्गच्युत कर सकता, उनको भ्रान्त बना सकता और निष्कलंक कुल में कलंक लगा सकता है। जो कुछ कहा गया उसमें सत्यता का अंश है, किन्तु सांसारिकता बिल्कुल नहीं। प्रेम बड़ा रहस्यमय है, प्रेमपरायण हृदय समाज का बंधन क्या किसी बंधन को नहीं मानता, ऐसे उदाहरण नित्य हमारी आँखों के सामने आते रहते हैं। हम आँखें छिपा सकते हैं, किन्तु घटना विना हुए नहीं रहती। हृदय से हृदय का सम्मिलन स्वाभाविक है, सत्य है, विधि का अनुल्लंघनीय विधान है। लौकिक नियम उसका नियंत्रण कर सकता है, किन्तु उसकी सीमा है। जहाँ सीमोल्लंघन होता है वहाँ यह नियम टूट जाता है। इन बातों पर दृष्टि रखकर ही सिद्धान्तों अथवा आदर्शों की मीमांसा हो सकती है। यदि परकीया एक सत्य व्यापार है, और समाज में चिरकाल से गृहीत है, तो उसका उल्लेख गर्हित क्यों? हिन्दू समाज का वरन् संसार का सर्वोच्च आदर्श स्वकीया है। परन्तु उसके नीचे ही परकीया का स्थान है, उसका प्रेम भी उदात्त है, और एक प्रेमी ही तक परिमित है। उसमें त्याग की मात्रा भी न्यून नहीं, उसके प्रेम-पथ में विघ्न बाधाओं के ऐसे दुरारोह पर्वत खड़े मिलते हैं जिनका सामना स्वकीया को करना ही नहीं पड़ता, तो भी वह अपने व्रत में उत्तीर्ण होती है, और प्रेम कसौटी पर कसे जाने पर उसीके समान ही ठीक उतरती है, फिर उसकी अवहेलना क्यों?

परकीया नायिका में जो प्रेमजन्य व्याकुलता होती है, उसमें जो अधीरता, उत्सुकता, प्रेमोन्माद और तड़प देखी जाती है, वह

बड़ी ही अदम्य एवं वेदनामयी होती है। पहाड़ी नदियों की गति में बड़ी प्रखरता, बड़ी ही सबलता, बड़ा वेग और बड़ी ही दुर्दमनीयता होती है, क्योंकि उसके पथ में विघ्न बाधा स्वरूप अनेक प्रस्तर खण्ड, अनेक संकीर्ण मार्ग और बहुत से पहाड़ी दर्रे होते हैं। परकीया नायिकाओं का पथ भी इसी प्रकार विपुल संकटाकीर्ण होता है। उसको लोक लाज की बेड़ी काटनी पड़ती है, वंशगत बंधन तोड़ना पड़ता है, गुरुजनों की भर्त्सना, गाँववालों का उत्पीड़न, और सखियों का तिरस्कार सहना पड़ता है, अतएव उसकी गति भी पहाड़ी नदियों की सी उद्वेलित होती है। उसके हृदय के भावों का चित्रण टेढ़ी खीर है, साथ ही बड़ा ओजमय द्रावक और मर्मस्पर्शी भी है। उसमें सत्यता है, सौंदर्य है, और है प्रेम पथ का भीषण दृश्य। उसमें वह अटलता है, जो हथेली पर सर लिये फिरनेवालों में ही देखी जाती है। प्रत्येक भाषा की लेखनी का चमत्कार इस भाव के प्रदर्शन में देखने योग्य है, वह साहित्य की एक अपूर्व सम्पत्ति है। थोड़े-से आपलोगों के अवलोकन के लिये यहाँ उपस्थित किये जाते हैं।

अति खीन मृणाल के तारहुँ ते तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है।
सुई बेह हू बेध सकी न तहाँ परतीत को टांडा लदावनो है।
कवि बोधा अनी घनी नेजहुँ की चढ़ि तापै न चित्त डगावनो है।
यह प्रेम को पंथ करार सखी तरवार की धार पै धावनो है ॥१॥

कोऊ कहौ, कुलटा, कुलीन, अकुलीन कहौ
कोऊ कहौ रंकिनि, कलंकिनी, कुनारी हौं।
कैसो परलोक, नरलोक, बर लोकन में
लीनी मैं अलीक, लोक लोकन ते न्यारी हौं।
तन जाव, मन जाव, देव गुरुजन जाव,
जीव क्यों न जाव टेक टरति न टारी है।

वृन्दावन वारे बनवारी के मुकुट पर,
पीतपट वारी प्यारी सूरति पै वारी है ॥२॥

एक विजातीया परकीया की बातें सुनिये—

सुनो दिलजानी मेरे दिल की कहानी तुम
दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं।
देव पूजा ठानी मैं निवाज हूँ भुलानी तजे
कलमा कुरान साड़े गुनन गहूँगी मैं।
साँवरा सलोना सिर ताज सिर कुल्ले दिये
तेरे नेह दाग में निदाग हो दहूँगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान तांड़ी सूरत पै
तांड़ नाल प्यारे हिन्दुआनी हो रहूँगी मैं ॥३॥

क्यों इन आँखिन सों निरसंक ह्वै मोहन को तन पानिप पीजै।
नेकु निहारे कलंक लगै इहि गाँव बसे कहो कैसे कै जीजै।
होत रहै मन यों मतिराम कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिए लगिये अरु ह्वै मुरली अधरा रस लीजै ॥३॥
भेस भये विख भावते भूखन भूख न भोजन की कछु ईछी।
मीच की साध न सोंधे की साध न दूध सुधा दधि माखन छीछी।
चंदन तौ चितयो नहीं जात चुभी चित मांहि चितौनि तिरीछी।
फूल ज्यों सूल सिला सम सेज बिछौनन बीच बिछो जनु बीछी ॥५॥

इस भाव के कुछ फ्रेंच भाषा के पद्य भी देखिये—

Oh ! que l'amour est charmante !
Moi, si ma tante le vent bieu,
J'y suis bien consentante,
Mais si ma tante ne vent pas
Daus un conwent J'y entre.
Ah due l'amour est charmante !

Mais si ma tante ne vent pas,
Daus un convent J'y entre,
J'y prierai Dilu four mes parents,
Mais non pas four ma tante.

"आह ! प्रेम करने में कैसा सुख है ! यदि मेरी चाची सिर्फ इसके लिये आज्ञा दे दे । हाय ! इस बात को मैं कितना चाहती हूँ ! यदि चाची ने आज्ञा न दी तो मैं उपासना मन्दिर में जाऊँगी"

"आह ! प्रेम में कैसा सुख है ! किन्तु यदि मेरी चाची मुझे इसकी आज्ञा न देगी, तो मैं किसी उपासना मन्दिर में जाऊँगी। वहाँ ईश्वर से सब के (सब संबंधियों के) लिये प्रार्थना करूँगी, पर अपनी चाची के लिये नहीं।"

Mon per' me dit tonjours,
Marie toi, ma fille !
Non, non, mon, Pere,
Je ne venx plus aimer,
Car mon amant est l'armeea
Elle s'est habileec
En brance militaire,
Ell'fit conper, priser ses blonds chevenx,
A la facon d'son amourenx.

"पिता नित्य मुझसे कहते हैं कि बेटी ! दूसरे से ब्याह कर ले। नहीं नहीं, पिता मैं फिर से दूसरे से प्रेम नहीं कर सकती, क्योंकि मेरे हृदय का देवता सेना में है।"

("प्रेमी के लौटने की संभावना न देखकर) बालिका ने पुरुषोचित वेष बनाया, प्रेमी की ही भांति अपने सुन्दर, मुलायम,

घुंघराले बाल कटवा दिये। इसके बाद उसने सेना की ओर यात्रा की।"

कुछ उर्दू के पद्यों को भी देखिये।

गुल है ज़ख़मी बहार के हाथों। दिल है सदचाक यार के हाथों।
दम बदम क़ता होती जाती है। उम्र लैलो निहार के हाथों।
जां बलब हो रहा हूँ मिस्ले हुबाब। मैं तेरे इन्तज़ार के हाथों।
इक शिगूफ़ा उठे हैं रोज नया। इस दिले दाग़दार के हाथों।
यह जो खटके है दिलमें कांटा सा। मिज़ा है नोकेख़ार हैं क्या है?
चश्मे बददूर तेरी आंखों में। नशा है, याख़ुमार है क्या है?

कैसी वफ़ा! कहाँ की मुहब्बत! किधर की मेह! वाकिफ ही तू नहीं है कि होता है यार क्या?

संसार की जितनी प्रेम कहानियाँ हैं, उनमें से अधिकांश का आधार परकीया है। चाहे वे भगवान् श्रीकृष्ण अथवा श्रीमती राधिका सम्बंधिनी कथाएँ हों, चाहे लैला मजनूं, चाहे शीरींफरहाद, आदि की दास्तानें। किसी भाषा के साहित्यिक ग्रंथों, काव्यों, उपन्यासों, और नाटकों को उठा लीजिये, उन में से अधिकतर में प्रेमिक एवं प्रेयसी, आशिक-माशूक, और लवर एवं विलवेड् की कथाएँ बड़ी रसीली और ओजस्विनी भाषाओं में लिखी मिलेंगी। कारण इसका यह है कि इस प्रकार को रचनाओं में बड़ी हृदयग्राहिता होती है। स्वकीया का मार्ग कण्टका-कीर्ण नहीं होता, और न उसके मार्ग में आदिम प्रेम के पचड़े होते, इसलिये उसके मानस में वे भाव नहीं उदित होते जो परकीया के हृदय में नाना प्रकार की विघ्न-बाधाओं का सामना करने के कारण उत्पन्न होते हैं। अनेक संकटों में पड़ने, नाना दुःख झेलने, और सैकड़ों झंझटों से टक्कर लेने पर जो सफलता मिलती है वह बड़ी मुग्धकरी और आनन्दमयी होती है। उसका वर्णन बहुत ही चमत्कारक और मनोहर होता है, इसलिये

हृदयों को मोह लेने की उसमें अपूर्व सामग्री मिलती है। उस वर्णन में आपत्ति पतिता, प्रेमोन्मादिता, विह्वला, और नितान्त उत्कण्ठिता का जो द्रावक क्रन्दन सुना जाता है, जो मर्म वेधी पीड़ा देखी जाती है, जो उद्भ्रान्त भाव दृग्गोचर होता है, उससे कौन ऐसा सहृदय है जो प्रभावित नहीं होता, और कौन ऐसा हृदय है जो द्रवीभूत नहीं बनता। यही कारण है कि उसकी कथाएँ रोचक होती हैं, चाव से पढ़ी सुनी जाती हैं, और सब उन्हें प्यार करता है। यदि परकीया में वास्तविकता न होती, उसकी बातें सत्य न होकर कल्पित होतीं, तो उसमें इतनी स्वाभाविकता न मिलती। इसी स्वाभाविकता के कारण संसार के साहित्य में उसका आदर है, और यह व्यापक आदर ही उसके अस्तित्व के महत्व का प्रतिपादक है।

साहित्य-दर्पणकार कहते हैं; परकीया दो प्रकार की होती है, एक वह अविवाहिता कन्या जो माता पिता अथवा किसी दूसरे अभिभावक के अधिकार में रहते किसी पुरुष से स्वतन्त्र प्रेम करती है, और दूसरी वह जो पति के अधीन होते पर-पुरुषानुरागिणी बनती हैं। रसमंजरीकार भी यही लिखते हैं।

> अप्रकट परपुरुषानुरागा परकीया। सा द्विविधा वरोढ़ा कन्यका च।
> कन्यायाः पित्राद्यधीनतया परकीयता।

पहली गुरुजन का बंधन तोड़ती है, और दूसरी पतिदेव का। वर्त्तमान सभ्य जगत की ललनाएँ आज कल यही तो कर रही हैं। यूरोप और अमेरिका की कन्याएँ माता-पिता की परवा न करके आप स्वयं किसी पुरुष को वरण कर लेती हैं। वहाँ की पतिवती ललनाएँ पति का त्याग कर जब जी में आता है किसी अन्य को प्रियतम बना लेती हैं। उन सभ्य देशों में ऐसा करना अनुचित नहीं समझा जाता, वरन् यह स्त्री जाति का स्वत्व समझा जाता है और माना जाता है कि ऐसा करने ही में स्त्री जाति की मर्यादा

और महत्ता सुरक्षित रहती है। क्योंकि इस प्रणाली से उनकी पराधीनता की बेड़ी कटती है, और स्वतन्त्रता का सच्चा सुख उन्हें प्राप्त होता है। आज कल भारत की सुशिक्षिता ललनाएँ भी इन प्रथाओं की ओर सतृष्ण नेत्रों से देख रही हैं, और स्वयं वरा होने की ही इच्छा दिन-दिन प्रबल नहीं हो रही है, पतियों के परित्याग का अधिकार प्राप्त करने का उद्योग भी चल रहा है। यदि वांछनीय यही है, तो परकीया को नायिकाओं में स्थान देकर प्राचीन साहित्य-कारों ने स्त्री जाति के स्वत्व की ही रक्षा तो की है, उन्होंने प्रकृति की नाड़ी टटोलकर उस समय उनके इस अधिकार को स्वीकार किया, उनकी वेदनाओं और उत्कण्ठाओं का मार्मिक भाषा में उल्लेख किया, जिस समय समाज उनको जैसा चाहिये वैसी अच्छी दृष्टि से नहीं देखता था। इतना निवेदन करने के बाद क्या यह बत-लाने की आवश्यकता रही कि परकीया का वर्णन युक्ति संगत है या नहीं!

अब रही गणिका। समाज में गणिका का भी उपयोग है। नाट्य शास्त्रकार महात्मा भरत ने अपने ग्रन्थ में बड़े विस्तार से यह लिखा है, कि नाटकों में गणिका की उपयोगिता से कहाँ-कहाँ कौन सा लाभ उठाया जा सकता है। एक नीतिशास्त्रकार गणिका के विषय में यह कहता है—

> देशाटनं पण्डितमित्रता च वारांगना राजसभाप्रवेशः।
> अनेक शास्त्राणि विलोकितानि चातुर्यमूलानि भवन्ति पंच॥

देशाटन, पण्डित की मित्रता, वारांगना का सहबास, राज सभा प्रवेश, अनेक शास्त्रों का अवलोकन, ये पाँचों चातुर्यकला सीखने के मूल हैं।

महाराज भर्तृहरि ने नृप-नीति को वारांगना के समान लिखा

है, इस पद्य में उन्होंने वारांगनाओं के कुछ गुणों का भी उल्लेख किया है। देखिये—

सत्या नृता च परुषा प्रियवादिनी च।
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरावदान्या।
नित्य व्यया प्रचुर नित्य धनागमा च।
वारांगणेव नृप नीति अनेक रूपा॥

सत्या है, अनृता भी; परुषा है, प्रियवादिनी भी; हिंस्रा है, दयावती भी; अनुदारा है, वदान्या भी; नित्यव्यया है, प्रचुर धनागमा भी, वास्तविक बात यह है कि वारांगना के समान नृप-नीति अनेक रूपा है।

साहित्यदर्पण कार भी उसको 'कापिसत्यानुरागिणी', लिखते हैं, मृच्छकटिक की वसन्तसेना इसका प्रमाण है। वे यह भी लिखते हैं—

तस्करा: पंडका मूर्खा सुखप्राप्तधनास्तथा।
लिगिंनश्छन्नकामाद्या आसा प्रायेण वल्लभा:।

चोर, नपुंसक, मूर्ख, जिनको अनायास धन मिल गया है, वे, और छद्म वेषधारी, प्रच्छन्न कामुक पुरुष प्राय: वेश्याओं के वल्लभ होते हैं। कम से कम इस पद्य से यह तो ज्ञात होता है, कि दुष्टों के एक बहुत बड़े दल से कुलांगनाएँ वेश्याओं के कारण सुरक्षित रहती हैं। कभी-कभी दुष्टजनों और बदमाशों का जो आक्रमण कुल ललनाओं पर होता रहता है, वही इसका प्रमाण है। छावनियों के सैनिकों के लिये जिस प्रकार उनका उपयोग होता है, वह भी अविदित नहीं।

इन बातों पर विचार करने से यह नहीं कहा जा सकता कि समाज में गणिकाओं का कुछ उपयोग नहीं। वास्तविक बात यह है कि इन्हीं दृष्टियों से नायिकाओं में उनकी गणना है। शरीर में कुछ

ऐसे अंग हैं, जिनका नाम लेना भी अश्लीलता है, फिर भी वे शरीर में हैं और उपयोगी हैं। इसी प्रकार वेश्याएँ कितनी ही कुत्सित क्यों न हों, पर वे समाज का एक अंग हैं और उनका भी उपयोग है। इसी लिये साहित्यों में उनकी चर्चा है। किन्तु यह स्मरण रहे कि जहाँ उनका वर्णन है, वहाँ उनकी कुत्सा ही की गई है। नायिका विभेद के ग्रंथों में उनको स्वार्थपरायण ही अङ्कित किया गया है। उनके कपटमय मानसिक भावों के चित्रण में जैसी उच्च कोटि की कविताएँ की गई हैं, कला की दृष्टि से उनकी जितनी प्रशंसा की जावे, थोड़ी है। कामुकों के आँख खोलने, और लम्पटों को सावधान करने की भी पर्याप्त सामग्री उन में पाई जाती है। जब एक वेश्या के मुख से कोई कवि कहलाता है—(नाथ हमैं तुमैं अन्तर पारत हार उतारि इतै धरि राखो) उस समय जहाँ वह कवि कला का कमाल दिखलाता है,एक स्वार्थ मय मानस का विचित्र चित्र खींचता है। वहीं यह भी बतलाता है कि किस प्रकार गणिकाओं की मधुर-तम बातों में प्रतारणा छिपी रहती है, और कैसे वह प्रेम का कपट जाल फैलाकर कामुकों को फाँस लेती हैं। इस पद्य में विवेकियों के लिये यह सुन्दर शिक्षा है, और असावधानों के लिये सावधानता का मंत्र। इसलिये जिस दृष्टि से देखा जावे साहित्य में गणिकाओं का नायिका रूप में ग्रहण असंगत नहीं ज्ञात होता।

एक बात और सुनिये। हाल में अमेरिका की किसी कौंसिल में यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया कि वहाँ की गणिकायें नगर से बाहर बसाई जावें, और नगर में रहने का उनका अधिकार हरण कर लिया जावे। प्रस्ताव उपस्थित होने पर यह तै पाया कि पहले यह निश्चित कर लिया जावे कि किन आधारों से कोई स्त्री गणिका मानी जा सकती है। यह बात स्वीकृत हुई, और आधार निश्चित किये जाने लगे। किन्तु कौन गणिका है और कौन अगणिका यह

निश्चित करने में इतना विवाद बढ़ा कि कोई बहुसम्मत आधार हो निश्चित न हो सका। परिणाम यह हुआ कि प्रस्तावक को प्रस्ताव उठा लेना पड़ा। यह वर्तमान सभ्य जगत के सर्वप्रधान देशका हाल है, तर्क करने वाले महाशय इस रहस्य का उद्घाटन करके स्वयं सोचें कि गणिका का नायिकाओं में स्थान पाना संगत है या असंगत।

साहित्यकारों ने स्वयं यह बतलाया है कि कौन-कौन विषय अश्लील और जुगुप्सा जनक हैं। यदि उन की दृष्टि में नायिका भेद अमर्यादित और जुगुप्सा मय होता तो कभी वे अपने ग्रंथों में उसे स्थान न देते और न उसे शृङ्गार रस मानते। प्रायः ब्रजभाषा की नायिका भेद की रचनाओं पर कटाक्ष करते हुए यह कहा जाता है, कि जिस समय भारत का पतन हो रहा था, और वह दुर्व्यसनों और भोग लिप्साओं में फँस गया था। उन्हीं दुर्दिनों में नायिका भेद की कल्पना की गई, और विषय प्रिय लोगों के उत्साह दान से वह लालित पालित और परिवर्द्धित हुई। किन्तु इतिहास से ऐसा पाया नहीं जाता। नायिका भेद का इतिहास आपलोग सुन चुके जिस काल में उसकी उद्भावना हुई, उस समय ब्रज भाषा का कण्ठ भी नहीं फूटा था, फिर उस पर इस प्रकार का कटाक्ष कहाँ तक संगत है।

शृंगार रस का दुरुपयोग

संसार में उत्तम से उत्तम और पवित्र से पवित्र कोई ऐसी वस्तु नहीं, जिसका दुरुपयोग न हो सके। सुधा स्वर्गीय पदार्थ है, और उसमें जीवनप्रदान क्षमता है। किन्तु यदि किसी संसार उत्पीड़क को जीवन दान करने के लिये उसका उपयोग होगा, तो यह उपयोग सदुपयोग न होगा, दुरुपयोग कहलावेगा। जल का नाम जीवन है, यदि उसका उपयोग उचित मात्रा में होगा, तो वह स्वास्थ्य रक्षा

का प्रधान साधन बनेगा, किन्तु यदि वह आवश्यकता से अधिक पी लिया जावे, तो व्याधि का कारण और कष्टदायक होगा। इसलिये सब वस्तुओं का सदुपयोग ही वांछनीय है। शृंगार रस क्या है, यह मैं बतला चुका हूँ, उसका उपयोगिता संसार-व्यापिनी है, किन्तु दुःख है, उसका दुरुपयोग भी हुआ। संस्कृत के कुछ महाकवियों ने भी ऐसा किया, और ब्रजभाषा के अनेक कवि एवं महाकवियों ने भी। महाकवि कालिदास की कुछ रचनाएँ अश्लील हैं। कुमारसंभव के अष्टम सर्ग में उन्होंने पार्वती देवी के साथ भगवान् शिव का जो विहार-वर्णन किया है, वह अवर्णनीय था। अनेक संस्कृत के विद्वानों ने इसकी निन्दा की है। साहित्यदर्पणकार लिखते हैं—

यो यथाभूतस्तस्यायथावर्णने प्रकृति विपर्ययो दोषः—यथा कुमार संभवे उत्तमदेवतयोः पार्वती परमेश्वरयोः संभोगश्रृंगार वर्णनम्।

जो जैसी प्रकृति का है, उसके स्वरूप के अनुरूप वर्णन न होने से प्रकृति विपर्यय दोष होता है, जैसे कुमारसंभव में उत्तम देवता श्रीपार्वती और महादेव का संभोग शृंगार वर्णन करना। आचार्य मम्मट भी यही कहते हैं—"रतिः संभोग शृंगार रूपा उत्तम देवता विषयान वर्णनीया, तद् वर्णनं हि पित्रोः संभोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितम्" उत्तम देवता विषयक संभोग शृंगार वर्णन करना योग्य नहीं, उसका वर्णन माता-पिता के संभोग वर्णन समान अत्यन्त अनुचित है।

उनका मेघदूत बड़ा ही अपूर्व ग्रन्थ है, किन्तु कभी-कभी सुरुचि पर उसके द्वारा भी वज्रपात होता है। शृंगार लतिका का कोई-कोई पद्य-पुष्प भी जैसा चाहिये वैसा सुगन्धित नहीं। नैषध हो चाहे माघ चाहे किरातार्जुनीय। लग-भग सभी काव्यग्रन्थों में कुछ-न कुछ पद्य ऐसे हैं जो परिमार्जित रुचि के नहीं कहे जा सकते। गीत गोविन्द की कोमल कान्त पदावली की जितनी प्रशंसा की जावे थोड़ी है, इस विषय में कोई काव्य ग्रन्थ उसका समकक्ष नहीं।

पद्यों को पढ़िये तो ज्ञात होता है कि एक-एक शब्द सुधा वर्षण कर रहा है। कला की दृष्टि से वह अद्वितीय है। किन्तु इस रस सरोवर में कुछ ऐसे भावकमल हैं, जिनको सुरुचि कमनीय नहीं मानती। नाटकों में प्रायः नान्दी-पाठ के ऐसे पद्य मिलते हैं, जो सुरुचि संगत नहीं कहे जा सकते। वास्तविक बात यह है कि संस्कृत-साहित्य अश्लीलता तो मानता है, किन्तु जहाँ कोई विषय किसी भाव के न वर्णन करने से अपूर्ण रह जाता है, अथवा जहाँ कोई आशय प्रसंग प्राप्त सत्य है, वहाँ वह उसकी पूर्ति को ही प्रधानता देता है। उस समय वह अश्लीलता के फेर में नहीं पड़ता। क्योंकि अश्लीलता की भी सीमा है। वैद्यक ग्रन्थों में जहाँ नाना रोगों की व्याख्या है, क्या वहाँ गुप्तांगों के रोगों का वर्णन न होगा, अवश्य होगा और यदि अवश्य होगा, तो उन अंगों के एक-एक अंश का क्या खुला निरूपण उसमें न मिलेगा? यदि मिलेगा, तो क्या इससे ग्रन्थ में अश्लीलता आ जावेगी? कोषों में वे शब्द मिलते हैं, मुख से जिनका उच्चारण करते संकोच होता है। उनमें ऐसे शब्द मिलते ही नहीं, उनका पूरा विवरण भी होता है, तो क्या इससे कोष निन्दनीय बन जाता है? स्त्री के वे अंग जो सदा गुप्त रक्खे जाते हैं, जिनकी ओर दृष्टि उठाकर देखना भी अभद्रता समझी जाती है, जिनकी चर्चा भी कलंकित करती है। डाक्टर उन्हीं अंगों की जाँच पड़ताल करता है, उनका स्पर्श करता है, आवश्यकता होने पर उनको टटोलता है, उनको चीड़ता-फाड़ता है, तरह-तरह से उन्हें देखता भालता है, परन्तु यह कार्य गर्हित नहीं माना जाता और न डाक्टर ही को कोई बुरा कहता है, क्योंकि उसका उद्देश्य सत् है। ऐसा करने के समय वह मनोविकार ग्रस्त नहीं होता, और न उसकी निर्दोष मनोवृत्ति पापवासना मूलक होती। विशेषज्ञ लोग कला की सर्वांग पूर्णता के लिये साहित्य-

कारों के अश्लीलता उपेक्षा सम्बंधी कार्य को इसी प्रकार का मानते हैं। मत-भिन्नता को कहाँ स्थान नहीं, परन्तु एक हद तक यह सिद्धान्त स्वीकार किया जा सकता है। मैं समझता हूँ, संस्कृत साहित्य की इस प्रकार की बहुत सी रचनाएँ इस हद के अन्दर आ जा सकती हैं। परन्तु उसमें भी ऐसे कवि पाये जाते हैं, जिनकी काम-वासनामय प्रवृत्ति उनसे ऐसी अश्लील रचना कराने में समर्थ हुई है, जो किसी भाँति अनुमोदनीय नहीं। कुछ ऐसी ही रचनाएँ व्रजभाषा में भी हैं।

श्रीमती राधिका का पद बहुत ऊँचा है, उनको वही गौरव प्राप्त है, जो किसी लोकाराधनीया ललना को दिया जा सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण यदि लोक-पूज्य महापुरुष हैं, तो श्रीमती राधिका सर्वजन आदृता रमणी। वे यदि मूर्तिमान् प्रेम हैं, तो ये मूर्तिमती प्रेमिका। वे यदि विष्णु के अवतार हैं, तो ये हैं लक्ष्मी स्वरूपिणी। वे यदि हैं देवादिदेव, तो ये हैं साक्षात् स्वर्ग की देवी। अपने सच्चे प्रणय और निःस्वार्थ प्रेम के कारण ही उनके नाम को भगवान् श्रीकृष्ण के पवित्र नाम के प्रथम स्थान प्राप्त हुआ। कहा जाता है, श्रीमद्भागवत में उनका नाम नहीं, रामानुजाचार्य्य ने भी ईश्वरीय युगल मूर्त्ति की कल्पना के समय उनका स्थान रुक्मिणी देवी को दिया, इसलिये उनको अथवा उनके नाम को वह महत्ता नहीं प्राप्त होती, जो अन्य देव-विभूतियों को मिलती है। भागवत में भले ही उनका नाम न हो, किन्तु ब्रह्मवैवर्त पुराण के कृष्ण-खण्ड और खिल हरिवंश पर्व में उनका नाम मिलता है। महात्मा विष्णु स्वामी और निम्बार्काचार्य्य ने राधा नाम की प्रतिष्ठा की है, महाप्रभु वल्लभाचार्य्य ने भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना के साथ श्रीमती राधिका के स्वर्गीय प्रेम का प्रचार भी किया है। स्वामी हित हरिवंश ने तो राधा-वल्लभी एक संप्रदाय ही बना डाला, जिसमें

उन्होंने उन्हींको सर्वाराध्या बतलाया। चैतन्यदेव स्वयं मूर्तिमान् राधा थे, उन्होंने श्रीमती राधिका के उदात्त प्रेम का जो आदर्श उपस्थित किया वह अभूत पूर्व है। बंग कवि चण्डीदास, मैथिल कोकिल विद्यापति, पीयूषवर्षी महापुरुष जयदेव और प्रज्ञाचक्षु महाकवि सूरदास ने जिस विश्वव्यापी स्वर में श्रीमती राधिका का गुणगान किया, वह लोक विश्रुत है। उत्तरीय भारत और गुजरात के लक्षाधिक मन्दिरों में भगवान् श्रीकृष्ण के साथ श्रीमती राधिका की मूर्त्ति आज भी प्रतिष्ठित है। लगभग सहस्र वर्ष से वे करोड़ों हिन्दुओं के भक्ति-मण्डित हृदय सिंहासन पर विराजमान हैं। उनके विषय में उनके सम्प्रदाय वालों और संस्कृत के कुछ प्रधान ग्रंथों ने जो लिखा है, वह तो उनको सर्व लोकों से उच्च गोलोक की अधिष्ठातृ देवी और जगदम्बिका बतलाता ही है, किन्तु नव शिक्षा-दीक्षा दीक्षित लोगों ने वर्तमान काल में उनके विषय में जो लिखा है, वह भी उनकी महत्ता का पूर्णद्योतक है—बंगभाषा श्री साहित्यकार बाबू दीनेशचन्द्र सेन बी० ए० अपने ग्रंथ के पृष्ठ २४४ में यह लिखते हैं–

"अपूर्व प्रेम और भक्ति के उपकरण से श्रीमती राधिका सुन्दरी निर्मित हैं, वे आयशा अथवा कुन्दनन्दिनी नहीं हैं—जो उनके विरह-जन्य कष्ट की एक कणिका वहन कर सके, अथवा उनके सुख-समुद्र की एक लहरी धारण करने में समर्थ हो, इस प्रकार का नारी चरित्र पृथ्वी के काव्योद्यान में कहाँ है।"

बंग प्रान्त के प्रसिद्ध विद्वान् और लेखक श्रीयुत पूर्णचन्द्र वसु अपने 'साहित्य चिन्ता' नामक ग्रंथ में श्रीमती राधिका के विषय में यह लिखते हैं—

"आर्यों के भक्ति शास्त्र में एक और भी आदर्श प्रेम है, राधा उस प्रेम की प्रतिमा हैं, गोपियाँ उस प्रेम की सहचरी हैं। राधिका मधुर गोपिका प्रेम का प्रकृष्ट निदर्शन हैं। पति पत्नी का

प्रेम जहाँ तक उन्नत हो सकता है, उस उन्नतावस्था को राधिका का प्रेम पहुँचकर कृष्ण भक्ति से परिपूर्ण हो गया था। इसीसे इस भक्ति का नाम प्रेमाभक्ति है। दाम्पत्य प्रेम की परिपूर्णता को भगव-दर्पण करना ही इसका उद्देश है; क्योंकि भगवान् ही प्राणवल्लभ हैं। राधिका और गोपियों के अतिरिक्त और कोई नहीं कह सकता कि भगवान् हमारे प्राणवल्लभ हैं। सत्यभामा ने ऐसा कहा था, पर राधिका प्रेमी कृष्ण ने उनका यह दर्प चूर्ण कर दिया था। सत्यभामा का प्रेम दर्पित भक्ति का रूप था, वह राधिका की आत्म समर्पण-कारिणी प्रेमा भक्ति की तुलना नहीं कर सकता। रुक्मिणी की भक्ति में प्रेम की मधुरता दाम्पत्य प्रेम की मधुरता में मिल गई थी, जिससे उनका प्रेम पूर्णता को प्राप्त हो चुका था। राधिका उसी प्रेम भक्ति में उल्लासिनी और कृष्ण लीलामयी हो गई थीं। उनके लिये कृष्ण का प्रेम ही संसार था, वही उनका सर्वस्व था। कृष्ण ही राधा के धन, सुख और चिन्ता थे, वे श्याम के प्रेम में ही मत्त थीं।"

श्रीमती राधिका की इस महिमामयी मूर्त्ति को व्रजभाषा के थोड़े से हो कवियों अथवा महाकवियों ने पहचाना, अधिकांश ने उनकी एवं भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं को साधारण दृष्टि से ही देखा और साधारण दृष्टि से ही उनको अंकित किया। इस प्रकार के कविगण भी अधिक उपालंभ योग्य नहीं, क्योंकि फिर भी उनकी रचनाएँ अमर्यादित नहीं। दुःख उन कवियों के कृत्य पर है, जिन्होंने साधारण विषयी पुरुष स्त्री के समान उनके चरित्रों को अंकित किया और इस प्रकार पवित्र शृंगाररस का दुरुपयोग करके व्रजभाषा को भी कलंकित बनाया। माता-पिता की बिहार सम्बन्धी अनेक बातें ऐसी हैं, जिनको पुत्र अपने मुख पर भी नहीं ला सकता, उनके विषय में अपनी जीभ भी नहीं हिला

सकता, क्योंकि यह अमर्यादा है। देखा जाता है, आज भी कोई पुत्र ऐसा करने का दुस्साहस नहीं करता। फिर भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीमती राधिका के हास-विलास का नग्न चित्र क्यों अंकित किया गया ? क्या वे जगत् के पिता-माता नहीं और हमलोग उनके पुत्र नहीं ? क्या ऐसा करके बड़ा ही अनुचित कार्य नहीं किया गया ?

खेद है कि ऐसी धृष्टता उन्हीं कवियों के हाथ से अधिकतर हुई जिन्होंने नायिका भेद के ग्रंथ लिखे। उन्हीं लोगों के कारण ही आजकल नायिका भेद की रचनाओं की इतनी कुत्सा हो रही है। नायक के रूप में मुरली मनोहर और नायिका के रूप में श्रीमती राधिका का ग्रहण किया जाना, उनके लिये अनर्थों का मूल हुआ। इस अविवेक का कहीं ठिकाना है कि करते हैं छीछालेदर जगत् के पिता-माता की। और समझते हैं, उसको पवित्र भगवत् सुयश-गान। उत्तर काल में यह भाव इतना प्रबल हुआ कि सत्-असत् का ज्ञान ही जाता रहा। मन्दिरों में भजन करने के लिये बैठे हैं, श्रोतृमंडली भगवत् गुणानुवाद सुनकर पुण्य-संचय करने के लिये एकत्रित है। किन्तु हम प्रारम्भ करते हैं, ऐसे गान और पढ़ने लगते हैं ऐसी कविताएँ, जिनको सुनकर निर्लज्जता के कान भी खड़े हों। परन्तु सोचते हैं यही कि स्वर्ग का द्वार उन्मुक्त हो रहा है और हमपर पुष्प वृष्टि करने के लिये गगन-पथ में देवताओं के विमान चले आ रहे हैं। इससे बढ़कर दूसरा अज्ञान क्या होगा ? कहते मर्मपीड़ा होती है कि यह अज्ञान हमलोगों में इतना घुसा कि उससे समाज का बहुत बड़ा अपकार हुआ, आज भी हो रहा है, किन्तु हमारी आँखें ठीक-ठीक कहाँ खुलीं !

यह मैं स्वीकार करता हूँ कि प्रेम देव भगवान् श्रीकृष्ण और प्रेम-प्रतिमा श्रीमती राधिका को लाभ कर ब्रजभाषा साहित्य में

वह जीवन आया और उसका ऐसा शृंगार हुआ कि न भूतो न भविष्यति। व्रजभूमि ने यदि उसे भव्य बनाया, तो कलिन्दतनया ने उसमें वह रस धारा बहाई, उसको उन ललित लहरियों, से लसाया, उन कल-कल रवों और मनोहर दृश्यों से सुशोभित किया कि जिसकी प्रशंसा शत मुख से भी नहीं हो सकती। कहाँ है वृन्दावन-सा वन और कहाँ हैं व्रज की कलित कुंजों सी कुंजें। किस भाषा की कविता में वह अलौकिक मुरलिका बजी, वह विश्व विमुग्धकर गान हुआ, जिसको सुन पशु-पक्षी तक विमुग्ध हो गये, वृक्ष का पत्ता-पत्ता पुलकित हो गया। किस काव्य संसार को मनमोहन सा रसिक शिरोमणि, माधव सा मधुर हृदय, कोटि काम कमनीय कृष्ण-सा लोकमोहन और अखिलकलाकुशल केशव सा कामद कल्प-तरु प्राप्त हुआ। किस साहित्य ने श्रीमती राधिका-सी लोकललामर-मणी, वृषभानु नन्दिनी-सी प्रेमपरायणा, सरल हृदया, त्यागमयी, आनन्द की मूर्ति, युवती पाई। किन्तु दुःख है कि कुछ अविवेकी कवियों ने इस महत्व को नहीं समझा और उलटी ही गंगा बहाई।

मैं यह भी मानता हूँ कि जिस समय अपने सूफी धर्म के प्रेम की मधुरता और मोहकता की ओर कुछ मुसलमान धर्म के उन्ना-यक हिन्दुओं के हृदय को आकर्षित कर रहे थे। मलिक मुहम्मद जायसी जैसे सत्कवि प्रेम कहानियाँ हिन्दी में लिखकर हिन्दुओं के मानसचित्रपट पर लैला मजनूँ—शीरींफरहाद एवं यूसुफ़ज़लेखा की प्रेम प्रणाली का चित्र अंकित कर रहे थे। जब निर्गुणवादी सन्तों के चेले खंजरी पर विराग के गीत गा-गा हिन्दू जनता को घर बार छोड़ने के लिये उत्सुक बना रहे थे, उसके हृदय में देवी देवता की अप्रीति उत्पन्न कर उसे निरुद्देश्य बनाने में दत्त-चित्त थे। उस समय विष्णु स्वामी, निम्बार्काचार्य्य और विशेष कर महात्मा वल्लभा चार्य्य ने प्रेममय श्री कृष्ण की उपासना के लिये श्रीमती

राधिका का अनुराग और त्याग-पूर्ण-आदर्श उपस्थित कर जो उपकार हिन्दू-जाति का किया वह स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। उसके प्रभाव ने जहाँ ऐसे लोग उत्पन्न किये, जिन्होंने समझा कि भगवद्भक्ति अथवा ईश्वरानुराग प्राप्ति के लिये गृह त्याग आवश्यक नहीं, वहाँ चैतन्य देव जैसे महापुरुष और मीराबाई जैसी पवित्र-चरित्रा रमणी को भी जन्म दिया। जिन्होंने श्रीमती राधिका के आदर्श पर प्रेममय जीवन व्यतीत कर अपना ही नहीं, भारतवर्ष के अनेक प्राणियों का उद्धार किया। आज भी बंगाल-प्रान्त में करोड़ों स्त्री-पुरुष चैतन्य देव के आदर्श पथ के पथिक हैं। मीराबाई के हृदय में प्रेम की कैसी प्रबलधारा बही, उसको निम्नलिखित पद्यों में देखिये—

बसो मेरे नैनन में नँदलाल।
मोहनी मूरति साँवरी सूरति नयना बने बिसाल।
अधर सुधारस मुरली राजित उर वैजन्ती माल॥
छुद्र घंटिका कटितट सोभित नूपुर शब्द रसाल।
मीरा प्रभु सन्तन सुखदाई भक्त बछल गोपाल॥१॥
मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।
दूसरो न कोई साधो सकल लोक जोई॥
भाई तजा बन्धु तजा तजा संग सोई।
साधुन सँग बैठि-बैठि लोक लाज खोई॥
भगत देख राजी भई जगत देख रोई।
अँसुवन जल सींचि-सींचि प्रेम बेलि बोई॥
अब तो बात फैल गई जानै सब कोई।
मीरा को लगन लगी होनि हो सो होई॥२॥

कृष्णगढ़ के महाराज सावन्त सिंह उपनाम नागरीदास ने राधाकृष्ण प्रेम-पथ के पांथ बनकर ही राज्य को तृण समान त्यागा

और प्रेम रस निचुड़ती हुई ऐसी सरल कविताएँ कीं, जिनको पढ़कर आज भी सुधा रस का आस्वादन होता है। रसखान जाति के मुसलमान थे, उनपर युगल-स्वरूप की माधुरी ने ऐसा जादू डाला कि वे अपना धर्म त्यागकर वैष्णव बन गये और ऐसी सच्ची वैष्णवता दिखलाई कि गोस्वामी विट्ठलनाथ ने अपनी २५२ वैष्णवों की वार्ता में उनको भी सादर स्थान दिया। देखिये, निम्नलिखित पद्यों में उनके हृदय का सच्चा प्रेम कैसा छलका पड़ता है—

मानुस हौं तो वही रसखान बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्‌यौ कर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन।

या लकुटी अरु कामरिया पर राजतिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहुँ सिद्धि नवो निधि को सुख नन्द की गाय चराय बिसारौं।
आँखिन सों रसखान कबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिन हूँ कलधौत के धाम करीर के कुंजन ऊपर वारौं।

यह राधा कृष्ण प्रेम का प्रवाह हिन्दी-साहित्य संसार में इतना व्यापक है कि जो प्रेम के रंग में सच्चे जी से रँगा, वही इस युगल-मूर्त्ति की प्रीति-डोरो में बँध गया। हित हरिवंश और हरिदास आदि महात्मागण, अष्ट छाप के वैष्णव और घनआनन्द आदि सुकविगण ने इस रंग में रँगकर जो रचनाएँ की हैं वे बड़ी ही भावमयी एवं मधुर हैं, स्थान-स्थान पर उनमें सच्चे प्रेम का सुन्दर चित्रण पाया जाता है—कुछ रचनाएँ घनआनन्द की देखिये—

गुरुनि बतायो राधा मोहन हू गायो सदा
सुखद सुहायो वृन्दावन गाढ़े गहु रे।

अद्भुत अभूत महि मंडन परे ते परे
जीवन को लाहु हा ! हा ! क्यों न ताहि लहुरे ॥
आनँद को घन छायो रहत निरंतर ही
सरस सुदेय सों पपीहापन बहु रे ।
जमुना के तीर केलि कोलाहल भीर
ऐसे पावन पुलिन पै पतित परि रहु रे ॥

अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेको सयानप बाँक नहीं ।
तहाँ सांचे चलैं तजि आपनपौ झिझकै कपटी जोनिसाँक नहीं ॥
घन आनँद प्यारे सुजान सुनौ इत एकतें दूसरो आँक नहीं ।
तुम कौन सी पाटी पढ़े हो लला मन लेहु पैदेहु छटांक नहीं ॥
हमसों हितकै कितकौ नित ही चित बीच वियोगहि पोइ चले ।
सु अखैबट बीजलौं फैलि पर्‌यौ बनमाली कहां धौं समोइ चले ॥
घन आनँद छांह बितान तन्यो हमें तापके आतप खोइ चले ।
कबहू तेहि मूल तो बैठिये आइ सुजान जो बीजहिं बोइ चले ॥

इतना ही नहीं, इस युगल मूर्ति के प्रेम और मधुर लीलाओं के रस का प्रवाह मर्यादित एवं संयत रामावत संप्रदाय में भी बहा । पहले पहल 'हरि' नामक संस्कृत के एक सुकवि और सहृदय विद्वान् ने 'जानकी गीतम्' नामक एक गीति काव्य लिखकर 'गीतगोविन्द' का सफल अनुकरण किया । अभी इनका काल निश्चित नहीं हुआ, किन्तु इन्हें विलास वर्णन और सरस पद विन्यास में गीतगोविन्द कार का समकक्ष कहा जा सकता है । उनका एक पद्य देखिये—यह पद्य गीतगोविन्द के 'ललित लवंगलता परि शोलन कोमल मलय समीरे' गीत के आधार पर लिखा गया है—

मृदुल रसाल मुकुल रसतुन्दिल पिकनिकरस्वन भासे ।
माधविका सुमना नव सौरभ निर्भर सङ्कलिताशे ॥

विलसति रघुपति रति सुख पुंजे।
निर्मल मलयज कुंकुम पंकिल तनुरिह वरतनु पुंजे॥
विषम विशिख कर नखर निचय सम किंशुक कुसुम कराले।
मानवती गण मान विदारिणि चञ्चल मधुकर जाले॥

धृत मकरन्द सुगंध गंधवह भाजि विराजित शोभे।
विविध वितान कान्ति परिशीलन जनित युवति जन लोभे।
हरि परिरचितमिदं मधुवर्णनमनु रघुनाथमुदारम्।
पिवत बुधा मधु मधुर पदावलि निरुपम भजनसुधारम्॥

ऐसा करना उचित हुआ अथवा अनुचित, यह अन्य विषय है। किन्तु इसका अनुकरण बहुत हुआ। साकेतपुरी—लक्ष्मण टीला के प्रसिद्ध महंत युगलानन्य शरण इसके प्रभाव से विशेष प्रभावित हुए। उन्होंने श्रीमती जानकी देवी और उनकी सखियों को लेकर भगवान् रामचन्द्र का रास-मण्डल तक लिख डाला। उनकी एवं उन्हीं की मण्डली के कतिपय सहृदय कवियों की रचनाएँ अष्ट छापके वैष्णवों की रचनाओं सी ही सरस हैं। किन्तु उनमें वास्तविकता कहाँ, काया काया है और छाया छाया। हाँ, राधा कृष्ण की माधुर्य उपासना का रंग उनमें लबालब भरा है।

यह सब जानते और मानते हुए भी यह कहना पड़ता है कि व्रजभाषा में कुछ ऐसी रचनाएँ हैं जिनमें वीभत्स काण्ड की पराकाष्ठा हो गई है। मैं उदाहरण के लिये कुछ ऐसी कविताएँ उद्धृत कर सकता हूँ, किन्तु ऐसा करना युक्तिसंगत नहीं ज्ञात होता। जिस अश्लीलता की निन्दा की जा रही है, उसीसे इस ग्रंथ के कलेवर को कलंकित करना क्या उचित होगा? ऐसी रचनायें प्रायः नायिका भेद के रीति ग्रंथों में ही पाई जाती हैं। प्रेम के रंग में रँगकर केवल प्रेम के निरूपण अथवा वर्णन में जो कविताएँ की

गईं अथवा ग्रंथ रचे गये उनमें इस प्रकार का दोष बहुत कम मिलता है।

हृदय के उद्गार मानसिक भावों के चित्र होते हैं। मनुष्य जैसा सोचता विचारता है, वैसे ही भाव अवसर आने पर प्रकट करता है। जो व्यसन-प्रिय है, जिसको नग्न चित्र अंकित करना ही प्यारा है, उससे यह आशा नहीं हो सकती, कि वह परमार्जित रुचि की बातें लिखेगा, अथवा कहेगा। संसार विचित्रतामय है, उसमें सभी प्रकार के लोग हैं। इसलिये यह नहीं सोचा जा सकता कि कभी इस प्रकार के लोग पृथ्वी में न रहेंगे। यदि यह सत्य है तो यह भी सत्य है, कि अश्लीलता का किसी काल में लोप न होगा, वह सदा रहेगी, समयानुकूल उसमें थोड़ा बहुत परिवर्तन भले ही होता रहे। कोई देश ऐसा नहीं जिसमें इस प्रकार के मनुष्य न हों, कोई समाज ऐसा नहीं, जिसमें यह रोग न लगा हो, और कोई साहित्य-सुमन ऐसा नहीं, जिसमें यह कण्टक न हो। विश्व में सुरुचि के लिये ही जगह है, कुरुचि के लिये नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। त्यागभूमि के तीसरे वर्ष के छठे अंक पृ. ६८३ में महात्मा गांधी का एक लेख 'नव-जीवन' से उद्धृत हुआ है, उसमें वे लिखते हैं—

'कोई देश और कोई भाषा गंदे साहित्य से मुक्त नहीं है। जब तक स्वार्थी और व्यभिचारी लोग दुनिया में रहेंगे, तबतक गन्दा साहित्य प्रकट करनेवाले और पढ़नेवाले भी रहेंगे'।

उर्दू साहित्य अश्लीलतामय है, उसमें चिरकीं और जाफ़र जटल ऐसी कुत्सित प्रवृत्ति के कवि हो गये हैं, कि जिनकी जितनी कुत्सा की जावे थोड़ी है। चिरकीं का एक दीवान है, जो मलमूत्र के वर्णन से भरा पड़ा है, जाफ़र जटल भी उनसे पीछे नहीं है, गंदा

मज़मून लिखने में वह अपना सानी नहीं रखता। इसीलिये मौलाना हाली यह लिखने के लिये विवश हुए—

बुरा शेर कहने की गर कुछ सज़ा है।
अबस झूठ बकना अगर नारवा है।
तो वह महकमा जिसका क़ाज़ी खुदा है।
मुकर्रर जहाँ नेको बदकी जज़ा है:
गुनहगार वाँ छूट जावेंगे सारे।
जहन्तुम को भर देंगे शायर हमारे।

जब इन बातों पर दृष्टि डाली जाती है, तो ब्रजभाषा के अपरिमार्जित रुचि के कवियों के अपराध की मात्रा अपेक्षा कृत न्यून हो जाती है, क्योंकि उनका इतना पतन नहीं हुआ। फिर भी वे क्षमा नहीं किये जा सकते। क्योंकि जिनको जगत् का पिता माता माना, उनका सुरत वर्णन करते उनकी लेखनी कुंठित नहीं हुई। साहित्यदर्पणकार ने यह लिखा है—

'सुरतारम्भगोष्ठ्यादावश्लीलत्वं तथा पुनः।'

'जहाँ कामगोष्ठी हो वहाँ अश्लीलत्व गुण होता है'

कुछ लोग इस सूत्र के आधार से यह अनर्गल प्रलाप करते हैं, कि जब कामगोष्ठी में अश्लीलत्व गुण होता है, तो सुरत वर्णन में जो अश्लीलता मिले, वह सदोष नहीं कही जा सकती। ज्ञात होता है संस्कृत के कुछ साहित्यकारों ने सुरत वर्णन में जो अनुचित स्वतंत्रता ग्रहण की है, उसका आधार इसी प्रकार का कोई प्राचीन सूत्र होगा। परन्तु वास्तविक बात यह है कि साहित्यदर्पण के सूत्र का यह भाव कदापि नहीं है। वह तो यह कहता है कि यदि सुरत वर्णन के समय गुप्त स्थानों का खुला नाम अश्लीलता बचाने के लिये न लिखकर उसका पर्याय वाची ऐसा कोई शब्द उसके स्थानपर लिख दिया जावे, जिसका दूसरा अर्थ भी हो तो वह शब्द

अश्लील न समझा जावेगा, क्योंकि उसका प्रयोग दोष दूरीकरण के लिये ही हुआ। ऐसी अवस्था में साहित्यदर्पण का उक्त सूत्र सुरत वर्णन में अश्लीलता का प्रतिपादक नहीं, वरन् विरोधी है। दूसरी बात यह कि जब स्पष्ट शब्दों में कह दिया गया कि—

'अश्लीलत्वं व्रीड़ाजुगुप्साऽमंगलव्यञ्जकत्वात् त्रिविधम्'

"लज्जा, घृणा और अमंगल व्यंजक होने से अश्लील तीन प्रकार का होता है।"

—साहित्यदर्पण

तो फिर बात गढ़कर उसपर पर्दा डालने से हास्यास्पद ही बनना होगा, इष्ट सिद्धि न होगी। अश्लीलता का रूप इतना व्यापक है कि जो वर्णन लज्जा जनक, घृणा व्यंजक, और अमंगल मूलक होगा, वह सब अश्लीलता दोष से दूषित हो जावेगा। सुरत का वर्णन ही लज्जाजनक और घृणा व्यंजक है, यदि साहित्य का अंग समझकर उसका वर्णन किया जावे ही तो उसको संयत से संयत होना चाहिये, न यह कि खुल खेला जावे, और कोढ़ में खाज पैदा की जावे। यह तो साधारण सुरत वर्णन की बात है। माता-पिता का सुरत वर्णन तो हो ही नहीं सकता। नायिका के अंग प्रत्यंग और उनके हास-विलास और क्रीड़ादि का वर्णन भी किसी किसी कवि ने असंयत भाव से कर अपनी रचना को कामुकता का अखाड़ा बना दिया है। ए ऐसे दोष हैं कि इनपर पर्दा नहीं डाला जा सकता। फिर क्यों न कहा जावे कि इस प्रकार की रचनाओं में शृंगार रस का दुरुपयाग हुआ।

शृंगार रस और वर्त्तमानकाल

एक दिन था, जब भारतवर्ष मुसलमान सम्राटों के प्रबल प्रभाव से प्रभावित था, और उनकी सभ्यता धीरे-धीरे उसके अन्तस्तल में वैसे ही प्रवेश कर रही थी, जैसे आजकल पाश्चात्य रहन-सहन

की प्रणाली उसके हृदय में स्थान ग्रहण कर रहा है। मुसलमानों के साम्राज्य का सबसे अधिक प्रभाव भारतवर्ष पर अकबर के समय में पड़ा, जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में वह अक्षुण्ण रहा, औरंगजेब के समय में उसका ह्रास प्रारंभ हो गया। व्रजभाषा के प्रसार, विस्तार और समुन्नति का प्रधान काल यही है। इन डेढ़ सौ बरसों में जैसा उसका शृंगार हुआ, जैसा वह फूली फली, जैसे सहृदय कवि उसमें उत्पन्न हुए, फिर वैसा नहीं हुआ। जैसा आज-कल के शासकों का प्रभाव उनकी सभ्यता रंग-ढंग एवं उनकी रीति नीति का असर भारत की भाषाओं और भावों पर पड़ रहा है उस समय वैसा ही प्रभाव मुसलमान शासकों की प्रत्येक बातों का व्रजभाषा के साहित्य पर पड़ा था। कारण यह कि—यथा राजा तथा प्रजा। मुसलमान जाति विलास-प्रिय है। उसका साहित्य विलासिता के भावों से मालामाल है। प्रेम की कहानियों और प्रेमी एवं प्रेमिकाओं के रंग रहस्यों, और चोचलों की उसमें भरमार है। फ़ारसी की कविताओं में क्या है, इस बात को आप मुसलमानों की उर्दू कविताओं को पढ़कर जान सकते हैं, क्योंकि वही इसकी उद्गम भूमि है। उर्दू में जो हास, विलास, जो प्रेम के ढकोसले, पचड़े, बखेड़े मिलते हैं, उसमें जो लम्पटता, कामुकता, लिप्सा और वासनाओं के वीभत्स काण्ड दृष्टिगत होते हैं, वे सब फ़ारसी ही से उसे मिले हैं, फ़ारसी के ग्रंथ ही मुसलमान साहित्य के सर्वस्व हैं। उसपर अरबों की संस्कृति का भी बहुत बड़ा प्रभाव है, परन्तु पारस की संस्कृति का रंग ही उसका निजस्व है। इन दोनों संस्कृतियों से जैसी खिचड़ी पकी, उसका आस्वाद फ़ारसी के साहित्य ग्रंथों में खूब मिलता है। वास्तविक बात यह है कि मुसलमान उनसे प्रभावित हैं, और वे उनकी चिर संस्कृतियों के दर्पण हैं। जो अकबर बड़ा सभ्य और शिष्ट समझा जाता है, उसके मीनाबाज़ार की बातों

को सुनकर विलासिता भी कम्पित होती है। जहाँगीर और शाहजहाँ की बातें किससे छिपी हैं। औरंगज़ेब जो बड़ा मज़हबी आदमी समझा जाता है, उसकी सेना के वर्णन में एक अँगरेज ने लिखा है कि वह रंडी, भड़वों से भरी रहती थी। सिपहसालारों और सिपाहियों की यह अवस्था थी कि हथियार पीछे रह जावे तो मुज़ायक़ा नहीं, पर क्या मजाल कि 'साज़ेतरब' हाथ से छूटे। प्रायः लोग नशे में चूर और मख़मूर मिलते। सुबह को दवा खाते, और रात में नींद न आने की शिकायत करते पाये जाते। परिणाम यह हुआ कि औरंगजेब की आँख बन्द होते ही राजकुल की विलासिता इतनी बढ़ी कि उसने बादशाही को ही निगल लिया। मुसलमानों की विलासिता की पराकाष्ठा वाजिदअलीशाह में दृष्टिगत होती है, जिसने उसपर अपने 'तख़्तोताज' तक को निछावर कर दिया।

यह विलासिता ब्रजभाषा में भी घुसी, और उसने उसके साहित्य ग्रंथों के कुछ अंगों को उपहास योग्य बना दिया। कारण सामयिक प्रभाव और उस काल के लोगों का मनोभाव है। जैसा समाज होता है, अधिकांश साहित्य का रूप वैसा ही होता है। शासक जब विलासिता-प्रिय है, और उसके साधनों को प्रश्रय देता है, तो अनेक कारणों से शासित में उसका प्रसार हुए विना नहीं रहता। शाशित को कुछ तो उसकी मनस्तुष्टि के लिये उसके जैसा बनना पड़ता है, कुछ अपने स्वार्थ साधन के लिये, और कुछ उसके संसर्ग प्रभाव से प्रभावित होकर। औरंगज़ेब के बाद का सौ वर्ष का काल ले लें, तो ज्ञात हो जावेगा कि इन सौ वर्षों में भी ब्रज-भाषा को लाञ्छित करनेवाली कम कविताएँ नहीं हुईं। मैं यह स्वीकार करूँगा कि इस प्रकार की कुछ कविताएँ अपनी भाषा की मान रक्षा के लिये भी हुई हैं, क्योंकि प्रतिद्वंदिता का अवसर आने पर कोई कितना ही दबा क्यों न हो पर अपने धन-मान की रक्षा

का उद्योग करता ही है। कहा जाता है कि कविवर बिहारीलाल के अधिकांश दोहे उर्दू अथवा फ़ारसी शेरों की बलंदपरवाज़ियों को नीचा दिखाने के लिये ही लिखे गये हैं। यह सत्य भी हो सकता है, क्योंकि उनकी नाज़ुकख़याली बन्दिश, मुहावरों की चुस्ती, और कलाम की सफ़ाई बड़े-बड़े उर्दू शोअ़रा के कान खड़े कर देती है। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि व्रज-भाषा की अधिकांश अमर्यादित रचनाएँ सामयिक प्रवृत्तियों और प्रवाहों का फल हैं।

एक वह समय था, जिसने व्रज-भाषा की इस प्रकार की कविताओं को जन्म दिया, आज वह समय उपस्थित है, जब ऐसी कविताओं की कुत्सा की जा रही है, साथ ही व्रजभाषा को भी भला-बुरा कहा जा रहा है, और शृंगाररस का नाम सुनते ही नाक-भौं सिकोड़ी जा रही है। किन्तु यह भ्रान्ति है। व्रज-भाषा साहित्य बहुत विस्तृत है, कबीर साहब के समय से लेकर आज तक जितने संत हो गये हैं, उन सब सन्तों की वाणी लगभग व्रज-भाषा में है। जिस मुसलमान शासन काल में व्रज-भाषा में अवांछित कविताएँ हुईं, उसी काल में देश में महाराणा प्रताप, गुरुगोविन्द सिंह, और वीर छत्रसाल आदि ऐसे-ऐसे नरकेशरी उत्पन्न हुए, जिन्होंने निगले हुए कौर को शत्रु के गले में उँगली डालकर निकाल लिया। इतना ही नहीं, उनके उत्तेजन से व्रज-भाषा साहित्य में वीर रस तथा अन्य रसों के ऐसे उत्तमोत्तम ग्रंथ बने, जिनकाजि तना गौरव किया जावे थोड़ा है। शृंगाररस की ही पवित्र प्रेम सम्बन्धिनी इतनी अधिक और अपूर्व कविताएँ उस समय हुई हैं, जिनके सामने थोड़ी सी अमर्यादित कविताएँ नगण्य और तुच्छ हैं, फिर क्या व्रज-भाषा की कुत्सा करना उचित है? रहा शृंगाररस—उसका नाम सुनकर जो कान पर हाथ रखता है, वह आत्म-प्रतारणा करता है, वह जानता ही नहीं कि शृंगार रस किसे कहते हैं। मैं जानता हूँ कि समय क्या है? और

इस समय समाज और देश को किन बातों की आवश्यकता है, परन्तु भ्रान्त बनने से काम नहीं चलेगा, उचित पथ ग्रहण करने से ही सिद्धि प्राप्त होगी। देशानुराग के गीत गाये जावें, सोये देश को जगाया जावे। सूखी धमनियों में उष्ण रक्त का प्रवेश कराया जावे, बन्द आँखें खोली जावें, भूलों को रास्ता बतलाया जावे, देश-द्रोहियों को दबाया जावे, और एकता मंत्र का अपूर्व घोष किया जावे। ऐसी ओजमयी रचनाएँ की जावें, ऐसे मार्मिक पद्य लिखे जावें, ऐसे उत्तेजित करनेवाले कवित्त बनाये जावें, ऐसे भावमय ग्रंथ रचे जावें, और ऐसी ज्वलन्त उत्साहमयी ग्रंथ-मालायें निकाली जावें जिनसे इष्ट-सिद्धि हो, उद्देश की प्राप्ति हो और भारतीय भी संसार में अपना मुख उज्वल कर सकें, इसमें किसको आपत्ति है। वरन् आजकल का यह प्रधान कर्त्तव्य है। किन्तु वातुल बनकर न तो सुधा को गरल कहा जावे, न चिन्तामणि को काँच। शृंगार रस जीवन है, जिस दिन आप उसका त्याग करेंगे, उसी दिन आप का स्वर्ण मन्दिर ध्वंस हो जावेगा, और आप रसातल चले जावेंगे। आवश्यकता है कि आप शृंगाररस के मर्म को समझें, और दूसरे को समझावें। शृंगार रस ही वह रस है, जो निर्जीव को सजीव, नपुंसक को वीर, क्रियाहीन को सक्रिय और अशक्त को सशक्त बनाता है। शृंगार रस ही वह मञ्च है, जिसपर चढ़कर आप उन मर्मस्थलों को देख सकेंगे, जिनकी रक्षा से आप समुन्नति सोपान पर चढ़ उस श्रेय को प्राप्त कर सकेंगे, जो मानव जीवन का प्रधान उद्देश है। मैं यह स्वीकार करूँगा कि शृंगाररस के नाम पर कुछ ऐसे कार्य हुए हैं, जो हमको अविहित मार्ग की ओर अग्रसर करते हैं। परन्तु परमात्मा ने बुद्धि-विवेक किसलिये दिये हैं? वे किस दिन काम आवेंगे? जो देश का अथवा लोक का उद्धार करना चाहता है, और बुद्धि विवेक को ताक़ पर रख देता है, वह चाहता

तो है स्वर्ग सोपान पर चढ़ना। किन्तु उसके पास वे दोनों आँखें कहाँ हैं, जिनके बिना संसार की यात्रा भी नहीं हो सकती।

आजकल हिन्दी काव्य-क्षेत्र में तीन प्रकार के कवि देखे जाते हैं। एक वे हैं, जो बिलकुल प्राचीनता के प्रेमी हैं। आज भी वे उसी रंग में रँगे हुए हैं, जिसमें कविवर देव, सहृदयवर बिहारीलाल, एवं रसिक प्रवर पद्माकर आदि रँगे हुए थे। व्रजभाषा ही उनकी आराध्या देवी है, और वे उसकी अर्चना में ही निरत हैं। उनकी अधिकांश रचनाएँ नायक नायिकाओं पर ही होती हैं, या वे अपने ढंग पर भगवान् कृष्णचन्द्र अथवा मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र का गुण गा-गाकर अपनी संसार-यात्रा समाप्त कर रहे हैं। आजकल देश की क्या दशा है, देश में क्या हो रहा है, देशवासियों पर क्या बीत रही है, और किस प्रकार दिन-दिन हिन्दू जाति का पतन हो रहा है, उनको इन बातों से प्रयोजन नहीं। देखकर भी इन बातों को वे नहीं देखते, और सुनाने पर भी उनको सुनना नहीं चाहते। वे अपने रंग में मस्त हैं, अपने धुन के पक्के हैं, उनको दुनिया के झगड़ों से प्रयोजन नहीं। खड़ी बोली की कविता कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, परन्तु उनकी दृष्टि में उसका कोई आदर नहीं, वे उसे रूखी-सूखी भाषा समझते हैं, फिर अपनी रसमयी व्रजभाषा को छोड़कर उसकी ओर क्यों दृष्टि पात करें। वे अपनी शान्ति को भंग करना नहीं चाहते। परन्तु जब कोई प्राचीन कवियों पर आक्रमण करता है, व्रजभाषा को खरी-खोटी सुनाता है, तब उनके धैर्य का बाँध टूट जाता है, और उस समय जो कुछ मुँह में आता है कह डालते हैं। वे छायावाद की कविताओं को फूटी आँखों से भी देखना नहीं चाहते, चाहे उनमें स्वर्ग सौंदर्य ही क्यों न भरा हो। वे छायावादियों को कवि भी नहीं मानते, क्योंकि वे समझते हैं कि ऊटपटांग बकने के सिवा उनको आता ही क्या है। उनमें अजब

बेपरवाई है, और कुछ ऐसी अकड़ भरी हुई है, कि वे अपनी रूई सूत में ही उलझे रहते हैं, दूसरी बातों की ओर आँख उठाकर भी देखना नहीं चाहते। इस समय देश के प्रति समाज के प्रति, जाति के प्रति और मानव समुदाय के प्रति उनका क्या कर्त्तव्य है, इन बातों को वे विचारना भी नहीं चाहते, या विचार ही नहीं सकते। वे किसी राह के रोड़े भी नहीं, यदि कोई दूसरा उनको अपनी राह का रोड़ा न बना ले। इस दल में अधिकतर वयोवृद्ध हैं जो निश्चिन्त भाव से रहकर अपने स्वच्छन्द जीवन को व्यतीत कर देना चाहते हैं।

दूसरे दल में अधिकतर वे अल्पवयस्क कविजन हैं, जो इस समय हिन्दी-साहित्य क्षेत्र में नवीनता का आह्वान कर रहे हैं। उनके हृदय में उमंगें लहर मार रही हैं, उत्साह उनमें कूट-कूट कर भरा है, नूतनम् नूतनम् पदे पदे उनका महामंत्र है। वे प्राचीन लकीरों को पीटना नहीं चाहते, वे अपना एक प्रशस्त मार्ग अलग निर्माण करने की ही धुन में हैं। उनको प्राचीनता से घृणा है, चाहे वह भारतीय आदर्श रत्न का भंडार ही क्यों न हो। ये प्राचीन प्रतिष्ठित कवियों की पगड़ी उछालते रहते हैं, और प्राचीन व्रजभाषा को रसातल पहुँचाकर ही दम लेना चाहते हैं। उनकी भाषा नई, उनका भाव नया, उनकी सूझ नई, उनका विचार नया, रंग नया, ढंग नया, छंद नया, प्रबंध नया, रीति नई, नीति नई, कोष नया, व्याकरण नया, उनका जो-कुछ है सब नया-ही-नया है—चाहे यह सच न हो। वे हिन्दी भाषा के प्रेमी हैं, किन्तु वह भी प्राचीना है, शायद इसी लिये उसको बेतरह नोच खसोट रहे हैं। पुराने मुहावरे लिखना पसंद नहीं, या लिख ही नहीं सकते, किन्तु नये मुहावरों का ढेर लगा रहे हैं। वाक्यों का कुछ अर्थ हो या न हो, परंतु वे गढ़े जायँगे अवश्य। यदि ब्रह्मा भी आकर कहें यह क्या, तो उनका कान

भी मल दिया जावेगा। यदि किसी संकोच से ऐसा न किया जा सकेगा तो कान मलने को हाथ तो अवश्य उठ जावेगा। बात करते समय उससे भले ही काम लिया जावे, पर कविता लिखने के समय क्या मजाल कि बोलचाल की कोई कल ठीक रहने पावे। वे बातें करेंगे बड़ी लम्बी लम्बी, तोड़ेंगे आसमान के तारे ही, चाहे वे किसी की समझ में भले ही न आवें, और उनका हाथ भले ही वहाँ तक न पहुँच सके। वे प्राचीनों की रचनाएँ सुनकर कान पर हाथ रक्खेंगे होठ काटेंगे, चाहे उनकी कविताएँ इस योग्य भी न हों कि किसीके कानों में प । देश-प्रेम से उनका भी कोई संबंध नहीं, ऐसा करना वे विश्वबन्धुत्व के विरुद्ध समझते हैं। वे कौड़ी बड़ी दूर की लाना चाहेंगे, पर घर की लुटती मुहरों के बचाने से बचेंगे। आँसू की लड़ियों को लेकर मोती पिरोवेंगे, पर भारतमाता के आँसुओं की उन्हें परवा नहीं। वे राग गायेंगे संसार भर के भ्रातृभाव का, किन्तु अपने भाई का गला कटता देखकर आँखें बन्द कर लेंगे। वे शिक्षा देंगे अहिंसा वृत्ति की परन्तु उनके हृदय में प्रतिहिंसा-वृत्ति ही चक्कर लगाती रहती है। जाति का स्वर बिगड़ जावे, देश का गला न चले, समाज की धिग्घी बँध जावे, तो वे क्या करेंगे, वे तो अपनी टूटी वीणा उठावेंगे, और मस्त होकर उसे बजाते रहेंगे, चाहे उसको कोई सुने या न सुने। यदि कहीं से वाह-वाह की आवाज आ गई तो फिर क्या माँगी मुराद मिल जावेगी।

तीसरे दल में कुछ प्राचीन और कुछ युवक कवि हैं। उनकी संख्या थोड़ी है, परन्तु मातृ-भाषा के सच्चे सपूत वे ही हैं। वे व्रजभाषा को सर आँखों पर रखते हैं, और खड़ीबोली को गले लगाते हैं, उनको दोनों से प्यार है। वे हिन्दी-भाषा की दोनों मूर्तियों को सर नवाते हैं, और दोनों को ही अर्चनीय समझते हैं। उनका

चार है, प्रतिभा किसी एक की नहीं, व्रजभाषा में भी उसका
काश देखा जाता है, और खड़ी बोली में भी। उन्हें भाव चाहिये,
हे वह व्रजभाषा में मिले, चाहे खड़ीबोली में। वे व्रजभाषा के
चीन कवियों को जो गुरु मानते हैं, और कहते हैं कि ये ही वे
ापुरुष हैं, जिन्होंने हिन्दी-भाषा को अलंकृत किया, उसे रत्नों से
नाया, उसमें जीवन डाला, उसको सुधामयी बनाया, और उसकी वह
ा की जो अलौकिक कही जा सकती है। तो उन नवयुवक सुकवियों
भी आदर करते हैं। जो खड़ीबोली को सुरभित सुमन प्रदान
: रहे हैं, उसे सरस, मधुर और भावमयी बना रहे हैं, उसमें
शक्ति ला रहे हैं, जिससे वह ज्योतिर्मयी, नव-नव उक्तिमयी,
नुपमयुक्तिमयी, रागमयी, और देशानुरागमयी, बन सके। वे
चते हैं, मातृ भाषा के सेवकों में परस्पर कलह-विवाद अच्छा
ीं, वे तो भाई-भाई हैं, उनके क्षीर-नीर समान मिले रहने में ही
ताई है। प्राचीनों के लिये यदि स्थान है, तो आधुनिक लोगों के
ये भी। यदि गुरु का स्थान है, तो शिष्य का भी। किसी काल
गुरु भी शिष्य था, काल पाकर शिष्य भी गुरु हो सकता है।
ग्य शिष्य संसार में कभी-कभी गुरु से भी अधिक चमके, पर वे
रु की गुरुता को कभी नहीं भूले। परमात्मा ने जिनको प्रतिभा दी
वे प्रकाशमान होकर ही रहे। उनकी यह इच्छा कभी नहीं हुई
गुरु की कीर्ति को लोप कर हम अपना मुख उज्ज्वल करें। जो
चीनों की कुत्सा इसलिये करते हैं कि उनकी कीर्ति को मलिन कर
पनी कीर्ति का विकाश करें, वे भूलते हैं। मयंक यदि सूर्य के
काश की महत्ता स्वीकार न करेगा, तो उसकी सत्ता ही न रह
वेगी, उनका विचार है कि जो सहृदय है, उसकी असहृदयता
च्छी नहीं, जो रस-धारा बहा सकता है, वह नीरस क्यों बने?

इन तीनों दलों में कैसा रुचि वैचित्र्य है, और कैसी विचार

भिन्नता। परन्तु शृंगाररस के प्रभाव से तीनों ही प्रभावित हैं। पहले दलवाले आज भी उसी नशा की झोंक में हैं, जिस नशा ने उनकी परम्परा वालों को आज से तीन चार सौ बरस पहले बदमस्त बनाया था। न आज वह महफ़िल है, न वह साक़ी, न वह पैमाना है, न वे दूसरे सामान। फिर भी उनको नशा आता है, और वे ऐसी बातें बक जाते हैं, जिनको अब ज़बान पर न आनी चाहिये। भगवद्गुणानुवाद गाये जायें, नीति की बातें कही जावें, शृंगाररस का संयत भाव से वर्णन किया जावे, इसमें किसको क्या आपत्ति हो सकती है; परन्तु अब ऐसी रचनाएँ न की जावें, जो शृंगाररस के साथ व्रजभाषा को भी कलंकित करती हैं। मातृ-भूमि की सेवा करना सबका धर्म है, उसके गाढ़े दिनों में काम आना प्रधान कर्त्तव्य है। यदि यह न हो सके और लेखनी इस प्रकार का विचार लिखने में कुंठित हो तो, समाज में गंदगी फैलाने से बचा जावे। जो बात किसी विशेष काल में विशेष कारणों से हो गई, जो चूक विषयासक्त राजा-महाराजाओं के संसर्ग से, थोड़े या बहुत धन के लालच से की गई, उसकी पुनरावृत्ति व्यर्थ न होनी चाहिये। परन्तु वे आज भी सावधान नहीं हैं, वही अपना पुराना राग गाये जा रहे हैं।

दूसरे दलवाले शृंगाररस के नाम से ही चिढ़ते हैं, व्रज-भाषा से उनको विशेष घृणा इसलिये है कि वे उसको उसकी जननी समझते हैं। उनकी इस चिढ़ की उत्पत्ति विशेषकर शृंगाररस की उन असंयत रचनाओं के कारण हुई, जो सर्वसाधारण में प्रायः उन्होंने सुनी या शृंगाररस की प्रायः प्रचलित पुस्तकों में देखी। जिस शृंगाररस पर वे खड्गहस्त हैं, वह शृंगाररस का वीभत्स रूप है। शृंगाररस का वास्तविक रूप वह है, जो स्वयं उनकी सब से अच्छी रचनाओं में पाया जाता है, परन्तु इस बात को वे समझ

नहीं पाते। वे न समझें, परन्तु शृंगार रस से उनकी रचनाएँ ओत-प्रोत हैं। इसको मैं ही नहीं कहता, आजकल के अधिकांश हिन्दी के साहित्य-सेवियों की यही सम्मति है। इनलोगों के जो दस-बीस ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं, उनमें से किसीको उठा लीजिये, उस समय यह ज्ञात हो जावेगा कि मेरा कथन कहाँ तक सत्य है। उसके अधिकांश भाग में अवलोकन करने पर शृंगाररस की धारा ही बहती मिलेगी।

अब रहा तीसरा दल, इस दल में ही, सामयिकता अधिक है। युवकजन ही देश के प्राण हैं, उन्हींका मुख अवलोकन पर मातृ-भूमि की सूखी नसों में गर्म लोहू प्रवाहित होता है। फिर यदि वे ही इस महामंत्र का मर्म न समझें, तो इससे बढ़कर दुःख की बात दूसरी कौन होगी? यह दल ही इस बात को भलीभाँति समझता है, और इसीलिये उसकी सेवा में तनमन धन से रत रहता है। उसकी अधिकांश कविताएँ भी देशानुरागमयी होती हैं, फिर भी वह शृंगाररस की कविताओं का अनादर नहीं करता। वह यथावसर उसकी सेवा भी करता रहता है, और ऐसी रचनाएँ उपस्थित करता है, जिनसे हृदय का कलिकाएँ खिल जाती हैं, क्योंकि वह जानता है कि मनुष्य-जीवन से उसका कितना सरस सम्बन्ध है!

आजकल हिन्दी साहित्य के सामने एक और विषम समस्या उपस्थित है, चाहे गद्य हो चाहे पद्य, उसमें इन दिनों एक विचित्र ऊधम मचा हुआ है। कुछ स्वतंत्र विचार के जीव इस उच्छृंखलता के विधाता हैं। उनका सम्बन्ध इन तीनों दलों में से किसीसे नहीं है, वे निरंकुश हैं, और हैं अपने मन के, परन्तु देश-प्रेम के पर्दे में अपने को छिपाये हुए हैं। किसीके पास जाति सुधार का बल है, और किसीको समाज-सेवा की लगन। कोई प्रचलित रूढ़ियों के मिटाने का दीवाना है, और कोई हिन्दुओं की वंशगत बुराइयों

के दूर करने का कामुक। एक स्कूल कालेजों के अध्यापकों और छात्रों के दुश्चरित्रों की आलोचना करता है, तो दूसरा स्त्री-जाति की दुर्दशाओं का हृदय-विदारक चित्र अंकित करने में लग्न है। कोई जाति बंधन तोड़ना चाहता है, कोई अछूतों के उठाने का प्रयत्न करता है; परन्तु इनमें कितने प्रतिहिंसापरायण हैं, और कितने अर्थलोलुप। कितने वृत्ति के दास हैं, कितने कुचरित्र। कितने दुर्जन और दुष्ट-प्रकृति हैं, कितने अपवित्र हृदय और लम्पट। कितने नाम चाहते हैं, कितने दाम। कितने अपने पत्र का प्रचार चाहते हैं, कितने अपनी पुस्तकों का प्रसार। वेष उनका मराल का है, परन्तु चाल बगलों की। वे मुख से और लेखनी से सदुद्देश का प्रचार करते हैं, परन्तु हृदय से हैं वायसवृत्ति, मलिन पदार्थ को ही प्यार करते हैं। उनके हाथ में झंडा है उपकार का, किन्तु उनका व्रत है अपकार। ऐसे लोगों के हाथों में पड़ कुछ पत्रों और पत्रिकाओं में आजकल ऐसे लेख निकल रहे हैं, जिनसे स्त्री पुरुष के द्वंद्व की मात्रा प्रतिदिन वर्द्धनोन्मुख है; किन्तु इन दिनों ऐसे लेख लिखना समाज-सेवा समझा जाता है। यदि कुछ स्त्रियाँ पुरुषों के अत्याचार के लेख लिख-लिखकर कालम-के-कालम काले करती हैं, तो स्त्रैण पुरुष उनका कान भी काटते हैं—वे पुरुष जाति को भरपेट गालियाँ दे डालते हैं। इस तरह के लेख आद्योपान्त अश्लीलतामय होते हैं, परन्तु यह है इस काल का प्रधान कर्त्तव्य, और पुरुष जाति को निष्पक्षपातिता का प्रमाण पत्र लाभ करने का प्रधान अवसर। चाहे समाज ध्वंस क्यों न हो जावे, और पाश्चात्य देश के समस्त दुर्गुण पवित्र भारतवर्ष में क्यों न फैल जावें। इतना ही नहीं, आजकल कुछ ऐसे गंदे उपन्यास निकल रहे हैं, और उनमें ऐसे कुत्सित और घृणित चरित्र अंकित होते हैं कि अश्लीलता उनको स्पर्श नहीं कर सकती, और बेहयाई उनकी ओर आँख

उठाकर देख नहीं पाती। परन्तु उनमें है हिन्दू जाति के बुराइयों का कच्चा चिट्ठा, जिनके प्रदर्शन विना सुधार हो ही नहीं सकता, फिर उनको क्यों न फड़कते शब्दों में लिखा जावे, कोई पागल 'घासलेटी' 'घासलेटी' भले ही चिल्लाये, उसकी सुनता कौन है। ऐसी और बातें बतलाई जा सकती हैं, जिनसे दिन-दिन हिन्दी-साहित्य की समस्या जटिल हो रही है, किन्तु क्या उसका उचित प्रतीकार हो रहा है। व्रजभाषा में शृंगार रस का दुरुपयोग हुआ, और यह निस्सन्देह सामयिक दुर्गुण था, जो विलास-प्रिय बादशाहों, राजाओं, महाराजाओं के कारण उसमें आया। इस एक दुर्गुण के कारण, अनेक गुण गौरवशालिनी व्रजभाषा की निन्दा हो रही है, और वर्त्तमान काल का पठित समाज यह कार्य कर रहा है। परन्तु आज यह क्या हो रहा है? उस समय में जिस समय विश्वमोहिनी पाश्चात्य सभ्यता की विमुग्ध कर ज्योति से भारत वसुन्धरा प्रकाशित है, यह महा अश्लील साहित्य का घना अन्धकार उसमें क्यों फैल रहा है?

मैं समझता हूँ सामयिक दुर्गुणों का ज्ञान प्रायः समय पर नहीं होता। काल पाकर जब दुर्गुणों के दोष प्रकट होने लगते हैं, उस समय उसका यथार्थ ज्ञान होता है। मुसलमान राज्य के कारण जो दुर्गुण व्रजभाषा में आये, उस समय कई कारणों से वे ही उपयोगी जान पड़े, इसीलिये वे अधिकांश लोगों में गृहीत हुए। क्या उस समय दुर्गुणों के विरोधी यहाँ थे? अवश्य थे, परन्तु स्वार्थ मनुष्य को अंधा बहरा बना देता है। स्वार्थी मनुष्य स्वार्थ के सामने रहने पर न तो दुर्गुणों को देखता है, और न किसी हित की बातें सुनता है। यह स्वार्थ कई प्रकार का होता है, यह धन सम्पत्ति की प्राप्ति तक ही परिमित नहीं होता, इसमें यश, मान की कामना, मर्यादा की रक्षा, कार्योद्धार, गौरव लाभ, एवं विपत्ति

निवारण आदि सभी बातें, सम्मिलित रहती हैं। दूसरी बात यह कि जब समाज के अग्रणी अथवा प्रधान किन्हीं कारणों से इनकी ओर आकर्षित हो जाते हैं, तो साधारण मनुष्य इनका निराकरण समष्टि रूप में नहीं कर सकते, व्यष्टि रूप में भले ही कर लें। आजकल की भी यही अवस्था है। अँगरेज जाति हमारी शासक है, पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा से ही इन दिनों अधिक लोग शिक्षित दीक्षित हैं, नाना रूप और नाना मार्गों से पाश्चात्य भाव यहाँ के लोगों के हृदय में स्थान पा रहे हैं, इस लिये वहाँ की सभ्यता ही लोगों को पसंद आ रही है, और वहाँ की रहनसहन प्रणाली ही प्यारी लग रही है। आज का नव शिक्षित समाज, स्त्री स्वतंत्रता, युवती-विवाह, सहभोज, विधवा-विवाह आदि का पक्ष-पाती, और बाल-विवाह, जाति-पाँति, एवं धर्म-बंधन आदि का विरोधी है, यह यथातथ्य शासक जाति और पाश्चात्य भावों का अनुकरण है। ये बातें जिस रूप में गृहीत हो रही हैं भारत की हित कारिणी हैं, या नहीं, इनका क्या परिणाम होगा, इसको बतलाने पर भी आज कोई नहीं सुनता। समय का प्रवाह आज इन बातों के अनुकूल है, अतएव इन्हीं विचारों में उन्नतिशील या सुधारकजन बह रहे हैं और दूसरों को भी अपना साथी बना रहे हैं। जो लोग इनका विरोध कर रहे हैं, उनकी गत बनाई जा रही है, और उनके प्रतिकूल घृणित से घृणित बातें कही जा रही हैं। समाचार-पत्रों में उनके विरुद्ध जो कार्टून निकाले जा रहे हैं, होली इत्यादि के अवसरों पर जैसी गालियाँ उनको पत्रों में दी जाती हैं, जैसा उनको कोसा जाता है, जैसी बेहूदा बातें उन्हें कही जा रही हैं, उनमें अश्लीलता की भरमार होती है, और निर्लज्जता की ही पराकाष्ठा। इसी प्रकार शिक्षा दोष अथवा नवीन सभ्यता के संसर्ग से जो दुर्व्यसन और चरित्र गत कुसंस्कार छात्रों, मास्टरों, एवं नव शिक्षितों में प्रतिदिन वर्द्धनोन्मुख

हैं, समाज के प्रबंधकों के आचार व्यवहार से जो निन्दनीय बातें देश में फैल रही हैं, असंयत, उच्छृंखल, और ढोंगियों के प्रपंचों से जो बुराइयाँ जाति में स्थान पा रही हैं, रंगे सियारों और नाम के नेताओं के कारण जो अपकार हिन्दुओं का हो रहा है, उनका वर्णन आजकल जिन शब्दों में होता है, जिस प्रकार उनका खुला चिट्ठा जनता के सामने रक्खा जाता है, जैसे उनके कुत्सित कार्यों का पर्दाफाश किया जाता है, उसकी अधिकांश प्रणाली भी बड़ी ही घृणित और हेय है। परन्तु सुधार का उन्माद और जाति गत एवं व्यक्तिगत द्वेष इन बातों के विचारने का अवसर ही नहीं देते। लेखनी हाथ में आने पर पेट का कुल मल बाहर निकाल देने में ही चैन आता है, चाहे पत्र के कालम कितने ही कलंकित क्यों न हो जावें। जी की कुढ़न अश्लील से अश्लील वाक्यों में ही निन्दनीयों को स्मरण करती है, चाहे वे नरक-कुण्ड भले ही बन जावें।

जो सच्चे और ईमानदार होते हैं, उनका भाषण परिमित होता है, और उनकी लेखमाला मर्यादित। पर ऐसे लोग कितने हैं? अधिकतर ऐसे ही लोग दुनिया में देखे जाते हैं, जो हवा का रुख देखकर चलते हैं, और पेट पालने के लिये, चार पैसा कमाने के लिये, अपना मतलब गाँठने के लिये, दिल की कसर निकालने के लिवे, या झूठमूठ की वाहवाही लूटने के लिये, कुछ-से-कुछ बन जाते हैं। वे लोग अपना कच्चापन अथवा नक़ली भाव छिपाने के लिये अपनी बातों को इतना रंजित करते हैं, उनमें इतना नमक-मिर्च लगाते हैं, कि असलीयत गधे के सींग की तरह गायब हो जाती है। ये बातें यदि हजो की, निन्दा की, अथवा भड़प्पन की होती हैं, तो वे उनकी इन काररवाइयों से इतनी निन्दनीय बन जाती हैं, कि मूर्तिमान् बीभत्स का अकाण्ड ताण्डव उनमें दृष्टिगत होने लगता है। परन्तु किसमें शक्ति है कि आज की इस अनावश्यक बहक को

-थता बता सके। आज जो इसके सामने पड़ेगा, उसीका कचूमर निकल जावेगा। जो इससे टकरायेगा वही चूर-चूर हो जायेगा। स्त्री-स्वतंत्रता के पक्ष और विपक्ष में इन दिनों कुछ पत्र-पत्रिकाओं में ऐसे गंदे लेख निकल रहे हैं, कि अगला समय होता, तो कोई उनको अपनी बहू-बेटियों को छूने भी न देता। परन्तु आजकल वे पत्र-पत्रिकाएँ मूल्य देकर मँगाई जा रही हैं, और आदर के साथ कुलांगनाओं को अर्पण की जा रही हैं। कारण इसका सामयिक प्रवाह और वर्त्तमान काल का उत्तेजित मनोभाव है। इस समय उनका विरोध करना, असफलता को निमंत्रण देना है। यह समय न रहने पर और प्रचलित आन्दोलनों का दोष प्रकट होने पर ही उनके दुर्गुणों का यथार्थ ज्ञान हो सकता है। चाहे जो हो, इस समय इन बातों के कारण हिन्दी साहित्य कितना कलुषित हो रहा है, यही प्रकट करना, इन विषयों की चर्चा का उद्देश है।

आशा है, मेरे भावों के समझने में भूल न की जावेगी। मैंने जो कुछ लिखा है, उसका मतलब उचित आन्दोलन की निन्दा नहीं है। सुधार-सम्बन्धी अथवा देशोद्धार मूलक जितने आन्दोलन ईमानदारी से सच्चे लोगों के द्वारा हो रहे हैं, न तो वे निन्दनीय हैं, न आक्षेप योग्य। बाल-विवाह का विरोध अथवा विधवा-विवाहादि का जो प्रचार मर्यादित रीति से किया जा रहा है, वह सर्वथा अनुमोदनीय है। मैं स्वयं उनसे सहानुभूति रखता हूँ। मैंने निन्दा की है भण्डाचार की, और उस प्रणाली की जो घृणित भावों से भरी है। मैंने बुरा कहा है, उनलोगों को जो बनते हैं सुधाकर परन्तु हैं राहु, जो वेष रखते हैं साधु का, परन्तु हैं कालनेमि। जो आर्य-संस्कृति के शत्रु हैं, किन्तु सुधार के बहाने उसके मित्र बनते हैं। मेरा लक्ष्य उस नीति की कदर्थना है, जिसके आधार से पाश्चात्य दुर्गुण, सद्गुण के रूप में गृहीत हो रहे हैं, और विजातीय

भाव समादृत होकर जातीयता को ठोकरें जमा रहे हैं। जो मेरे भाव को न समझकर व्यर्थ आस्फाल न करेंगे, अथवा टट्टी की ओट में शिकार खेलना चाहेंगे, वे अपने चित्त के कश्मल को प्रकट करेंगे, मेरे मानस के उद्गारों को नहीं।

क्या लिखते क्या लिख गया, विषयान्तर हो गया। परन्तु अपने वक्तव्य को स्पष्ट करने के लिये ही मुझको इस पथ का पथिक होना पड़ा। कहना यह है कि प्रायः सामयिकता के नाम पर बहुत-सी बुराइयाँ, भलाइयाँ बनकर समाज में गृहीत हो जाती हैं। वर्त्तमान काल का हिन्दू समाज और उसका आधुनिक कुत्सित साहित्य इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। वास्तविक बात यह है कि जितना कलुषित आजकल हिन्दी साहित्य का कुछ अंश हुआ अथवा हो रहा है, व्रज-भाषा उतनी कलुषित कभी नहीं हुई। घृणित बाल प्रेम के आधार से शृंगाररस की इन दिनों जैसी मिट्टीपलीद हो रही है, उसके जैसे नारकीय चित्र उपन्यासों में अंकित किये जा रहे हैं, मासिक पत्रों और पुस्तकों में हिन्दू जाति के घर की भीतरी बातों का जैसा कच्चा चिट्ठा लिखा जा रहा है, वे रोमांचकर हैं, उनको इस रूप में देश और समाज के सामने लाना अनुचित है। विना दोष प्रदर्शन किये दोष का क्षालन नहीं हो सकता, यह सत्य है, परन्तु जुगुप्सा का नग्न नृत्य कदापि वांछनीय नहीं। उसके द्वारा वर्त्तमान हिन्दी साहित्य जितना लांछित हुआ, व्रज-भाषा वैसी कलंकित कभी नहीं हुई। व्रज-भाषा में जो शृंगाररस का दुरुपयोग हुआ, और उसमें अश्लील रचनाएँ हुईं, इसका कारण समय है। उस समय उसको अपनी इस प्रकार की रचनाओं से सुरक्षित रखना असंभव था, उसी प्रकार जैसे कि आजकल खड़ी बोली के गद्य पद्य अपने को उन सामयिक दोषों से नहीं बचा रहे हैं, जो उसमें सुधार के बहाने प्रवेश कर रहे हैं। व्रज-भाषा में जो दोष हैं—हैं, उनपर

उँगली उठाना व्यर्थ है, उनसे यह शिक्षा क्यों नहीं ली जाती, कि खड़ीबोली भी चहले में न फँसे। व्रज-भाषा पर कीचड़ किस मुख से उछाला जा रहा है, जब खड़ीबोली उससे भी गई बीती बन रही है। दोनों अपनी ही सम्पत्ति हैं, उनकी उज्वलता हमारा मुख उज्वल करेगी, उनकी कालिमा हमें कलंकित बनावेगी। आपस का वितण्डावाद अच्छा नहीं, पारस्परिक कलह बुरा है। व्रज भाषा के सेवकों की संख्या आज भी कम नहीं है, उनका धर्म है कि वे प्राचीन बुरी प्रणाली को त्याग कर उसको उत्तमोत्तम नवीन आभरणों से सजावें। हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र आजकल खड़ी बोली के उन्नायकों के हाथ में है, उन्हें चाहिये कि वे जिस प्रकार उसको सुसज्जित कर रहे हैं, उसी प्रकार उसको कूड़े-करकट से भी बचावें। उचित दृष्टि होने पर एक दूसरे के मार्ग का कण्टक न बनेगा, और अपना उचित स्थान लाभकर समुचित कीर्त्ति प्राप्त करने में समर्थ होगी। वर्त्तमान समय श्रृंगाररस के अपने वास्तविक रूप में विकसित होने का है, इस तत्व को हिन्दी संसार जितना समझेगा, उतना ही श्रृंगारित और सुसज्जित होगा और वह स्थान लाभ कर सकेगा, जिसको संसार की समुन्नत भाषाएँ प्राप्त कर सकी हैं। कला के साथ उपयोगिता सम्मिलित होकर कितना उपकारक बन जाती है, मैं समझता हूँ इस विषय में विशेष कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं।

वात्सल्यरस

बालक परमात्मा का अधिक समीपी कहा जाता है, उसमें सांसारिक प्रपंच नहीं पाया जाता। जितना वह सरल होता है, उतना ही कोमल। छल उसे छूता नहीं, कपट का उसमें लेश नहीं। उसके मुखड़े पर हँसी खेलती रहती है, और उसकी चमकीली आँखों से आनंद की धारा बहती जान पड़ती है। उसके मुसकुराने

में जो माधुर्य्य है, वह अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होता। वह जितना ही भोला भाला होता है, उतना ही प्यारा। उसकी तुतली बातें हृत्तंत्री में संगीत उत्पन्न करती हैं, और उसके कलित कंठ का कल-नाद कानों में सुधा बरसाता है। वह दांपत्य सुख का सर्वस्व है, भाग्यवान् गृहस्थ का उज्ज्वल प्रदोप है, और है स्वर्गीय लीलाओं का ललित निकेतन। परमात्मा का नाम आनंदस्वरूप है, बालक इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। एक उत्फुल्ल बालक को देखिये, इस मधुर नाम की सार्थकता उसके प्रत्येक उल्लास से हो जावेगी। बालकों की इस आनंदमयी मूर्ति का चित्रण अनेक भावुक कवियों ने बड़ी ही मार्मिकता से किया है। इस रससमुद्र में जो जितना ही डूबा, वह उतना ही भाव-रत्न संचय करने में समर्थ हुआ। एक अँगरेज सुकवि की लेखनी का लालित्य देखिये। वह लिखता है—

'I have no name:
I am but two days old';
What shall 'I call thee ?'
'I happy am,
Joy is my name.'
'Sweet joy befall thee !
Pretty Joy !
Sweet Joy, but two days old.
Sweet Joy I call thee:
Thou dost smile
I sing the while,
Sweet joy befall thee !'

W. Blake.

मेरा नामकरण अभी नहीं हुआ है, मैं दो दिन का बच्चा हूँ।

तो हम तुमको क्या कहकर पुकारें ? मैं मूर्तिमान उल्लास हूँ, मेरा नाम आनंद है। तो तुमको मधुरतर आनंद प्राप्त हो !

मेरे प्रियतर आनंद ! मेरे मधुरतर आनंद ! मेरे दो दिन के प्यारे बच्चे ! तुमको मधुर से मधुर आनंद प्राप्त हो !

तुम मधुर हँसी हँसो, मुसकुराओ, मैं भी स्वर्गीय गान आरंभ करता हूँ—भोले-भाले बच्चे, तुमको अधिकाधिक आनंद प्राप्त हो !

बालभावों का चित्रण करने में, उनके आनंद और उल्लासों के वर्णन में कविकुलशिरोमणि सूरदासजी की सुधावर्षिणी लेखनी ने बड़ी मार्मिकता दिखलाई है—आहा ! देखिये—

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुन चलत रेनु तनु मंडित मुख दधि-लेप किए॥
चारु कपोल लोल लोचन गोरोचन तिलक दिए।
लट लटकनि, मनो मत्त मधुपगन मादक मदहि पिए॥
कठुला कंठ, बज्र, केहरि नख, राजत रुचिर हिए।
धन्य 'सूर' एको पल या सुख का सत कल्प जिए॥१॥

हौं बलि जाऊँ छबीले लाल की।
धूसर धूरि घुटुरुवनि रेंगनि, बोलन बचन रसाल की॥
छिटिक रहीं चहुँ दिसि जु लटुरियाँ लटकन लटकति भाल की।
मोतिन सहित नासिका नथुनी कंठ कमल-दल-माल की॥
कछुकै हाथ कछू मुख माखन चितवनि नैन बिसाल की।
'सूर' सु प्रभु के प्रेम मगन भईं ढिग न तजनि ब्रज बालकी॥२॥

हरिजू की बाल छबि कहौं बरनि।
सकल सुख की सींव कोटि मनोज-सोभा-हरनि॥
मंजु मेचक मृदुल तनु अनुहरत भूखन भरनि।
मनहु सुभग सिंगार सुरतरु फर्यो अदभुत फरनि॥
लसत कर प्रतिबिंब मनि आँगन घुटुरुवनि चरनि।

जलज संपुट सुभग छबि भरि लेत उर जनु धरनि ॥
पुन्य फल अनुभवति सुतहिं बिलोकिकै नँदघरनि ।
'सूर' प्रभु की बसी उर किलकनि ललित लरखरनि ॥३॥
—सूरसागर

हिंदी-साहित्य-गगन-मयंक गोस्वामी तुलसीदासजी का कवित्व संबंधी सर्वोच्च सिंहासन बाललीला-वर्णन में भी सर्वोच्च ही रहा है। क्या भावसौंदर्य, क्या शब्दविन्यास, सभी बातों में उनकी कीर्तिपताका भगवती वीणापाणि के उच्चतर करकमलों में ही विद्यमान है। देखिये, रससमुद्र किस सरसता से तरंगायित है—

नेक बिलोकि धौं रघुबरनि ।
चारि फल त्रिपुरारि तोको दिये कर नृपघरनि ॥
बाल भूखन बसन तन सुंदर रुचिर रज भरनि ।
परसपर खेलनि अजिर उठि चलनि, गिरि गिरि परनि ॥
झुकनि झाँकनि छाँह सों किलकनि, नटनि, हठि लरनि ।
तोतरी बोलनि, बिलोकनि, मोहनी मनहरनि ॥
चरित निरखत बिबुध 'तुलसी' ओट दै जलधरनि ।
चहत सुर सुरपति भयो सुरपति भए चहैं तरनि ॥ ४ ॥

छँगन मँगन अँगना खेलत चारु चार्यो भाई ।
सानुज भरत लाल लखन राम लोने लरिका लखि मुदित मातु समुदाई ॥
बाल बसन भूखन धरे नखसिख छबि छाई ।
नील पीत मनसिज सरसिज मंजुल मालनि मानो है देहनि तें दुति पाई ॥
ठुमुक ठुमुक पग धरनि नटनि लरखरनि सुहाई ।
भजनि मिलनि रूठनि तूठनि किलकनि अवलोकनि बोलनि बरनि न जाई ॥
सुमिरत श्रीरघुबरन की लीला लरकाई ।
'तुलसिदास' अनुराग अवध आनँद अनुभवत तब को सो अजहुँ अघाई ॥५॥

छोटी छोटी गोड़ियाँ अँगुरियाँ छबीली छोटी
नखजोति मोती मानो कमल-दलनि पर।
ललित आँगन खेलैं, ठुमुक ठुमुक चलैं,
झुँझनु, झुँझनु पाय पैंजनी मृदु मुखर॥
किंकिनी कलित कटि हाटकजटित मनि
मंजु कर कंजन पहुँचियाँ रुचिरतर।
पियरी झीनो झँगुली साँवरे सरीर खुली
बालक दामिनि ओढ़ी मानो बारे बारिधर॥
उर बघनहा, कंठ कठुला, झूँडूले केस,
मेढ़ी लटकन मसि बिंदु मुनि मनहर।
अंजन रंजित नैन, चित चोरै चितवनि मुख-
सोभा पर वारौं अमित कुसुमसर॥
चुटकी बजावति नचावति कौसल्या माता
बालकेलि गावति मलहावति सुप्रेम भर।
किलकि किलकि हँसैं, द्वै द्वै दतुरियाँ लसैं
'तुलसी' के मन बसैं तोतरे बचन बर॥ ६॥

कैसा सरस और अद्भुत बालकेलिवर्णन है। ऐसे और कई एक पद गीतावली में हैं, किन्तु सबके उद्धृत करने का स्थान कहाँ! इच्छा होने पर भी उनको छोड़ता हूँ। कुछ रचनाएँ खड़ी बोली की भी देखिये। सामयिक रुचि की रक्षा के लिये ही ऐसा किया जाता है, नहीं तो अमृतरस-पान कराकर इक्षुरस पिलाने का उद्योग कौन करेगा?

लड़कपन

भोला भाला बहुत निराला लाखों आँखों का उँजियाला।
खिले फूल सा खिला फबीला बड़े छबीले मुखड़ेवाला॥ १॥

हँसी खेल का पुतला प्यारा बड़ा रँगीला नोखा न्यारा।
जगमग जगमग करनेवाला उगा हुआ चमकीला तारा ॥ २ ॥
स्वर्ग लोक में रहनेवाला रस सोतों में बहनेवाला।
जी को बहुत लुभानेवाला बात अनूठी कहनेवाला ॥ ३ ॥
रस के किसी पेड़ से टूटा फल उमंग हाथों का लूटा।
समय बड़ी सुथरी चादर पर कढ़ा सुनहला सुंदर बूटा ॥ ४ ॥
महँक भरे फूलों का दोना हँसती हुई आँख का टोना।
लेनेवाला मोल मनों का खरा चमकनेवाला सोना ॥ ५ ॥
साथ रंग-रलियों के खेला मीठा बजनेवाला बेला।
मनमानापन का मतवाला बड़ा लड़कपन है अलबेला ॥ ६ ॥

चंदखिलौना

चंदा मामा दौड़े आओ दूध कटोरा भरकर लाओ।
उसे प्यार से हमें पिलाओ मुझपर छिड़क चाँदनी जाओ ॥१॥
मैं तेरा मृगछौना लूँगा उसके साथ हँसूँ खेलूँगा।
उसकी उछल कूद देखूँगा उसको चाटूँगा चूमूँगा ॥२॥
तू है अगर चाँदनीवाला तो मैं भी हूँ लाल निराला।
जो तू अमृत है बरसाता तो मैं भी रस-सोत बहाता ॥३ ॥
जो तेरी किरणें हैं न्यारी तो मेरी बातें हैं प्यारी।
तू है मेरा चंद खिलौना मैं हूँ तेरा छुन्ना मुन्ना ॥४॥

बाल-विभव

बालकों में कैसी आकर्षणी शक्ति होती है, उनके भाव कितने भोले होते हैं, उनमें कितनी विनोदप्रियता, रंजनकारिता और सरसता होती है, ऊपर की रचनाओं को पढ़कर यह बात भली-भाँति हृदयंगम हो गई होगी। ऐसे बालक किसके वल्लभ न होंगे, कौन उन्हें देखकर उत्फुल्ल न होगा, कौन उन्हें प्यार न करेगा, और वे

किसके उल्लास सरोवर के सरसीरुह न बनेंगे? माँ-बाप के तो बालक सर्वस्व होते हैं, ऐसी अवस्था में उनको देखकर उनके हृदय में अनुराग संबंधी अनेक सुन्दर भावों का उदय होना स्वाभाविक है। माँ-बाप अथवा गुरुजनों का यह भाव परिपुष्ट होकर विशेष आस्वाद्य हो जाता है, वही, कुछ सहृदय जनों की सम्मति है कि, वात्सल्यरस कहलाता है। अधिकतर आचार्यों ने नौ रस ही माने हैं, वे वात्सल्य भाव को अलग रस नहीं मानते। इस भाव ही को नहीं, बड़ों का छोटों के प्रति जो अनुराग होता है, उन सबको वे वात्सल्य कहते हैं और 'रति' स्थायी भाव में उनका अंतर्भाव करते हैं। उनलोगों का विचार है कि रस का जितना परिपाक शृंगार में होता है, वात्सल्य में नहीं, अतएव इसको वे 'भाव' ही मानते हैं, रस नहीं। कुछ सम्मतियाँ देखिये—

काव्यप्रकाशकार ने रसों का नाम उल्लेख करने के पहले लिखा है—"तद्विशेषानाह"। इसकी व्याख्या करते हुए, 'बाल-बोधिनी' टीकाकार लिखते हैं—

"केचिदाहुरेक एव शृंगारो रस इति। केचिच्च प्रेयांसदांतोद्धतैः सह वक्ष्यमाणाः नवेति द्वादशरसाः। तत्र स्नेहप्रकृतिकः प्रेयांसः अयमेव वात्सल्य इति बोध्यम्। धैर्यं स्थायीभावको दांतः, गर्वस्थायीभावक उद्धतः। तन्मतनिरासाय सामान्यज्ञानोत्तरं विशेषजिज्ञासोदयाच्च वृत्तिकृदाह—तद्विशेषानाहेति—तद् विशेषान् नवरसस्य विशेषान् भेदान्। रससामान्यलक्षणं तु रसत्वमेव, नच तत्र मानाभावः, रसपदशक्यतावच्छेदक-तया तत्सिद्धेः"

किसीकी सम्मति है कि एक शृंगार रस ही रस है। किसी ने प्रेयांस, दांत, उद्धत के साथ वर्णित नवरस को द्वादश रस माना है। जिस रस का स्थायी स्नेह हो उसको प्रेयांस कहते हैं, इसीका

नाम वात्सल्य है। जिसका स्थायी धैर्य है, उसको दांत, जिसका स्थायी गर्व है, उसको उद्धत कहा गया है। इन मतों के निरसन के लिये और सामान्य ज्ञान के उपरांत विशेष जिज्ञासा उदय होने पर वृत्तिकार कहते हैं "तद्विशेषानाह"—उस रस के विशेष भेदों को बतलाता हूँ। रस का सामान्य लक्षण रसत्व है, इसके लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, रस पद की शक्यता से ही वह सिद्ध है।

एक दूसरे स्थान पर वे लिखते हैं—

"प्रेयांसादित्रयस्तु भावांतर्गताः इति भावः। एतेनाभिलाषस्थायिको लौल्यरसः, श्रद्धास्थायिको भक्तिरसः, स्पृहास्थायिकः कार्पण्याख्यो रसेतिरिक्त इत्यपास्तम् त्रयाणामपि भावांतर्गतत्वात्''।

"प्रेयांसादि तीनों को 'भाव' के अन्तर्गत माना है। जिसका स्थायी अभिलाष है उसको लौल्यरस, जिसका स्थायी श्रद्धा है उसको भक्तिरस, जिसका स्थायी स्पृहा है उसको कार्पण्य रस कहा है, किंतु ये तीनों भी भाव ही के अंतर्गत हैं"।

सोमेश्वर की सम्मति निम्नलिखित बतलाई गई है—

"स्नेहोभक्तिर्वात्सल्यमिति रतेरेव विशेषाः। तेन तुल्ययोरन्योन्यं रतिः स्नेहः, अनुत्तमस्योत्तमे रतिर्भक्तिः, उत्तमस्यानुत्तमे रतिर्वात्सल्यम्-इत्येवमादौ भावस्यैवास्वाद्यत्वमिति''।

स्नेह, भक्ति, वात्सल्य, रति के ही विशेष रूप हैं। तुल्यों की अन्योन्य रति का नाम स्नेह, उत्तम में अनुत्तम की रति का नाम भक्ति, और अनुत्तम में उत्तम की रति का नाम वात्सल्य है। आस्वाद्य की दृष्टि से ये सब 'भाव' ही कहे जाते हैं।

एक अन्य विद्वान् की अनुमति यह है—

स्नेहोभक्तिर्वात्सल्यमैत्री आबंध इति रतेरेव विशेषाः। तुल्ययोर्मिथो-रतिः स्नेहः प्रेमेति यावत्। तथा तयोरेव निष्कामतया मिथोरतिर्मैत्री,

अवरस्य वरे रतिर्भक्तिः। सैवाविपरीता वात्सल्यम्। सचेतनानामचेतने रतिरावंध इति।"

स्नेह, भक्ति, वात्सल्य, मैत्री, आवंध, रति के ही विशेष रूप हैं। तुल्य लोगों की परस्पर रति, स्नेह अथवा प्रेम, उनकी परस्पर निष्काम रति 'मैत्री', श्रेष्ठ में साधारण की रति 'भक्ति', छोटों में बड़ों की रति 'वात्सल्य' और अचेतन में सचेतन की रति 'आवंध' कहलाती है।

ऊपर के अवतरणों के देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि वात्सल्य को रति का ही रूप माना गया है, और यह बतलाया गया है कि वह 'रस' नहीं 'भाव' है। साहित्यदर्पणकार 'भाव' का लक्षण यह बतलाते हैं—

"संचारिणः प्रधानानि देवादिविषयो रतिः।
उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते॥"

"प्रधानता से प्रतीयमान निर्वेदादि संचारी तथा देवता-गुरु आदि के विषय में अनुराग एवं सामग्री के अभाव से रस रूप को अप्राप्त उद्बुद्धमात्र रति, हास, आदिक स्थायी, ये सब 'भाव' कहाते हैं"।

दूसरे स्थान पर वे लिखते हैं—

"देव, मुनि, गुरु, नृपादि विषया च रतिरुद्बुद्धमात्राविभावादि-रपरिपुष्टतया रसरूपतामनापद्यमानाश्च स्थायिनो भावाभावशब्दवाच्याः।"

"देवता, मुनि, गुरु और नृपादि-विषयक रति (अनुराग) भी प्रधानतया प्रतीत होने पर 'भाव' कहलाती है, और उद्बुद्धमात्र अर्थात् विभावादि सामग्री के अभाव से परिपुष्ट न होने के कारण रस रूप को अप्राप्त हास, क्रोधादि भी 'भाव' ही कहलाते हैं"।

काव्यप्रकाशकार की भी यही सम्मति है। वे लिखते हैं—

"रतिर्देवादिविषयाः व्यभिचारी तथाजितः—भावः प्रोक्तः।"

बालबोधिनी टीकाकार की व्याख्या यह है—

"रतिरिति सकलस्थायीभावोपलक्षणम् । देवादिविषयेत्यपि अप्राप्त-रसावस्थोपलक्षणम् । तथा शब्दश्चार्थे । तेन देवादिविषया सर्वप्रकारा, कांतादिविषयापि अपुष्टरतिः, हासादयश्च अप्राप्तरसावस्थाः, विभावादिभिः प्राधान्येनाजितो व्यंजितो व्यभिचारी भावः भावः प्रोक्तः भावपदाभिधेयः ।"

भावार्थ इसका यह है कि देवता, मुनि, गुरु, नृप अथच पुत्रादि-विषयक अनुराग (रति) कांतादि विषयिणी अपुष्ट रति, विभावादि के प्राधान्य से व्यंजित व्यभिचारी, और रस अवस्था को अप्राप्त हासादिक स्थायी की 'भाव' संज्ञा होती है ।

'भाव' का लक्षण आपलोगों ने देखा, अब 'रस' का लक्षण देखिये । नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि लिखते हैं—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' ।

विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है ।

काव्यप्रकाशकार की यह सम्मति है—

"कारणान्यथकार्याणि सहकारिणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥
विभावा अनुभावाश्च कथ्यंते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्य : स्थायीभावो रसस्मृतः ॥"

नाट्य और काव्य में रति आदिक स्थायी भावों के जो कारण, कार्य और सहकारी होते हैं, उनको विभाव, अनुभाव और व्यभि-चारी क्रम से कहते हैं । इन विभावादि की सहायता से व्यक्त स्थायी, भाव की रस संज्ञा होती है ।

विभावादिकों की व्याख्या 'बालबोधिनी' टीकाकार ने यह की है—

'वासनारूपतयातिसूक्ष्मरूपेणावस्थितान् रत्यादीन् स्थायिनः विभावयंति आस्वादनयोग्यतां नयंतीति विभावः ।'

वासना रूप से अति सूक्ष्म आकार में स्थित रति आदिक स्थायी भावों को जो आस्वादन योग्य बनाते हैं, उनको विभाव कहते हैं—यथा नायक, नायिका, पुष्पवाटिकादि ।

'रत्यादीन् स्थायिनः अनुभावयंति अनुभवविषयीकुर्वंतीति अनुभावाः

रति आदिक स्थायी भावों को जो अनुभव का विषय बनाते हैं, उनको अनुभाव कहते हैं—यथा कटाक्षादि ।

"विशेषेणाभितः (सर्वांगव्यापितया) रत्यादीन् स्थायिनः काये चारयंति संचारयंति मुहुर्मुहुराविर्भावयंतीति वा व्यभिचारिणः ।" "स्थायिन्युन्मग्ननिमग्नाः कल्लोलइव वारिधौ ।"

सर्वांग में व्यापित होकर जो रति आदिक स्थायी भावों के शरीर में संचरण करते हैं, समुद्र में कल्लोल समान उठाते और विलीन होते हैं, उनको संचारी भाव कहते हैं—हर्ष, उद्वेग, चपलता आदि इसके उदाहरण हैं ।

रस की यह परिभाषा अथवा लक्षण साहित्यिक है, इससे जैसा चाहिये वैसा प्रकाश प्रस्तुत विषय पर नहीं पड़ता । काव्यप्रकाशकार ने रस की जो निम्नलिखित व्याख्या की है, वह सर्वबोधगम्य एवं मानस अवस्था की सूचक है ।

"पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुरइव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन् सर्वांगीणमिवालिंगन् अन्यत् सर्वमिव तिरोदधत् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृंगारादिको रसः ।"

पानक रस के समान जिनका आस्वाद होता है, जो स्पष्ट झलक जाते, हृदय में प्रवेश करते, व्याप्त होकर सर्वांग को सुधारससिंचित बनाते, अन्य वेद्य विषयों को ढक लेते, और ब्रह्मानंद के समान

अनुभूत होते हैं, वे ही अलौकिक चमत्कारसंपन्न शृंगारादि रस कहलाते हैं।

भाव किसे कहते हैं? रस में क्या विशेषता है? ऊपर के अवतरणों को पढ़कर यह बात आपलोगों ने समझ ली होगी। वास्तविक बात यह है कि विशेष उत्कर्षप्राप्त, हृदयग्राही, व्यापक, अनिर्वचनीय आनंदप्रद और अधिकतर मनोमुग्धकर भाव ही रस कहलाता है। दुग्ध की स्वाभाविक सरसता और मधुरता कम नहीं, किंतु अवट जाने पर जब वह अधिक गाढ़ा हो जाता है, और सुस्वादु मेवों के साथ जब उसमें सिता भी सम्मिलित हो जाती है, तो उसका आस्वाद कुछ और ही हो जाता है, रसों की भी कुछ ऐसी ही अवस्था है। नाट्य शास्त्र-प्रणेता कहते हैं—

न भावहीनोस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिरनयो रसभावयोः।

"रस के विना भाव नहीं और भाव के विना रस नहीं होते। इन रस और भावों की सिद्धि एक दूसरे पर निर्भर है।"

रस और भावों में इतनी स्पष्टता होने पर भी रस और भाव के निरूपण में एकवाक्यता नहीं है। विभिन्न मत इस विषय में भी हैं, और अब तक कोई ऐसा सिद्धांत निश्चित नहीं हुआ, जो सर्वमान्य हो। ऊपर आप यह वाक्य देख चुके हैं, 'केचिदाहुरेक एव शृंगारो रस इति" जिससे पाया जाता है कि कोई-कोई आचार्य शृंगार रस को ही रस मानते हैं, और किसी रस को रस मानना ही नहीं चाहते। साहित्यदर्पणकार लिखते हैं कि उनके पितामह पंडितप्रवर नारायण अद्भुत रस को ही रस मानते हैं अन्य रसों को वे स्वीकार ही नहीं करते। यथा—

"रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ॥
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ।"

"सब रसों में चमत्कार साररूप से प्रतीत होता है। और चमत्कार (विस्मय) के साररूप (स्थायी) होने से सब जगह अद्भुत रस ही प्रतीत होता है, अतः पंडित नारायण केवल एक अद्भुत रस ही मानते हैं।"

उत्तररामचरितकार करुण रस को ही प्रधान मानते हैं, वे लिखते हैं—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदा-
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान् ।
आवर्त्त बुद्बुदतरंगमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम् ॥

एक करुण रस ही निमित्तभेद से भिन्न होकर पृथक्.पृथक् परिणामों को ग्रहण करता है। जल के आवर्त्त, बुद्बुद, तरंगादि जितने विकार हैं, वे समस्त सलिल ही होते हैं।

नाट्यशास्त्रकार ने आठ ही रस माने हैं। यथा—

शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसा स्मृताः ॥

नाट्य में शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत आठ रस माने गये हैं।

काव्यप्रकाशकार ने नवाँ शांत रस भी माना है। यथा—

निर्वेदस्थायिभावोस्ति शांतोपि नवमो रसः ।

नवम रस शांत है जिसका स्थायी भाव निर्वेद है।

रसगंगाधरकार कहते हैं—

"अथ कथमेतएव रसाः ? भगवदालंबनस्य रोमांचाश्रुपातादिरनुभावितस्य हर्षादिभिः पोषितस्य, भागवतादिपुराणश्रवणसमये भगवद्भक्तैरनुभूयमानस्य भक्तिरसस्य दुरपन्हवत्वात् । भगवदनुरागरूपाभक्तिश्चात्र स्थायिभावः । न चासौ शांतरसेन्तर्भावमर्हति, अनुरागस्य वैराग्यविरुद्धत्वात् । उच्यते—भक्तेर्देवादिविषयरतित्वेन भावांतर्गततया, रसत्वानुपपत्तेरिति ।"

क्या रस इतने ही हैं ? भगवान् जिसके आलंबन हैं, रोमांच अश्रुपातादि जिसके अनुभाव हैं, भागवतादि पुराणश्रवण के समय भगवद्भक्त भक्तिरस के उद्रेक से जिसका अनुभव करते हैं, वही भगवदनुरागरूपा भक्ति यहाँ स्थायीभाव है। शांत रस में इसका अंतर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि अनुराग और वैराग्य परस्पर विरोधी हैं। किंतु भक्ति देवादि रति विषय से संबंध रखती है, अतएव वह भाव के अंतर्गत है, उसमें रसत्व नहीं माना जा सकता।

रसगंगाधरकार पंडितराज जगन्नाथ असाधारण विद्वान् थे। वे स्वयं प्रश्न उपस्थित करते हैं कि क्या रस इतने ही हैं ? प्रश्न उपस्थित करने के उपरांत पूर्व पक्ष का प्रतिपादन बड़ी योग्यता से करते हैं। जिन विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों के आधार से स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त होता है, उसका निरूपण भी यथेष्ट करते हैं, उनकी पंक्तियों को पढ़ते समय ज्ञात होने लगता है कि आप भक्ति को रस स्वीकार करेंगे, किन्तु उन्होंने उसको देवादिविषयिनी रति कहकर 'भाव' ही माना और यह भी नहीं बतलाया कि देवविषयक रति को रसत्व क्यों नहीं प्राप्त होता। परमात्मा का नाम रस है, श्रुति कहती है, 'रसो वैसः'। रस शब्द का अर्थ है, 'यः रसयति आनन्दयति स रसः'। वैष्णवों को माधुर्य उपासना परम प्रिय है, अतएव भगवदनुरागरूपा भक्ति को वे रस मानते हैं। यह विषय पंडितराजजी के लक्ष्य में था, इसलिये उन्होंने पूर्व-पक्ष

में उसको ग्रहण किया, किन्तु प्राचीन आचार्यों की सम्मति को प्रधान मानकर उसको भाव ही बतलाया।

आगे के पृष्ठों में आप पढ़ चुके हैं कि कुछ रसनिर्णायकों ने प्रेयांस, दांत, उद्धत, लौल्य, भक्ति और कापरय को भी रस माना है। ज्ञात होता है कि इनलोगों का विचार भी पंडितराजजी के ध्यान में था, और इसलिये भी सबमें भक्ति को प्रधान समझकर उन्होंने उसके रस होने के विरुद्ध अपनी लेखनी चलाई। जो हो, मेरे कथन का अभिप्राय यह है कि रसनिरूपण का विषय निर्विवाद नहीं है। जैसा आपलोग देख चुके, इस विषय में भी भिन्न-भिन्न आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत हैं। हाँ, यह अवश्य है कि अधिक सम्मति नवरस सम्बन्धिनी है। जिस प्रकार यह सत्य है, उसी प्रकार यह भी सत्य है कि कुछ मान्य विद्वानों ने वात्सल्यरस को भी दसवाँ रस माना है। उनमें मुनींद्र और साहित्यदर्पणकार का नाम विशेष उल्लेख योग्य है। साहित्यदर्पणकार लिखते हैं—

स्पष्ट चमत्कारक होने के कारण वत्सल को भी रस कहा गया है।

"स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः * ।"

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने भी अपने नाटक नामक ग्रंथ में 'वत्सल' को रस माना है। उन्होंने रसों के नामों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

"शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत, वीभत्स, शांत, भक्ति वा दास्य, प्रेम वा माधुर्य, सख्य, वात्सल्य, प्रमोद वा आनन्द।"

'प्रकृतिवाद' बँगला का एक प्रसिद्ध कोष है। उसके रचयिता

---

* भोजदेव ने भी अपने 'शृंगारप्रकाश' नामक ग्रंथ में 'वत्सल' को रस माना है, और रसों की संख्या दस बतलाई है। वे लिखते हैं—

बंग भाषा के एक प्रसिद्ध विद्वान् हैं। वे रस शब्द का अर्थ बतलाते हुए लिखते हैं—

"केहो केहो वात्सल्यकेओ रस बलियाथाकेन, तन्मते रस दश प्रकार।"—"कोई-कोई वात्सल्य को भी रस कहते हैं, उनके मत से रस दश प्रकार का होता है।"

साहित्यदर्पणकार ने वत्सल को रस मानने का कारण उसका स्पष्ट चमत्कार होना बतलाया है, साथ ही उसको मुनीन्द्रसम्मत भी लिखा है। मेरा विचार है कि वत्सल में उतना स्पष्ट चमत्कार नहीं है, जितना भक्ति में, किन्तु उसको उन्होंने भी रस नहीं माना। बाबू हरिश्चन्द्र ने भक्ति वा दास्य लिखकर उसको दास्य तक परिमित कर दिया है, किन्तु भक्ति बहुत व्यापक और उदात्त है, साथ ही उसमें इतना चमत्कार है, कि शृंगार रस भी उसकी समता नहीं कर सकता। वैष्णव विद्वानों ने भक्ति को रस माना है, और अन्य सब रसों से उसको प्रधानता दी है। आचार्यवर मधुसूदन सरस्वती अपने 'भक्तिरसायन' नामक ग्रंथ में लिखते हैं—

रसांतरविभावादिसंकीर्णा भगवद्गतिः।
चित्ररूपवदन्याद्यग्रसतां प्रतिपद्यते॥
रतिदेंवादिविषया व्यभिचारी तथार्जितः।

शृंगारवीरकरुणाद्भुतहास्यरौद्र-
वीभत्सवत्सलभयानकशांतनाम्नः।
आश्नासिषुर्दशरसान् सुधियो वदंति
शृंगारमेव रसनाद्रस मामनामः।

शृंगार, वीर, करुण, अद्भुत, हास्य, रौद्र, वीभत्स, वत्सल, भयानक, और शान्त नामक दश रस बुद्धिमानों ने बतलाये हैं, किन्तु आस्वादन पर दृष्टि रखकर शृंगार ही रस माना जा सकता है।

भावः प्रोक्तो रसो नेति यदुक्तं रसकोविदैः ॥
देवांतरेषु जीवत्वात् परानंदाप्रकाशनात् ।
तद्योज्यं—परमानंदरूपेण परमात्मनि ॥
कांतादिविषया वा ये रसाद्यास्तत्र नेदृशम् ।
रसत्वं पुष्यते पूर्णसुखास्पर्शित्वकारणात् ॥
परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः ।
खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा ॥

अन्य रसों के समान विभावादि से युक्त होकर भक्ति चित्र-फलक के सदृश मनोरंजन बनकर रसत्व को प्राप्त होती है। रसकोविदों ने देवादिविषयक रति और अंजित व्यभिचारी को भाव बतलाया है—रस नहीं, किन्तु इस विचार को अन्य देवताओं तक ही परिमित समझना चाहिये, क्योंकि उनलोगों की रति अलौकिक आनन्ददायिनी नहीं होती, परमानन्दस्वरूप परमात्मा की भक्ति के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। कान्तादि-विषयक रसों में रसत्व का पोषण यथेष्ट नहीं होता, क्योंकि उनको पूर्ण-सुख स्पर्श नहीं करते। प्राकृत क्षुद्र रसों से परिपूर्णरसा भगवद्भक्ति वैसी ही बलवती है, जैसी खद्योतों में आदित्य की प्रभा।

सम्भव है, इस उक्ति को रंजित माना जावे, किन्तु अभिनिविष्ट चित्त से विचार करने पर वह सत्य समझी जावेगी। भक्ति नव प्रकार की होती है।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

भारतेन्दुजी ने जिन नवीन रसों की चर्चा अपने लेख में की है, लगभग उन सब का अन्तर्भाव भक्ति से हो जाता है। भक्ति दास्य ही नहीं है, यह बात इस श्लोक से स्पष्ट हो गई। आचार्यप्रवर मधुसूदन 'सरस्वती' की उक्ति का समर्थन भी अधिकांश में

नवधा भक्ति करती है। पादसेवनं से लेकर दास्यं, सख्यं, आत्म-निवेदनं तक भक्ति का चमत्कार है। दाम्पत्य धर्म का सर्वस्व भी दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन है। यों तो भगवदाज्ञा है, कि 'ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम्', किन्तु व्यापक भगवदुपासना तीन ही रूप में होती है। १—पिता पुत्र भाव, २—स्वामी सेवक भाव और ३—पति पत्नी भाव में। शृंगार रस में प्रधान नायक पति और नायिका स्वकीया होती है। ऐसी अवस्था में शृंगार रस का भी अधिकांश भक्ति के अंतर्गत आ जाता है। कबीर साहब निर्गुण उपासक माने जाते हैं। कुछ लोग उनको आधुनिक संत मत के निर्गुण उपासकों का आचार्य भी समझते हैं। निर्गुण उपासना का अधिकांश सम्बन्ध ज्ञानमार्ग से है, उसका आध्यात्मिक उत्कर्ष बहुत कुछ बतलाया जाता है। किन्तु जब भक्ति अथवा प्रेम का उद्रेक हृदय में होता है, तब सगुण उपासना ही सामने आती है, और उपासना के उक्त तीनों रूपों में से किसी एक का अथवा तीनों का आश्रय चित्त की वृत्ति के अनुसार ग्रहण करना पड़ता है। निर्गुणवादी होकर भी कबीर साहब को इस पथ का पथिक होना पड़ा है। उनको तीनों रूपों में परमात्मा को स्मरण करते देखा जाता है, किन्तु पत्नी भाव की उनकी उपासना बहुत ही हृदयग्राहिणी है। यह उपासना माधुर्यमयी है, इसकी वेदनाएँ मर्मस्पर्शिनी होती हैं, अतएव उनमें विचित्र रस-परिपाक पाया जाता है। कबीर साहब की निम्नलिखित रचनाओं में कितनी मार्मिकता है, आप लोग स्वयं उसका अनुभव कीजिये—

बिरहिन देय सँदेसरा सुनो हमारे पीव।
जल बिन मच्छी क्यों जिए पानी में का जीव॥
अँखियाँ तो झाईं परी पंथ निहार निहार।
जीहड़ियाँ छाला पड़ा नाम पुकार पुकार॥

बिरहिन उठि उठि भुइं परै दरसन कारन राम।
मूए पाछे देहुगे सो दरसन केहि काम॥
मूए पाछे मत मिलौ कहै कबीरा राम।
लोहा माटी मिल गया तब पारस केहि काम॥
सब रग ताँत रबाब तन बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुन सकै कै साईं कै चित्त॥
पिया मिलन की आस रहौं कब लौं खरी।
ऊँचे नहिं चढ़ि जाय मने लज्जा भरी॥
पाँव नहीं ठहराय चहूँ गिरि गिरि परूँ।
फिरि फिरि चढ़हुँ सम्हारि चरन आगे धरूँ॥
अंग अंग थहराय तो बहुविध डरि रहूँ।
करम कपट मग घेरि तो भ्रम में परि रहूँ॥
बारी निपट अनारि तो झीनी गैल है।
अटपट चाल तुम्हार मिलन कस होई है॥
अंतर पट दे खोल सब्द उर लावरी।
दिल बिच दास कबीर मिलैं तोहिं बावरी॥

इन पंक्तियों में कैसा आत्मनिवेदन है, उसे बतलाना न होगा। प्रत्येक शब्द में वह व्यंजित है। आत्मनिवेदन का अर्थ आत्मोत्सर्ग लीजिये, चाहे आत्मदशानिवेदन, दोनों ही भाव उनमें मौजूद हैं। अतएव उनमें भक्ति रस का प्राचुर्य स्पष्ट है। काव्यप्रकाशकार ने रस का जो व्यापक और मानसिक अवस्था-प्रदर्शन संबंधी लक्षण लिखा है, भक्ति में वह जितना सुविकसित पाया जाता है, अन्य रस में उसका उतना विकाश नहीं देखा जाता। वे लिखते हैं—'पानक रस के समान रस को आस्वाद्य होना चाहिये' उनके कहने का भाव यह है कि जैसे पीने का रस चीनी, दूध, केवड़ा, इलायची आदि भिन्न-भिन्न पदार्थों से बनकर उन सबसे

पृथक् एक विचित्र स्वाद रखता है, और अधिक स्वादिष्ट भी होता है, उसी प्रकार, विभावादि के मिश्रण से जो रस बनता है, उसका आस्वादन भी अपूर्व और विलक्षण होना चाहिये। भक्ति में यह गुण और रसों से अधिक पाया जाता है। जब भगवद् प्रेम विषयक स्थायी भाव, परमानंदस्वरूप परमात्मा आलंम्बन विभाव को पाकर पुलक अश्रुपात आदि अनुभावों एवं हर्ष, आवेग, विबोध, औत्सुक्य आदि संचारी भावों के सहारे भक्ति में परिणत होता है, उस समय भक्तजनों के हृदय में जिस अलौकिक रस का आविर्भाव होता है, वह कितना लोकोत्तर तथा दैवी विभूति-सम्पन्न देखा जाता है, क्या यह अविदित है। क्या उसीके आस्वादन-जनित आमोद का वर्णन इन शब्दों में नहीं है?—

त्वत्साक्षात्करणाह्लादविशुद्धाब्धिस्थितस्य मे।
सुखानि गोष्पदायंते.................. ॥"

—भागवत

तुम्हारे साक्षात्करण आह्लाद के विशुद्ध समुद्र में स्थित होने के कारण मुझको समस्त सुख गोष्पदसमान ज्ञात होते हैं।

क्या उसी रसास्वादनकारी की अद्भुत दशा का उल्लेख यह नहीं है?

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिंतया क्वचिद्धसंति नंदन्ति वदंत्यलौकिकाः।
नृत्यंति गायंत्यनुशीलयंत्यजं भवंति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥

अच्युत का चिंतन करके कभी रोते हैं, कभी हँसते, आनंदित होते और अलोकिक बातें कहते हैं। कभी नाचते, गाते, भगवान् का अनुशीलन करते और परमात्मा को प्राप्त कर संतोष लाभ करने के उपरांत मौन हो जाते हैं।

क्या उसी रस का प्याला पीकर भक्तिमयी मीरा ने यह नहीं गाया?

मेरे गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई ॥
साधुन सँग बैठि बैठि लोकलाज खोई।
अब तो बात फैल गई जानत सब कोई ॥
अँसुवन जल सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई।
मीरा को लगन लगी होनि हो सो होई ॥

क्या उसी रस की सरसता के स्वाद ने उनके समस्त राज-भोगों को भी नीरस नहीं बनाया था ?

क्या उसी रस का भांड लेकर भक्ति-अवतार गौरांग ने बंगाल प्रांत को प्रेमोन्मत्त नहीं बनाया ? स्वयं उस रस से सिक्त होकर क्या उन्होंने वह रस-प्लावन नहीं किया, जिसमें भारत का एक विशाल प्रांत आज भी निमग्न है ? आज से चार सौ वर्ष पहले इस पुण्यभूमि ने जो स्वर्गीय गान सुना, जो त्रिलोकमोहन नर्तन देखा, जो अभूतपूर्व भक्तिउद्रेक अवलोकन किया, क्या वह उसी रस की महत्ता नहीं थी ?

क्या उसी रस से सराबोर मंसूर ने सूली पर चढ़कर यह नहीं पुकारा—

'यह उसके बाम का ज़ीना है आए जिसका जी चाहे।'

क्या उस रस के रोम रोम में रग रग में भीनने का ही यह निरूपण नहीं है—

'बाद मरने के हुआ मनसूर को भी जोशे इश्क़।
खून कहता था अनल हक़दार के साया तले ॥'

कोई सामने आये और बताये कि दूसरे किस रस का आस्वाद ऐसा है !

रस की और विशेषता क्या है ? यह कि वह स्पष्ट झलक जाता है, हृदय में प्रवेश कर जाता है, सर्वांग को सुधारस-सिंचित बनाता है

और अन्य वेद्य विषयों को तिरोहित कर देता है। अन्य रसों पर भी यह लक्षण घटित हो सकता है, दूसरों रसों में भी यह विशेषता पाई जा सकती है, किंतु भक्ति रस में तो इस लक्षण और विशेषता की पराकाष्ठा हो जाती है, वरन् कहना तो यह चाहिये कि भक्ति रस में ही इन विशेषताओं की वास्तविक सार्थकता होती है। जब भक्ति अन्य वेद्य विषयों को तिरोहित कर देती है, तभी तो वह स्पष्ट झलक जाती है, तभी तो हृदय में प्रवेश करती है, और तभी तो सर्वांग सुधारस-सिंचित होता है। यदि ऐसा न होता तो यह क्यों कहा जाता—"प्रेम एव परो धर्म्मः" "God is love, love is God"? क्यों गोस्वामीजी महाराज कहते 'जेहि जाने जग जाय हेराई' और वेद्य विषयों की बात ही क्या, जब भक्ति रस के प्रभाव से 'रसो वै सः' का ज्ञान हो जाता है, तो संसार स्वयं तिरोहित हो जाता है, स्वयं खो जाता है, क्योंकि जिसको उसकी खबर हो जाती है, उसको स्वयं अपनी खबर नहीं रहती। "आँरा कि खबर शुद खबरशवाज नयामद'। और तो और, बेचारी मुक्ति को भी कोई नहीं पूछता। जब भक्ति हृदय में प्रवेश कर गई तो मुक्ति को उसमें स्थान कहाँ। उसका तिरोधान तो हो ही जावेगा—

"राम-उपासक मुक्ति न लेहीं। तिन कहँ राम भक्ति निज देहीं।"

श्रीमद्भागवत का भी यही वचन है। सुनिये—

न किंचित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकांतिनो मम।
वांछन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥

मेरे एकांत भक्त धीर साधुजन कुछ नहीं चाहते, ममप्रदत्त कैवल्य और अपुनर्भव की भी कामना नहीं रखते। रहा सर्वांग का सुधारस-सिंचित होना, इसका अनुभव किस भावुक पुरुष को नहीं है? जिस समय किसी देवालय तथा किसी सात्विक

स्थान-विशेष में भक्तिमय भगवद्-सुयश का गान प्रारंभ होता है, अथवा जब किसी भक्तिरस-पूर्ण हृदय के मुख से उनकी कथा-अमृत की वर्षा होने लगती है, उस समय कौन है जो सुधास्रोत में निमग्न नहीं हो जाता? परम भागवत राजा परीक्षित भक्ति-अवतार श्रीशुकदेवजी से क्या कहते हैं; सुनिये—

नैषातिदु:सहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते।
पिबंतं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम्॥

परम दुःसह क्षुधा और पिपासा भी मुझको बाधा नहीं पहुँचा रही है, क्योंकि आपके कमल-मुख से निःसृत सुधा मैं पान कर रहा हूँ। जो क्षुधा अंग-अंग को शिथिल कर देती है, शरीर को निर्जीव बना देती है, जो पिपासा यह बतला देती है, कि जीवन का आधार जीवन ही है, राजा परीक्षित कहते हैं, कि वही क्षुधा और वही पिपासा, सो भी साधारण नहीं, परम दुःसह, उनको बाधा नहीं पहुँचाती है, उनकी आकुलता अथवा निरानंद का कारण नहीं होती है, इस कारण कि वह एक भक्तिभाजन महात्मा के मुख से निकले हरिकथामृत का पान कर रहे हैं। आपने देखा, भक्ति-रस का सर्वांग में सुधा-सिंचन। यदि भक्ति में यह शक्ति न होती तो क्या राजा परीक्षित के मुख से ऐसी अपूर्व बात कभी निकल सकती? आपमें यदि कभी भक्ति का उद्रेक होता है, या यदि कभी आपने किसी भक्ति-उद्रिक्त प्राणी को अभिनिविष्ट चित्त से देखा है, तो आपको इस बात का अनुभव होगा कि जिस समय हृदय में भक्ति-स्रोत प्रवाहित होता है, उस समय उनकी क्या दशा होती है। क्या उस समय समस्त अंगों में अलौकिक रस सिंचन नहीं होने लगता, क्या यह नहीं ज्ञात होता कि शरीर पर कोई अमृत-कलस ढाल रहा है, कोई रग-रग से किसी ऐसे आनंद की धारा प्रवाहित कर रहा

है जिसका आस्वादन सर्वथा लोकोत्तर है? यही तो सर्वांग में सुधा-रस सिंचन है। ब्रह्मानंद का अनुभव ऐसे ही अवसरों पर तो होता है। भक्ति रस के अतिरिक्त दूसरा कौन रस है, जिसके द्वारा ब्रह्मानंद की प्राप्ति यथातथ्य हो सके? रस को ब्रह्मानंद-सहोदर कहा है, किंतु भक्ति रस में ही इस लक्षण की व्याप्ति है। सांख्य-कार ने त्रिविध दुःख की अत्यंत निवृत्तिको परम पुरुषार्थ कहा है। किंतु भक्तिरस सिक्त मनुष्यों को दुःख का अनुभव होता ही नहीं, क्योंकि 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'। वह जानता है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। वह समझता है 'आनंदाद्ये न खल्विमानि भूतानि जायंते आनंदेन जातानि जीवंति 'आनन्दं प्रयान्त्यभिसंविशंति' । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान", 'तस्यैवानंदस्यान्ये मात्रामुपजीवन्ति' और किस रस में इस सिद्धात के अनुभव की शक्ति है? भक्ति ही वह आधार है जिसके आश्रय से इस भाव का विकाश होता है। भक्तिमान को छोड़कर कौन कह सकता है, 'राम-सियामय सब जग जानी। कर हुँ प्रणाम जोरि जुग पानी॥' कौन कह सकता है—'बर्गेदरख्तान सब्ज दरनजरे होशियार। हरवरक़े दफ़्तरेस्त मारफ़ते किर्दगार॥' 'द्रष्टा की दृष्टि में हरे वृक्षों का एक-एक पत्ता परमात्मा के रहस्य-ग्रंथ का एक-एक पन्ना है'। कितनी गहरी भक्तिमत्ता है। गुरु नानक देव कहते हैं—

गगन तल थाल रवि चंद दीपक बने तारकामंडला जनुक मोती।
धूप मलयानिलो पवन चवरो करै सकल बनराय फूलंत जोती॥
कैसी आरती होय भव खंडना।

"गगनतल के थाल में तारकमंडल मोती के समान जगमगा रहे हैं, सूर्य्य चंद्र उसमें दीपक सदृश शोभायमान हैं। मलयानिल धूप का काम देता है, समीर चमर झलता है; समस्त तरु पुष्प लेकर खड़े हैं, इस प्रकार भवभयनिवारण करनेवाली परमात्मा की अखंड आरती होती रहती है"।

कैसी उदात्त और आनंदमयी कल्पना है। जिसकी भक्ति के उच्छ्वास ने संसार को परमानंदमय बना दिया है, उसीके प्रफुल्ल हृदय का यह उद्गार है। ब्रह्मानंद का अनुभव यही तो है। यही है वह भक्तिभाव जिसे पाकर कुर्वंति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम्'।

अब रही चमत्कार की बात। भक्ति का चमत्कार और विलक्षण है। भक्तिरस के रसिक ही के विषय में यह कहा गया है—

न पारमेष्ठ्यं न महेंद्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः॥

—भागवत

परमात्मा के चरणरज के प्रेमिक न तो कैलाश की कामना करते हैं, न स्वर्ग की, न सार्वभौम की, न राज्य की, न योगसिद्धि की, न अपुनर्भव को। कैसा अलौकिक चमत्कार है! और सुनिये भगवान् उद्धव से क्या कहते हैं—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥

—भागवत

न तो मैं योग से मिलता हूँ न सांख्य धर्म से, न स्वाध्याय से न तप से; लोग मुझे ऊर्जित भक्ति से ही पा सकते हैं। ऐसा चमत्कार किस रस का है? और भी सुनिये। भगवद्वाक्य है—

यत्कर्मभिर्यत्तपसा मानवैराग्यतश्च यत्।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।

—भागवत

जो कर्म से, तप से, ज्ञान से, वैराग्य से, योग से, दान से, धर्म से एवं दूसरे श्रेयों से पाया जा सकता है, वह सब मेरा भक्त एक

भक्ति-योग द्वारा ही पा जाता है। भक्ति की कैसी अपूर्व चमत्कृति है।

वैदिक काल से प्रारम्भ करके पौराणिक काल तक का जितना साहित्य है, उसके बाद के जितने काव्य अथवा अन्य धार्म्मिक किंवा ऐतिहासिक ग्रंथ हैं, वे समस्त भक्ति के चमत्कार से भरे पड़े हैं। वैदिक साहित्य के प्राकृतिक देवतों और ईश्वर की भक्ति का चमत्कार ही संसार के ज्ञानभंडार का विकाश है। महाभारत, रामायण और पुराणों के महामहिम पुरुषों की उदात्त देवभक्ति, गुरु-भक्ति, पितृभक्ति आदि का चमत्कार क्या भारतवर्ष का पवित्र और जगदादर्शभूत महान् आत्मत्याग और अलौकिक सदाचार नहीं है? बुद्धदेव और बौद्धधर्म में अशोक की अनन्य भक्ति का चमत्कार उसका वह बौद्धधर्म-प्रचार है, जिसके आलोक से लगभग समस्त एशिया महादेश आलोकित है, और जिसकी छाया आजकल दूरवर्ती यूरोप और अमरीका आदि अन्य महादेशों पर भी पड़ रही है। महात्मा ईसा की, जगत्पिता की, उदात्त भक्ति का चमत्कार वह ईसवी धर्म है, जिसके माननेवालों की संख्या आज संसार में सबसे अधिक है।

संसार के अनंत धर्ममन्दिर अपने गगनस्पर्शी गुंबदों और मीनारों द्वारा क्या ईश्वरभक्ति के चमत्कारों का ही उद्घोष नहीं कर रहे हैं? क्या उसीके गुणगान में धर्म-संबंधी विविध बाजे और गगनभेदी गंभीर निनाद नहीं संलग्न है? संसार के तीर्थों की अपार जनता का समारोह, धार्मिक असंख्य कार्य्य-कलाप, धर्मयाजकों अथच उपदेशकों का विश्वव्यापी धर्मप्रचार क्या किसी अचिंत्य शक्ति की भक्ति के चमत्कार का ही परिणाम नहीं है? संसार में आजकल जो नाना परिवर्तन हो रहे हैं, विविध आविष्कार और उद्योग किये जा रहे हैं, क्या वे विश्वभक्ति, देशभक्ति, समाजभक्ति जाति-भक्ति और आत्मभक्ति के ही चमत्कार नहीं हैं? यदि इन

बातों का उत्तर स्वीकृत है, तो यह स्पष्ट है कि भक्ति जैसा चमत्कार किसी रस में नहीं है, इस दृष्टि से भी उसको सब रसों पर प्रधानता है।

काव्यप्रकाशकार ने जो व्यापक लक्षण रसों के बतलाये थे, उसके आधार से विचार करने पर भी भक्तिरस का स्थान उच्च ही नहीं उच्चतर सिद्ध हुआ। भक्ति-साहित्य भी किसी रस से अल्प नहीं, हिन्दी संसार में तो संतों की वाणियों ने उसका भंडार भली भाँति भर दिया है। फिर भी भक्ति को भाव ही माना जाता है, उसे रस नहीं कहा जाता। इस विषय में पंडितराज जगन्नाथजी ने भी उसका पक्ष नहीं लिया। तो भी अनेक वैष्णव विद्वानों ने उसके रस-प्रतिपादन का उद्योग किया है और यह बड़े हर्ष की बात है।

वात्सल्यरस के प्रसंग में भक्तिरस पर कुछ लिखना विषयांतर था। किंतु मैंने वात्सल्यरस का पक्ष पुष्ट करने के लिये ही यह कार्य्य किया है। मैं कहना यह चाहता हूँ कि जब भक्ति जैसे प्रधान रस की उपेक्षा हो सकती है, तो वात्सल्यरस का उपेक्षित होना आश्चर्यजनक नहीं। मैं पहले दिखला आया हूँ कि वात्सल्य को कुछ प्रसिद्ध विद्वानों ने रस माना है। अब मैं देखूँगा कि उसमें रस होने की योग्यता है या नहीं। किसी भाव को रस मानने के लिये यह आवश्यक है कि वह विभाव, अनुभाव और संचारी भावों द्वारा परिपुष्ट हो। यह बात वत्सल रस में पाई जाती है। साहित्य-दर्पणकार लिखते हैं—

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलता स्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्॥
उद्दीपनानि तच्चेष्टा विद्याशौर्यदयादयः।
आलिंगनांगसंस्पर्शशिरश्चुंबनमीक्षणम्॥

पुलकानंदवाष्पाद्यो अनुभावाः प्रकीर्तिताः ।
संचारिणोऽनिष्टशंकाहर्षगर्वादयो मताः ॥

"प्रकट चमत्कारक होने के कारण कोई-कोई वत्सलरस भी मानते हैं। इसमें वात्सल्य स्नेह स्थायी होता है। पुत्रादि इसके आलंबन और उसकी चेष्टा तथा विद्या, शूरता, दया आदि उद्दीपन विभाव हैं। आलिंगन, अंगस्पर्श, सिर चूमना, देखना, रोमांच, आनंदाश्रु आदि इसके अनुभाव हैं। अनिष्ट की आशंका, हर्ष, गर्व आदि संचारी माने जाते हैं।"

यदि कहा जावे कि अपने विभाव, अनुभाव आदि के द्वारा स्थायी वत्सलता स्नेह उतना परिपुष्ट नहीं होता जो रसत्व को प्राप्त हो तो यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती। यह सच है कि उद्‌बुद्धमात्र कोई स्थायी भाव तब तक रस नहीं माना जा सकता जब तक उसमें स्थायिता और विशेष परिपुष्ट न हो, किंतु जो रस माने जाते हैं, उनसे वत्सलरस किसी बात में न्यून नहीं है, उसमें भी विशेष स्थायिता और रस-परिपुष्ट है। काव्यप्रकाशकार ने रस के जो व्यापक और मनोभावद्योतक लक्षण बतलाये हैं, उनपर मैं वात्सल्यरस को कसता हूँ। आशा है उससे प्रस्तुत विषय पर यथेष्ट प्रकाश पड़ेगा। वे लक्षण ये हैं—

(१) रसों का आस्वाद पानक रस समान होता है, (२) वे स्पष्ट झलक जाते हैं, (३) हृदय में प्रवेश करते हैं, (४) सर्वांग को सुधारस-सिंचित बनाते हैं, (५) अन्य वेद्य विषयों को ढक लेते हैं, (६) ब्रह्मानंद के समान अनुभूत होते हैं और (७) अलौकिक चमत्कृति रखते हैं।

पानक रस किसे कहते हैं, पहले मैं यह बतला चुका हूँ। अनेक वस्तुओं के सम्मिलन से जो रस बनता है, उसका स्वाद जैसे उन भिन्न-भिन्न वस्तुओं से भिन्न और विलक्षण होता है उसी प्रकार

विभाव, अनुभावादि के आधार से बने हुए रस का आस्वाद भी न सबों से अलग और विलक्षण होना चाहिये। वात्सल्यरस में ह बात पाई जाती है। बालकों की बालक्रीड़ा देखकर माता पिता जो तन्मयता होती है, वह अविदित नहीं। उनकी तोतली बातों ो सुनकर उनके हृदय में जो रस-प्रवाह होता है, क्या वह अपूर्व ौर विलक्षण आस्वादमय नहीं होता? माता पिता को छोड़ दीजिये, ौन मनुष्य है जिसे बाललीला विमोहित नहीं करती? देखिये, ेम्नलिखित पद्य में इस भाव का विकास किस सुन्दरता से ुआ है—

बर दंत की पंगति कुंदकली अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकै घन बीच जगै छवि मोतिन माल अमोलन की॥
घुघुरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की।
निवछावर प्रान करै तुलसी बलि जाउँ लला इन बोलन की॥

वात्सल्य स्नेह विभाव, घुघुरारी लटैं, बोलन आदि उद्दीपन, ाधुर छवि-अवलोकन आदि अनुभाव, और हर्ष संचारी भाव के ेलन से जिस रस का आस्वाद आस्वादनकारिणी को हुआ है, जो पद्य के प्रति पदों में झलक रहा है, क्या पानक रस के आस्वाद से कहीं विलक्षण नहीं है? क्या विमुग्धता का स्रोत उसमें नहीं बह रहा है?

सरित, सरोवर आदि में लहरें उठती ही रहती हैं किंतु सब लहरें न तो स्पष्ट होती हैं, न यथातथ्य दृष्टिगोचर होती हैं। यही बात मानसतरंगों अथवा हृदय के भावों के विषय में भी कही जा सकती है। अनेक लहरें हृदय में उठती हैं, और तत्काल विलीन हो जाती हैं। किन्तु कुछ भावों की लहरें ऐसी होती हैं, जो स्पष्ट झलक जाती हैं, और उनमें स्थायिता भी होती है। रस प्राप्त भाव ऐसे ही होते हैं। वात्सल्यरस भी ऐसा ही है। सहृदय-

शिरोमणि सूरदासजी के निम्नलिखित पद्य में उसका बड़ा सुन्दर विकाश है। अंतिम वाक्य 'कीन्हें सात निहोरे' ने तो इस पद्य में जान डाल दी है—

जेंवत नंद कान्ह इक ठौरे।
कछुक खात लपटात दुहुँ कर बालक हैं अति भोरे॥
बड़ो कौर मेलत मुख भीतर मिरिच दसन टुक तोरे।
तीछन लगी नयन भरि आए रोवत बाहर दौरे॥
फूँकति बदन रोहिनी माता लिये लगाइ अँकोरे।
सूर स्याम को मधुर कौर दे कीन्हें सात निहोरे॥

बालक समान हृदयवल्लभ कौन है? वही तो कलेजे की कोर है, वही तो कलेजे का टुकड़ा (लख्त-जिगर) है, फिर उसके भोले भाले भाव हृदय में प्रवेश क्यों न करेंगे। बालकों के समान हृदय-विमोहन संसार में कौन है? कुसुमचय भी बड़े मनोहर होते हैं, किंतु बालकों जैसी सजीवता उनमें कहाँ। देखिये हृदय-प्रविष्ट भाव की सरसता! गोस्वामीजो निम्नलिखित पद्य लिखकर, मैं तो कहूँगा कि, रस की रसता भी छीन लेते हैं—

पौढ़िए लालन पालने हौं झुलावौं।
कर पद मुख चख कमल लसत लखि लोचन भँवर भुलावौं॥
बाल विनोद मोद मंजुल मनि किलकनि खानि खुलावौं।
तेइ अनुराग ताग गुहिबे कहँ मति मृगनयनि बुलावौं॥
तुलसी भनित भली भामिनि उर सो पहिराय फुलावौं।
चारु चरित रघुबर तेरे तेहि मिलि गाइ चरन चित लावौं॥

बालक का मयंक सा मुखड़ा आँखों में सुधा बरसाता है, उसकी तुतली बातें कानों में अमृत की बूँद टपकाती हैं, उसके चुम्बन के आस्वाद के सम्मुख पीयूष ऊख बन जाता है, और उसका आलिंगन अंग अंग पर चाँदनी छिड़क देता है। जब वह हँसता खेलता आकर

शरीर से लपट जाता है, या किलकारियाँ भरता हुआ गोद में आ बैठता है, तब क्या उस समय 'सर्वांगीणमिवालिंगन्' का दृश्य उपस्थित नहीं हो जाता ? यह वात्सल्यभाव की रस में परिणति ही तो है, और क्या है। देखिये सुधा निचोड़ती हुई एक माता क्या कहती है—

मेरे प्यारे बेटे आओ।
मीठी मीठी बातें कहके मेरे जी की कली खिलाओ॥
उमग उमग कर खेलो कूदो लिपट गले से मेरे जाओ।
इन मेरी दोनों आँखों में हँसकर सुधा बूँद टपकाओ॥

जिसने कभी बालकों के साथ खेला है, वह जानता है कि उस समय कितनी तन्मयता हो जाती है। बालक उस समय जो कहता है, वही करना पड़ता है। उस समय वास्तव में अन्य वेद्य विषय तिरोहित हो जाते हैं, यदि न हों तो खेल का रंग ही न जमेगा। यदि खेलका रंग न जमा तो बालविलास का आनंद ही जाता रहेगा। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ ग्लाडस्टोन एक दिन अपने पौत्र के साथ खेल रहे थे। आप घोड़ा बने हुए थे, और पौत्र उनकी पीठ पर सवार होकर उनसे घोड़े का काम ले रहा था। उसी समय उनसे मिलने के लिये एक सज्जन आये, और उनका यह चरित्र देखकर उनके पास ही कुछ दूर पर खड़े हो गये। किंतु वे अपनी केलि-क्रीड़ा में इतने तन्मय थे, कि बहुत देर तक उनका ध्यान ही उधर नहीं गया। खेल समाप्त होने पर जब यह बात उनको ज्ञात हुई, तो वे हँस पड़े। बोले, आशा है आपके यहाँ भी लड़के होंगे। इसीको कहते हैं वेद्य विषय का तिरोभाव। इसी तन्मयता का चित्र महात्मा सूरदासजी किस सहृदयता से खींचते हैं, देखिये। अंतिम पद्य में 'श्याम को मुख टरत न हिय ते' बड़ा मार्मिक है—

आँगन स्याम नचावहीं जसुमति नँदरानी।
तारी दै दै गावहीं मधुरी मृदु बानी॥
पायन नूपुर बजाईं कटि किंकिनि कूजै।
नन्हीं एरिअन अरुनता फलबिंब न पूजै॥
जसुमति गान सुनै स्रवन तब आपुन गावै।
तारि बजावत देखिकै पुनि तारि बजावै॥
नचि नचि सुतहिं नचावई छवि देखत जिय ते।
सूरदास प्रभु स्याम को मुख टरत न हिय ते॥

रस का परिपाक ब्रह्मानंद समान अनुभूत होता है, इसकी वास्तवता चिंतनीय है। वीभत्सरस एवं भयानक और रौद्र रस में इसकी चरितार्थता तादृश नहीं होती। हाँ! शांत, शृंगार, करुण, अद्भुत और विशेष दशाओं में हास्य और वीर में भी इस लक्षण की सार्थकता हो सकती है। भक्तिरस में तो यह लक्षण पूर्णता को पहुँच जाता है; वत्सलरस में भी उसका पर्याप्त विकाश दृष्टिगत होता है। संसार में जो आनंद-स्वरूप परमात्मा का कोई मूर्तिमान् आकार है, तो वह बालक है। ब्रह्म के संसार से निर्लिप्त होने का भाव जो कहीं मिलता है, तो बालक में मिलता है। दुःख सुख में सम बालक ही देखा जाता है, निरीहता उसीमें मिलती है। फिर वात्सल्य रस ब्रह्मानंद-सहोदर क्यों न होगा। गोस्वामी तुलसीदासजी का इसी भाव का एक बड़ा सुन्दर पद है, जो अपने रंग में अद्वितीय है—

माता लै उछंग गोविंद मुख बार बार निरखै।
पुलकित तनु आनंद घन छन छन मन हरखै॥
पूछत तोतरात बात मातहिं जदुराई।
अतिशय सुख जाते तोहि मोहि कहु समुझाई॥

देखत तव बदन कमल मन अनंद होई।
कहै कौन? रसन मौन जाने कोइ कोई॥
सुन्दर मुख मोहि देखाउ, इच्छा अति मोरे।
मम समान पुन्यपुंज बालक नहिं तोरे॥
तुलसी प्रभु प्रेमबस्य मनुज रूपधारी।
बाल-केलि-लीला-रस ब्रज जन हितकारी॥

तुतलाकर लीलामय ने माता से पूछा, तुझको अपार सुख किसमें है? माता ने कहा—तेरा कमलवदन देखकर मन आनंदित होता है। कैसा आनंद होता है, इसको कौन कहे, रसना तो चुप है, इसको कोई-कोई जानता है। लीलामय ने कहा—वह सुन्दर मुखड़ा मुझे दिखला। माता ने कहा—मेरे समान तेरा पुण्यपुंज कहाँ! यहाँ पर ब्रह्मानंद को भी निछावर कर देने को जी चाहता है। संसार में बालक के मुख अवलोकन के आनंद का अनुभव माता ही को हो सकता है। और कोई संसार में इस अनुभव का पात्र नहीं, पिता भी नहीं। बालक कृष्ण भी पिता ही के वर्ग का है, इसीलिये माता ने कहा तेरा पुण्यपुंज ऐसा कहाँ! फिर जो आनंद ऐसा अलौकिक और अनिर्वचनीय है, कि जिसको रसना भी नहीं कह सकती, जिसको कोई-कोई जानता ही भर है, किंतु कह वह भी नहीं सकता, उसे वे कैसे कहें। यही तो ब्रह्मानंद है! जिसकी अधिकारिणी कोई कोई यशोदा जैसी भाग्यशालिनी माता ही हैं, स्वयं अवतारी बालक कृष्ण भी नहीं। अपने मुख को आप कोई कैसे देख सकता है, जब तक विमल बोध का दर्पण सामने न होवे।

चमत्कार के विषय में तो वात्सल्यरस वैसा ही चकितकर है, जैसा कि स्वयं बालक। जब बालक-मूर्ति ही चमत्कारमयी है तब उससे सम्बन्ध रखनेवाले भाव चमत्कृतकर क्यों न होंगे! बालक का

जन्मकाल कितना चमत्कारमय है और उस समय चारों ओर कैसा रस का स्रोत उमड़ पड़ता है, इसका अनुभव प्रत्येक हृदयवान् पुरुष को प्राप्त है। उस समय के गीतों के गान में जो झंकार मिलती है, सोहरों में जो विमुग्धकरी ध्वनि पाई जाती है, वह किसी दूसरे अवसर पर श्रुतिगोचर नहीं होती। संतान ही वंश-वृद्धि का आधार, पिता का आशास्थल, माता का जीवनसर्वस्व, और संसार-बीज का संरक्षक है। उसीमें यह चमत्कार है कि जैसी ममता उसकी पशु पक्षी कीट पतंग को होती है वैसी ही देवता मनुष्य और दानवों को भी। उसकी लीलाएँ जितनी मनोरंजिनी हैं, जितनी उसमें स्वाभाविकता और सरसता मिलती है, मानव जीवन की किसी अवस्था में उतनी मनोरंजन आदि की सामग्री नहीं पाई जाती। ये बातें भी चमत्कारशून्य नहीं, तो भी नीचे मैं वात्सल्यरस के कुछ पद्य लिखता हूँ। आप देखें, इनमें कैसा स्वभाव-चित्रण और कविता-गत चमत्कार है। बालक जैसे सरल और कोमल होते हैं, वैसे ही उनके भाव और विचार भी सरल और कोमल होते हैं। उद्धृत कविताओं में आपको उनका बड़ा ही मनोहर स्वरूप दिखलाई पड़ेगा।

मैया! मैं नाहीं दधि खायो।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो॥
देखि तुही छीके पर भाजन ऊँचे घर लटकायो।
तुही निरखि नान्हें कर अपने मैं कैसे करि पायो॥
मुख दधि पोंछि कहत नंदनंदन दोना पीठ दुरायो।
डारि साँट मुसुकाइ तबहि गहि सुत को कंठ लगायो॥
बाल विनोद मोद मन मोह्यो भगति प्रताप दिखायो।
सूरदास प्रभु जसुमति के सुख शिव विरंचि बौरायो॥

शिव विरंचि बावले बने हों या न बने हों, किंतु महात्मा सूरदासजी का बड़ी हो सजीव भाषा में सहज बाल-स्वभाव का चित्रण

अत्यंत मार्मिक और हृदयग्राही है। एक-एक चरण में विमुग्ध-कारी भाव हैं और उनको पढ़कर रसोन्माद-सा होने लगता है। चमत्कार के लिये इतना ही बहुत है। शिव विरंचि का उन्माद तो बड़ा ही चमत्कारक है, संभव है हमारे दिव्यचक्षु महाकवि ने इसको अवलोकन किया हो। बालक कृष्ण की विचित्र लीला क्या नहीं कर सकती!

अबहिं उरहनो दै गई बहुरो फिरि आई।
सुनु मैया! तेरी सौं करौं याकी टेव लरन की सकुच बेंचि सी खाई॥
या ब्रज में लरिका घने हौं ही अन्याई।
मुँहलाए मूँड़हिं चढ़ी अंतहु अहिरिन तोहि सूधी कर पाई॥
सुनि सुत की अति चातुरी जसुमति मुसुकाई।
तुलसिदास ग्वालिनि ठगी, आयो न उतर कछु कान्ह ठगौरी लाई॥

अहीरिन ने भी अच्छे घर बैना दिया था, बेचारी दो दो बार उलाहना देने आई, पर फिर भी उसीको मुँह की खानी पड़ी। उसने मुँह की ही नहीं खाई, भोले भाले बालक द्वारा ठगी भी गई। दूध दही तो गया ही था, उल्लू भी बनी, जवाब तक न सूझा। बालक कृष्ण ने ऐसी बातें गढ़ीं कि यशोदादेवी को मुसकाना ही पड़ा। इन गढ़ी बातों को सुनकर किसके दाँत नहीं निकल आयेंगे! हमारे कृष्ण भगवान् ने चाहे जो किया हो, किंतु गोस्वामी तुलसीदासजी की लेखनी का चमत्कार इस पद्य में चमत्कृतकर है!

जो कसौटी मैंने वात्सल्यरस के कसने की ग्रहण की थी, मेरे विचार से उसपर कस जाने पर वात्सल्यरस पूरा उतरा। इसके अतिरिक्त जब मैं विचार करता हूँ तो वात्सल्यरस उन कई रसों से अधिक व्यापक और स्पष्ट है, जिनकी गणना नवरस में होती है। हास्यरस का स्थायीभाव हास है, हास्य मनुष्य समाज तक परि-मित है; पशु-पक्षी-कीट-पतंग नहीं हँसते, किंतु वात्सल्यरस से ये

जीवजंतु भी रहित नहीं, चींटी तक अपने अंडे बच्चों के पालन में लगी रहती है, मधुमक्खियाँ तक इस विषय में प्रधान उद्योग करती दृष्टिगत होती हैं! यदि वनस्पति संबंधी आधुनिक आविष्कार सत्य हैं, और उनमें भी स्त्री पुरुष मौजूद हैं, तो वत्स और वात्सल्य-भाव से वंचित वे भी नहीं हैं; फिर भी 'हास्य' को रस माना गया, और 'वात्सल्य' इस कृपा से वंचित रहा। वीभत्स में भी न तो वत्सल इतनी रसता है, न व्यापकता, न संचरणशीलता, फिर भी वह नव-रस में परिगणित है और 'वत्सल' को वह सम्मान नहीं प्राप्त है। वीभत्सरस भी मानव समाज तक ही परिमित है, इतर प्राणियों में उसके ज्ञान का अभाव देखा जाता है, इस दृष्टि से भी वत्सल की समानता वह नहीं कर सकता, तथापि वह उच्च आसन पर आसीन है। वत्सल रस का साहित्य निस्संदेह थोड़ा है, इस विषय में वह रससंज्ञक स्थायीभावों का सामना नहीं कर सकता। हिंदी भाषा के किसी आचार्य्य अथवा प्रतिष्ठित विद्वान् ने 'वत्सल' को रस नहीं माना, इसलिये उसकी कविता साहित्य-ग्रंथों में प्रायः दुष्प्राप्य है। केवल बाबू हरिश्चन्द्र ने उसको रस माना है, किंतु उनकी भी इस रस की कोई कविता मुझे देखने में नहीं आई। जितने हिंदी भाषा में रस संबंधी ग्रंथ हैं, उन सबमें आवश्यकतावश नवरस की कविता मिलती है, किंतु यह गौरव वत्सल को नहीं मिला। साहित्य से किसी भाव की व्यापकता का पता चलता है, क्योंकि इससे जन-समुदाय की मानसिक स्थिति का भेद मिलता है। अतएव यह स्वीकार करना पड़ता है, कि इस विषय में वत्सलरस उतना सौभाग्यशाली नहीं है। फिर भी मैं यह कहूँगा कि हिन्दी संसार में जितना साहित्य वात्सल्यरस का पाया जाता है, वह अद्भुत, अपूर्व और बहुमूल्य है। कविशिरोमणि सूरदास

और कविचूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदासजी का वत्सलरस संबंधी रचनाएँ अल्प नहीं हैं, और इतनी उच्च कोटि की हैं, कि उनकी समानता करनेवाली कविता अन्यत्र दुर्लभ है। वत्सलरस के साहित्य के गौरव और महत्व के लिये मैं उनको यथेष्ट समझता हूँ, क्योंकि वे जितनी हैं उतनी ही अलौकिक मणि समान हिंदीसंसार-क्षेत्र को उद्भासित करनेवाली हैं। आजकल बाल-साहित्य के प्रचार के साथ वत्सलरस की विभिन्न प्रकार की सरस रचनाओं का भी प्राचुर्य्य है। ज्ञात होता है, कुछ दिनों में शृंगार, हास्य, वीर आदि कतिपय बड़े-बड़े रसों को छोड़कर इस विषय में भी वात्सल्यरस अन्य साधारण रसों से आगे बढ़ जावेगा। यदि इस एक अंग की न्यूनता स्वीकार कर लें तो भी अन्य व्यापक लक्षणों पर दृष्टि रखकर मेरा विचार है कि वत्सल की रसता सिद्ध है, और उसको रस मानना चाहिये। मतभिन्नता के विषय में कुछ वक्तव्य नहीं, वह स्वाभाविक है।

विशेष वक्तव्य

'रसकलस' का जन्म देना सामयिक है या नहीं, इसका विचार रसिक वृन्द करें। मुझे जो निवेदन करना है, उसे निवेदन करता हूँ। यह सच है कि व्रजभाषा का वह आदर अब नहीं रहा, किन्तु यह भी सत्य है कि जबतक वह बोलचाल की भाषा है, तबतक उसमें जीवन है। उसकी पद अर्चना करनेवाले आज भी पर्याप्त संख्या में मौजूद हैं, और उस समय तक उपस्थित रहेंगे, जबतक उसके बोलनेवाले धराधाम पर विद्यमान रहेंगे। भारतवर्ष की जितनी प्रान्तिक भाषाएँ मरहठी, बँगला, पंजाबी और गुजराती आदि हैं, उन सबमें रचनाएँ हों, भोजपुरी और मैथिली जैसी बोलियों में कविताएँ लिखी जावें, किन्तु व्रजभाषा का ही यह स्वत्व छीन लिया जावे, ऐसा कहना न्यायसंगत नहीं, जो जिसका प्राकृत अधिकार है, उससे उसको वंचित करना टेढ़ी खीर है, यह किसीके बूते की बात नहीं। इसलिये यह कहना कि अब व्रजभाषा में कविता करना झख मारना और समय-प्रवाह के विरुद्ध चलना है, यदि प्रमाद नहीं तो अज्ञान अवश्य है। रही शृंगाररस की बात, इस विषय में मुझे यह कहना है, कि क्या शृंगाररस की रचनाएँ इस योग्य हैं कि उनको वक्र दृष्टि से देखा जावे, और उनकी कुत्सा की जावे। कदापि नहीं, शृंगाररस ही साहित्य का शृंगार है, जिस दिन वह इस गौरव से वंचित होगा, उसी दिन उसका सौन्दर्य नष्ट हो जावेगा। शृंगाररस पर जो खड्ग हस्त हैं, वे उसका मर्म जानते ही नहीं, वे अमृत को विष समझ रहे हैं। अश्लील शृंगाररस अवश्य निन्दनीय है, फिर भी उस निन्दा की सीमा है, जहाँ वह किसी कला का अंग होगा, वहाँ

उसको उसी दृष्टि से ग्रहण करना होगा। जिन्होंने शृंगाररस की कुत्सा करने का बीड़ा ले रक्खा है वे कलेजे पर हाथ रखकर बतलावें कि क्या वे सचमुच हृदय से उसे कुत्सा योग्य समझते हैं, या अंध परम्परा में पड़े हैं। यदि वास्तव में हृदय से उसे ऐसा समझते हैं, तो उनकी रचनाओं में उसका स्रोत क्यों बह रहा है? और वे क्यों उसकी सरसता, मोहकता और व्यापकता पर लट्टू हैं। समझ लेना चाहिये नायिका भेद की रचनाएँ ही शृंगाररस नहीं हैं। जिन निरूपणों में प्रेम का आभास है, जिन कविताओं में प्रकृत की छटाओं का वर्णन है, जहाँ मधुरता, सरलता, हृदयग्राहिता, और सौन्दर्य्य है, वहीं शृंगाररस विराजमान है।

मैं यह स्वीकार करता हूँ कि प्राचीन प्रणाली का अनुकरण ही आजकल भी अधिकांश वर्त्तमान व्रजभाषा के कवि कर रहे हैं, निस्सन्देह यह एक बहुत बड़ी त्रुटि है समय को देखना चाहिये, और सामयिकता को अपनी कृति में अवश्य स्थान देना चाहिये। देश संकटों की उपेक्षा देश द्रोह है, और जाति के कष्टों पर दृष्टि न डालकर अपने रंग में मस्त रहना महान् अनर्थ। मातृभूमि की जिसने उचित सेवा समय पर न की वह कुल कलंक है, और जिसने पतित समाज का उद्धार नहीं किया वह पामर। यह विचार कर ही प्राचीन प्रणाली के कवियों की दृष्टि इधर आकर्षण करने के लिये 'रसकलस' की रचना की गई है। आजतक जितने 'रस ग्रंथ' बने हैं, उनमें शृंगाररस का ही अयथा विस्तार है, और रसों का वर्णन नाम मात्र है। इसके अतिरिक्त संचारी भावों के उदाहरण भी प्रायः शृंगार रस के ही दिये गये हैं, ऐसा न करके अन्य विषयों का उदाहरण भी उनमें होना चाहिये था। 'रसकलस' में इन सब बातों का आदर्श उपस्थित किया गया है, और बतलाया

गया है कि किस प्रकार अन्य रसों के वर्णन का विस्तार किया जा सकता है, और कैसे जाति, देश और समाज संशोधन संबंधी विषयों को उनमें और संचारी भावों में स्थान दिया जा सकता है। इस ग्रंथ में देशप्रेमिका, जातिप्रेमिका, और समाजप्रेमिका आदि नाम देकर कुछ ऐसी नायिकाओं की भी कल्पना की गई है, जो बिल्कुल नई हैं, परन्तु समाज और साहित्य के लिये बड़ी उपयोगिनी हैं। इस समय देश में जिन सुधारों की आवश्यकता है, जिन सिद्धान्तों का प्रचार वांछनीय है, उन सबों पर प्रकाश डाला गया है, और उनके सुन्दर साधन भी उसमें बतलाये गये हैं। पाश्चात्य विचारों के प्रवाह में पड़कर देश की कुलांगनाओं में, अंध अनुकरणकारियों एवं विदेशी भावों के प्रेमियों में जो दोष आ रहे हैं, उनका वर्णन भी उसमें मिलेगा, साथ ही उनकी भर्त्सना भी। नवरसों में शृंगाररस प्रधान है, इसलिये ग्रंथ में उसके सब अंगों का वर्णन है, किन्तु कविता की भाषा संयत है। कुछ अत्यंत अश्लील विषयों को छोड़कर शृंगाररस सम्बंधी सब विषय मैंने ले लिये हैं, और सबका वर्णन यथास्थान किया है, केवल इस उद्देश्य से कि जिसमें यह बतलाया जा सके कि जहाँ अश्लीलता कि संभावना हो, वहाँ संयत और गूढ़ भाषा लिखकर किस प्रकार उसका निवारण किया जा सकता है। संभव है कहीं मैं अपने इस उद्देश्य में पूर्णतया सफल न हो सका होऊँ, परंतु ऐसे स्थल की अधिकांश कविताओं को विचार पूर्वक पढ़ने से प्रत्येक सहृदय पुरुषों पर प्रकट हो जावेगा कि मैंने इस विषय में कितना परिश्रम किया है, और कितनी सावधानी से काम लिया है। मैं ऐसे कुछ और विषयों को भी छोड़ सकता था, परंतु ऐसा करने पर मेरे उद्देश्य में व्याघात होता, अतएव मैं उन्हें न छोड़ सका। व्रजभाषा में 'रसविलास' 'रसराज' और जगद्विनोद आदि ऐसे बड़े अपूर्व

'रसग्रंथों' के होते, 'रसकलस' की रचना की कोई आवश्यकता नहीं थी, और न मैं ऐसा करता, यदि इन उद्देश्यों से मैं प्रेरित न होता, और यदि प्राचीन प्रणाली के कवियों की दृष्टि को सामयिकता और देश प्रेम की ओर आकृष्ट करना इष्ट न होता। मैं नहीं कह सकता कि अपने उद्देश्य में मुझको कितनी सफलता मिली, परंतु वास्तविक बात का प्रकट करना आवश्यक था। सहृदय विबुध समाज मेरे कथन को कहाँ तक स्वीकार करेगा, यह समय बतलावेगा।

इस समय हिन्दी संसार के कुछ विद्वानों की शृंगाररस पर बड़ी कड़ी दृष्टि है, संभव है ग्रंथ में कुछ ऐसा स्थान या अंश पाया जावे, जो उन्हें अश्लील ज्ञात हो। ऐसी दशा में उन सज्जनों से मेरा निवेदन यह है कि ग्रंथ के कुछ अंशों अथवा विशेष स्थानों के आधार से उसके विषय में कोई सिद्धान्त निश्चित करना युक्ति-संगत न होगा। ग्रंथ के अधिकांश स्थानों को देखकर ही मेरे उद्देश्य की उचित मीमांसा हो सकेगी। दूसरी बात यह कि अश्लीलता का निर्णय उचित दृष्टि से ही करना पड़ेगा, दोष-प्रदर्शन की दृष्टि से नहीं। आलोचक को न्याय तुला हाथ में रखना चाहिये, और आवेश में न आना चाहिये, अन्यथा सत्य का अपलाप होगा। प्रायः देखा गया है कि एक विद्वान् जिसे अश्लील नहीं मानता, दूसरा उसीको अश्लील मानकर वाद करने के लिये कमर कस लेता है। इसका हेतु रुचिवैचित्र्य अथवा मत-भेद है—जो सर्वत्र दृष्टिगत होता है। दोनों आलोचना-विचार के उत्पादक हैं, किन्तु अविवेक उन्हें उत्पीड़क बना देता है। मैं अश्लीलता के विषय में पहले बहुत कुछ लिख चुका हूँ, इससे इस विषय में यहाँ विशेष लिखना पिष्ट पेषण मात्र होगा। परन्तु इतनी प्रार्थना अवश्य है कि अश्लीलता की मीमांसा के समय अपने पक्ष

को न देखकर दूसरे के पक्ष को भी देखना चाहिये। शरीर में ऐसे अनेक पदार्थ हैं, जो उससे अलग होकर अश्लीलतम बन जाते हैं, परन्तु अपने स्थान पर उनकी उपयोगिता असन्दिग्ध है। मेरे कथन का यह प्रयोजन नहीं कि ग्रंथ के गुण दोष की आलोचना न की जावे, और जहाँ-जहाँ वास्तव में अश्लीलता हो, उससे मुझे अभिज्ञ न किया जावे। प्राय: मनुष्य अपने दोषों के विषय में अंधा होता है, इसलिये यदि बन्द आँखें खोल दी जावें, तो इससे बढ़कर दूसरी कौन कृपालुता होगी? आँखें खुल जाने पर अथवा अपना दोष जान लेने पर मैं सावधान तो हो ही जाऊँगा, दूसरे संस्करण में ग्रंथ के संशोधन की भी चेष्टा करूँगा। इसलिये जिस मार्ग से ऐसे दो महान् कार्य्य हो सकें, उसको रोकने की चेष्टा मैं क्यों करूँगा? केवल विद्वज्जन से इतनी ही प्रार्थना है, कि विचार के समय उचित विवेक दृष्टि से ही काम लिया जावे।

इस ग्रंथ, विशेषकर भूमिका के लिखने में मुझको जितने ग्रंथों से सहायता मिली है, उनकी एक तालिका ग्रंथ में लगा दी गई है। मैं इन सब ग्रंथों के रचयिताओं को हृदय से धन्यवाद देता हूँ, और उनका बहुत बड़ा आभारी हूँ। क्योंकि मेरे ग्रंथ में जो कुछ विभूति है, वह सब उन्हींके विशद ग्रंथों अथवा उन्हींके ग्रंथों से उद्धृत विशेष अंशों का प्रसाद है। मैं क्या और क्या मेरी प्रतिभा, यदि इन ग्रंथों का अवलंबन न होता, तो शायद मैं इस ग्रंथ की रचना में समर्थ न होता। भूमिका में मैंने साहित्यदर्पण और रस-गंगाधर से बहुत अधिक सहायता ली है। साहित्यदर्पण की साहित्याचार्य्य श्रीमान् पं० शालिग्रामशास्त्री विरचित 'विमला' नाम्नी हिन्दी टीका, और श्रीमान् पण्डित पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी के हिन्दी रसगंगाधर से मुझको संस्कृत के वाक्यों और अवतरणों का हिन्दी अनुवाद प्राप्त करने में बहुत बड़ी सहायता मिली है,

मैंने प्राय: यथातथ्य उन्हींके हिन्दी अनुवाद को अपने ग्रंथ में रख दिया है, अतएव मैं इस विषय में उन दोनों सज्जनों का विशेष ऋणी हूँ। मैंने रसों अथवा संचारी भावादि के लक्षण स्वयं लिखे हैं, किन्तु कहीं-कहीं किसी-किसी ग्रंथ के लक्षणों को ही उत्तम समझकर अपने ग्रंथ में उठा दिया है, मैं इसके लिये उन ग्रंथों के रचयिताओं का भी कम उपकार नहीं मानता।

अयोध्यासिंह उपाध्याय

२—८—३१

विषय सूची

विषय	पृष्ठ

रस-कलस

मंगलाचरण

मनहरण

कुंठित-कपालन की कालिमा कलित होति
अवलोके सुललित लालिमा पदन को।
सुन्दर-सिन्दूर-मंजु-गात सुख-बितरत
दरत दुरित-पुंज दिव्यता रदन की॥
'हरिऔध' सकल-अमंगल बिदलि देति
मंगल-कलित-कान्ति मंगल-सदन को।
संकट-समूह-सिंधु-सिंधुता बिलोपिनी है
वंदनीय-सिंधुरता सिंधुर-वदन की॥ १॥

तुरत तिरोहित अपार-उर-तम होत
पग-नख-तारक-प्रसूत-जोति परसे।
रुचिर-विचार मंजु-सालि बहु-बिलसत
जन-अनुकूलता विपुल-वारि बरसे॥
'हरिऔध' सब-रस-बलित बनत चित
दयावान-मन के सनेह-साथ सरसे।
सकल-अभाव, भाव, भूति भव-भूति होति
भारती-विभूति भूति-मान मुख दरसे॥ २॥

सुकवि-समूह-मंजु-साधना-विहीन जन
लोक-समाराधना को साज कैसे सजिहै ।
विभु की विभूति ते विभूति-मान बनि-बनि
भाव-साथ कूर क्यों सुभावना को भजिहै ॥
'हरिऔध' असरस-उर क्यों सरस ह्वै है
कैसे अरुचिरता अचारु-रुचि तजिहै ।
मेरी-मति-बीन तो मधुर-ध्वनि पैहै कहाँ
एरी बीन-वारी जो न तेरी बीन बजिहै ॥ ३ ॥

बचन-विलास ते न जाको मन बिलसत
छहरत-छवि ते न जाकी मति छरी है ।
विविध-रसन ते न जाको चित सरसत
रुचि की रुचिरता न जाहि रुचि-करी है ॥
'हरिऔध'-भारती न भूलिहूं लुभैहै ताहि
जाके उर माँहिं भारतीयता न अरी है ।
वैभव मैं जाके है अभाव मंजु-भावन को
भावुकता नाँहिं जाकी भावना मैं भरी है ॥ ४ ॥

कोकिल की काकली को मान कैसे कैहै काक
भील कैसे मंजु मुकतावलि को पोहैगो ।
कैसे वर-वारिज विलोकि मोद पैहै भेक
बादुर बिभाकर-विभव कैसे जोहैगो ॥
'हरिऔध' कैसे "रस-कलस" रुचैगो ताहि
जाको उर रुचिर-रसन ते न सोहैगो ।
आँखिन मैंवसत कलंक-अंक ही जो अहै
कोऊ तो मयंक अवलोकि कैसे मोहैगो ॥ ५ ॥

———

स्थायी भाव

स्थायी भाव

जिसकी रस में सदा स्थिति होती है, अथवा रसानुकूल हृदय में जो विकार (भाव) उत्पन्न होता है, उसे स्थायीभाव कहते हैं। उसके निम्न-लिखित नव भेद हैं—

१—रति, २—हास, ३—शोक, ४—क्रोध, ५—उत्साह, ६—भय, ७—ग्लानि ८—आश्चर्य, और ९—निर्वेद।

१—रति

प्रिय वस्तु में मन की प्रेमपूर्ण-परायणता का नाम 'रति' है। इसके तीन भेद हैं—उत्तम, मध्यम और अधम।

(क) उत्तम रति

सदा एक-रस रहनेवाली अनन्य प्रीति को 'उत्तम रति' कहते हैं। यह अधिकांश स्वार्थशून्य होती है। इसमें सेव्य-सेवक-भाव की प्रधानता है।

कवित्त—

नैन मैं मधुरता मनोहरता भावन मैं
चावन मैं चारुता-विकास दरसत है।
जानति न रीति अनरीति औ अनीति की है
पूत-परतीति रोम-रोम परसत है॥
'हरिऔध' पति-प्रीति-पाग-पगी-अंगना के
भाग-भरे-भाल पै सुहाग बरसत है।
देह मैं स-देह बिलसति सुकुमारता है
नेह-भरे-उर मैं सनेह सरसत है॥ १॥

चन्द्-मुख की ही बनी रहति चकोरिका है
सरस-सनेह-स्वाति-बूंद की है चातकी ।
प्यारो तन कारो करि राखति नयन-तारो
वारति गोराई वा पै गोरे-गोरे गात की ॥
'हरिऔध' औगुनी को औगुन हूँ गुन होत
देति है कुबात हूँ को उपमा नबात की ।
पात लौं हिलति पवि-पात सिर पै है होत
पातक-निरत-पतिहूँ को कहे पातकी ॥ २ ॥

वंदनीय-बिरद् विलोकि पुलकति बाल
पावन-विचार की प्ररोचना मैं बोरी है ।
विमल-विवेक की विमलता बखानति है
कीरति-कलित-रस कनक-कमोरी है ॥
'हरिऔध' गौरव निहारि गौरवित होति
गुन-गन-गान ते गरीयसी न थोरी है ।
चावमयी पिय-चाव-स्वाति-जल-चातकी है
रुचिर-चरित-चारु-चन्द की चकोरी है ॥ ३ ॥

भाग भोग-राग ते सोहाग को सराहति है
सजिकै सहज साज बनति सजीली है ।
फूल ते फबति न फबति कनफूल ते है
मन की फबन ही ते फबति फबीली है ॥
'हरिऔध' भावमयी भाव-सिन्धु-इन्दिरा है
माधव-मधुर-छबि छकित छबीली है ।
रौरव गनति है अगौरव-दरब काँहि
पति-प्रेम-गौरव-गरब-गरबीली है ॥ ४ ॥

सवैया—

पौर परोसिनी पै पति को सुन प्यार पगी कबौं टोकत नाहीं।
भीतर भौन अलीनहूँ मैं परे कामहूँ के कछु ठोकत नाहीं॥
रोस किये 'हरिऔध' के बाल वे बैन सुधा-सने रोकत नाहीं।
लाज-भरी अँखियान उठाइ मयंकहूँ को अवलोकत नाहीं॥५॥

(ख) मध्यम रति

अकारण परस्पर प्रीति को 'मध्यम रति' कहते हैं। इसमें मैत्रीभाव की प्रधानता होती है। इसका स्वार्थ तरल और एकदेशीय होता है।

कवित्त—

दोऊ दुहूँ चाहैं दोऊ दुहुँन सराहैं सदा
दोऊ रहैं लोलुप दुहूँन छवि न्यारी के।
एकै भये रहैं नैन-मन-प्रान दोहुँन के
रसिक बनेई रहैं दोऊ रस-क्यारी के॥
'हरिऔध' केवल दिखात द्वै सरीर ही है
नातो भाव दीखै हैं महेस-गिरिवारी के।
प्रानप्यारे चित मैं निवास प्रानप्यारी रखै
प्रानप्यारो बसत हिये मैं प्रानप्यारी के॥ ६॥

सवैया—

चूमत पी को कपोल तिया तिय को पियहूँ अधरा-रस चाखै।
अंक गहै 'हरिऔध' को कामिनि पी नवला को भुजा भरि भाखै॥
आपने जीवन-प्रान-समान लला को लली करिबो अभिलाखै।
लालहूँ नेहमयी-नव-बाल को आँखिन की पुतरी करि राखै॥७॥

(ग) अधम रति

जिस प्रीति में स्वार्थ की प्रधानता होती है, उसे 'अधम रति' कहते हैं। सांसारिक व्यवहार में यही प्रीति अधिकतर सर्वत्र दृष्टिगत होती है।

कवित्त—

काके बाल बाल लोक-कालिमा-निकेतन हैं
काके मंद-भाल पै कलंक-अंक आँके हैं।
काकी केलि सकल-प्रवंचना-सहेलिका है
काके हाव-भाव पाप-पंथ के पताके हैं॥
'हरिऔध' बार-बनिता-सो को विलासिनी है
छल-छन्द-छुरे काके अंग छवि-छाके हैं।
गरल-भरित काके बयन-सलोने अहैं
लोने-लोने-नयन लहू मैं सने काके हैं॥ ८॥

उबरि उबरिहूँ न उबरि सकत कोऊ
बार-बार बारिधि-विपत्ति माँहिं बोरै है।
सुधा-सने-बैन कहि कबहूँ निहोरति है
तेह करि नेह के तगा को कबौं तोरै है॥
कबहूँ चुरैल की चची बनि चिचोरति है
कबौं चाव चौगुनो दिखाइ चित चोरै है।
रंच न सकाति कै अकिंचन कुबेरहूँ को
कंचन-से तन काँहिं कंचनी निचोरै है॥ ९॥

सवैया—

बैन बिचारि बिनै सों कहै तबहूँ पत बापुरे को न बची रहै।
ताकि सकै नहिं सौहैं पिया तऊ त्योर चढ़े रहैं तेह-तची रहै॥
जो उचटावन मैं 'हरिऔध' चुरैलहूँ की बनी खासी चची रहै।
रोस रहै रस की बतियाहुँ मैं प्यारहूँ मैं महा रार मची रहै॥१०॥

२—हास

विचित्र वचन-चातुरी अथवा विनोदपूर्ण रूप-रचना के प्रभाव से आनन्दयुक्त मनोविकार को 'हास' कहते हैं।

कवित्त—

बिना पूँछ बानर बनाइ मत पीछूँ परै
पूछत न बात तो पकरि न पछारि दै।
कारो हौं कुरूप हौं मैं तू तो रूप-वारी अहै
चूमन न देत तो कबौं तो चुमकारि दै॥
'हरिऔध' सूधो कहा साधहूँ रखत नाहिं
तू तो सुधरी है मेरी बिगरी सुधारि दै।
घरी-घरी घूरन चहत घरवारो तोहि
एरी घरवारी नेक घूँघट उघारि दै॥ १॥

नेक ही नजर बदले पै ना परत कल
कौन कहै ताको होत हाल भिरके पै जौन।
हुकुम के मारे सदा नाक मैं रहत दम
आनन बिलोकतही होत दिन-रैन गौन॥
'हरिऔध' एतेहूँ पै बचत न क्योंहूँ प्रान
मुख ते कढ़त याते नहिं रहि जात मौन।
मरद बिचारो जाते हारो सो रहत होस
ऐसी सबला को काहें अबला कहत कौन॥ २॥

कैसे तो न तुपक निहारि आँखि तोपि लेहिं
बार-बार छाती जो छुरी के छुए धरके।
कैसे उतपात नाम ही ते ना सकात रहैं
थर-थर गात काँपि जात पात खरके॥

'हरिऔध' कहै कैसे कबौं अरि सौहैं होहिं
जात हैं रसातल जो पाँव ही के सरके ।
कैसे डरें दौरि कै न द्वार के किवारे देहिं
का करैं बिचारे हैं दुलारे बीरबर के ॥ ३ ॥

सरिता-सलिल है बहत कल-कल नाहिं
खिलखिल हँसि है हुलास पगो हुलसत ।
दारिम-फलन दन्त-राजि है निकसि लसी
खोलि मुँह विकच-सुमन-वृन्द सरसत ॥
'हरिऔध' हेरि-हेरि राका रजनी को हास
मुदित-दिगन्त है विकास-भरो बिलसत ।
हँसि-हँसि लोटि-लोटि जात चारु-चाँदनी है
मंजुल-मयंक अहै मंद-मंद बिहँसत ॥ ४ ॥

सवैया—

हौं मन को, मन ही को मनाइहौं मानिहौं बात नहीं बहसी की ।
ना रहिहौं कस मैं कबौं काहु के कान न कैहौं कही अकसी की ॥
लोक को लाज ते काज कहा जब लाज रही 'हरिऔध' न सी की ।
है हँसी होति तो होति हँसी रहै है न हमैं परवाह हँसी की ॥५॥

दोहा—

सुछबि छई छिति-तल-जयी विजयी छितिप समान ।
है बसुधा को मोहती सुधामयी मुसुकान ॥ ६ ॥
बिसराये बिसरति नहीं मोहति तन-मन-प्रान ।
जन-मन-नयनन में बसी मनमोहन मुसुकान ॥ ७ ॥

[हसन—क्रिया के छ भेद]

उत्तम—स्मित और हसित
मध्यम—विहसित और उपहसित
अधम—अपहसित और अतिहसित

(क) स्मित

जब नेत्रों व कपोलों पर कुछ विकास हो और अधर आरंजित, तब 'स्मित' होता है; इसमें दाँत नहीं निकलते। आश्रय-स्थान गंभीर और शिष्ट-जन-मुख-मण्डल।

सवैया—

अनखान भरे सब सौतिन के उर मैं बिख-धार बहावति-सी।
तम-पूरे अनेहिन के हिय-भौन मैं चाँदनी-चारु उगावति-सी॥
रसिया 'हरिऔध' के अन्तर मैं रस की सुभ-सोत लसावति-सी।
मुसुकावति आवति है ललना अँखियान सुधा बरसावति-सी॥८॥

दोहा—

अहै बनावति रस बरसि मानस को मधु-मान।
बिकसित ललित-कपोल करि अधर-बसी-मुसुकान॥९॥

(ख) हसित

यदि नेत्र और कपोलों के विकास के साथ दाँत भी दिखलाई पड़ें तो वह 'हसित' होता है। इसका आविर्भाव भी प्रायः गंभीर और शिष्ट मुखमण्डल पर ही देखा जाता है।

दोहा—

दरसावति दमकत-दसन लालहिं करति निहाल।
हँसि बरसावति है सुधा बरसाने की बाल॥१०॥

(ग) *विहसित*

नेत्र और कपोलों के विकास के साथ, दाँत दिखलाते हुए, जब आरंजित मुख से कुछ मधुर शब्द भी निकलें, तब 'विहसित' होता है ।

दोहा—

हँसी मंजु-मुख मोरि कै किलकी बनी ललाम ।
बदन-राग-रंजित भई रागमयी वर बाम ॥ ११ ॥

(घ) *उपहसित*

विहसित के लक्षणों के साथ जब सिर और कंधे कँपने लगते हैं, नाक फूल जाती है, तिरछे ताका जाता है, तब 'उपहसित' होता है ।

दोहा—

तिरछी अँखियन ते चितै चित चोरति चलि चाल ।
खिलि-खिलि आनन खोलिकै खिलखिलाति है बाल ॥१२॥

(ङ) *अपहसित*

आँसू टपकाते हुए उद्धत हास को 'अपहसित' कहते हैं ।

दोहा—

बहु हँसि-हँसि-हाँसी करति कहति रसीले बैन ।
सिर हिलि-हिलि सरसत रहत मोती बरसत नैन ॥१३॥

(च) *अतिहसित*

आँसू बहाते हुए ताली देकर ऊँचे स्वर से ठठाकर हँसने को 'अतिहसित' कहते हैं ।

दोहा—

तिय तारी दै-दै हँसति हिलति लता लौं जाति ।
पुलक-बारि लोयन भरे पुलकित विपुल लखाति ॥१४॥

३—शोक

हित की हानि अथवा इष्ट-नाश किम्बा प्रिय पदार्थ की अप्राप्ति से हृदय में जो दुःख होता है, उसका नाम 'शोक' है ।

कवित्त—

छन-छन छीजत न देखहिं समाज-तन
हेरहिं न विधवा छ टूक होत छतियान ।
जाति को पतन अवलोकहिं न आकुल ह्वै
भूलि ना बिलोकहिं कलंकी होत कुल-मान ॥
'हरिऔध' छिनत लखहिं ना सलोने लाल
लुटत निहारहिं न लोनी-लोनी ललनान ।
खोले कछु खुलीं पै कहाँ हैं ठीक-ठीक खुलीं
अधखुली अजौं हैं हमारी खुली अँखियान ॥ १ ॥

काहू की ठगौरी परे ठग ह्वै गये हैं सग
बन गये परम विमुख मुख कौर कौर ।
जाति को है ठोकर पै ठोकर लगति जाति
काठ सी कठोरता पुकारति है और-और ॥
'हरिऔध' करत कठिन ठकठेनो काल
ठुकराई ठकुराइनें हैं ठाढ़ी पौर-पौर ।
है न वह ठाट वह ठसक न वह टेक
ठिटके दिखात ठूंठे ठाकुर हैं ठौर-ठौर ॥ २ ॥

तावा के समान है तपत-उर-तापवारो
गरम हमारो लोहू सियरो भयो नहीं ।
पीर लहि मुख पियरानो पीर वारन को
बदन दिखात तबौं पियरो भयो नहीं ॥

'हरिऔध' जोहि-जोहि निरजीव जीवन कौ
जीवन-विहीन-मीन जियरो भयो नहीं ।
जाति टूक-टूक भई टूकौ ना मिलत माँगे
टूक-टूक तऊ हाय हियरो भयो नहीं ॥ ३ ॥

नाविक जो नाविकता-नियम बिसारि दैहै
बनि बीर बीरता बिरद जो न बरिहै ।
नाव को सवार ही जो कै है छेद नाव माँहिं
सकल-बचाव के उपाव ते जो अरिहै ।
'हरिऔध' बहि-बहि प्रबल विरोध-वायु
बार-बार पथ जो उबार को बिगरिहै ।
कैसे जाति-उपकार-पोत मँझधार परो
आपदा-अपार-पारावार पार करिहै ॥ ४ ॥

मर्मवेध

मुनिन-सरोज को दिनेस अथयो अकाल
गुनिन-कुमुद-चन्द राहु-मुख परिगो ।
'हरिऔध' ज्ञानिन को चिन्तामनि चूर भयो
मानिन-प्रदीप हूँ को तेज सब हरिगो ॥
पारस हेराइ गयो हीन-जन-हाथन कौ
भारती को प्यारो एकलौतो तात मरिगो ।
सागर सुखानो आज संतजन-मीनन कौ
दीनन को हाय देव-पादप उखरिगो ॥ ५ ॥

सवैया—

बातैं सरोस कबौं कहिकै हित सों कबहूँ समझाइबो तेरो ।
मेरे घने अपराधन को बहु ब्योंत बनाइ दुराइबो तेरो ॥

कोह किये कपटी 'हरिऔध' के रंचक हूँ न रिसाइबो तेरो।
मारिबो पी को न सालत है पर सालत सौत बचाइबो तेरो ॥६॥

दोहा—

खोले ना अँखिया खुलति बनि दुखिया है मूक।
होति बिपति बतिया सुने छतिया नाहिं छ टूक ॥ ७ ॥
दिन-दिन छीजत जाति है रही न पति छिति माहिं।
रेजो-रेजो होत है कठिन करेजो नाहिं ॥ ८ ॥

४—क्रोध

शत्रु के अपमान, आग्रह और दंभ से उत्पन्न हुए हर्ष के प्रतिकूल मानसिक भाव को 'क्रोध' कहते हैं। हृदय के प्रिय और अनुकूल भावों पर आघात होने से भी 'क्रोध' का प्रादुर्भाव होता है।

कवित्त—

जैहै जो बिगरि तो पकरि कै रगरि दैहौं
देखि अनखैहै तो अनख बनि जैहौं मैं।
सूधे जो न बोलिहै तो ठोंकि-ठोंकि सूधो कैहौं
बात जो बनाइहै तो लातहूँ लगैहौं मैं ॥
'हरिऔध' ऐंठिहै तो ऐंठिबो रहैगो नाहिं
दाँत पीसिहै तो दौरि दाँत तोरि दैहौं मैं।
आँख फोरि डारिहौं दिखाइहै जो आँख मोहि
कोऊ आँखि काढ़िहै तो आँखि काढ़ि लैहौं मैं ॥ १ ॥

रोस भये अरि को मसक-सम मीसि दैहै
रार मचे सूर-साधना को ना सरेखिहै।

भीर परे भीरुता न भरिहै रगन माँहि
लाग लगे पवि को पतौआ सम लेखिहै।
'हरिऔध' अरे ह्वैहै अचल हिमाचल लौं
भिरे पुरहूत को पतंगम लौं पेखिहै।
लोहा लिये कालहूँ के काल ते सकैहै नाँहि
लाल-लाल आँखि कोऊ लाल कैसे देखिहै ॥ २ ॥

मनमानी किये कबौं मानिहौं मनाये नाँहि
बड़े-बड़े मानिन को मान मोरि देहौं मैं।
प्रतिकूल परम-प्रबल-दल-पोत काँहि
निज बल-बारिधि मैं बोरि-बोरि देहौं मैं ॥
'हरिऔध' गारिहौं गरब मगरूरिन को
बड़े दगादार को तगा लौं तोरि देहौं मैं।
गाल मारिहै तो अरि-गाल फारि मोद पैहौं
आँख दिखराइहै तो आँख फोरि देहौं मैं ॥ ३ ॥

आग बरसाइहौं अरिन के अगारन मैं
गरल सुधारस-सरोवर मैं घोरिहौं।
बाँके-बाँके बीरन की बीरता बिगारि दैहौं
छिति के छितिप की छितिपता को छोरिहौं ॥
'हरिऔध' तेह भये पूरिहौं पयोनिधि को
बड़े-बड़े तरु को तिनूका सम तोरिहौं।
फोरिहौं गिरिन को उतारि लैहौं तारन को
रवि को बिथोरि दैहौं ससि को निचोरिहौं ॥ ४ ॥

सवैया—

सूधियै नीकी लगै सबको भला बंकता भौंहन को कत दीजत।
नूतन लालिमा लाभ किये कत गोल कपोल की है छबि छीजत ॥

चूक परी न चलै 'हरिऔध' पै नाहक ही इतनो कत खोजत।
बाल हौं योंहीं निहाल भई अब लाल कहा अँखियान को कीजत ॥५॥

दोहा—

चिनगी लाइ चितै-चितै हरहिं चारु चित-चैन।
दहत नेह की देह हैं तेह-तये तिय-नैन ॥ ६ ॥
रिसहूँ मैं सरसत रहत बरबस बनत रसाल।
ललना-लोचन लाल ह्वै लालहिं करत निहाल ॥ ७ ॥

९—उत्साह

शूरता, दान और दया से उत्पन्न हुई प्रबल इच्छा के आविर्भाव को 'उत्साह' कहते हैं। बल, विद्या, प्रताप, दयालुता, दान-सामर्थ्य, कार्य-कारिणी शक्ति, और धर्म-उद्रेक—इसके आधार हैं।

कवित्त—

जागि-जागि केहूँ जे न जागहिं जगाइ तिन्हैं
सूखी-धमनीन मैं रुधिर-धार भरिहौं।
सुधरि सुधारि कै समाजहिं उधारि लैहौं
परम-अधीरता निवारि धीर धरिहौं॥
'हरिऔध' उबरि उबारि बरिहौं विभूति
बीरता अबीरता अवनि मैं बितरिहौं।
धोइ दैहौं कुजन-मयंक को कुअंक-पंक
जाति-भाल-अंक को कलंक सब हरिहौं ॥ १ ॥

बास-हीन बिरस असंयत सनेह काहिं
बासवारे-सुमन-सुबास से बसैहौं मैं।

सकल-सुपास सुख-संचन कसौटिन पै
रंच न सकैहौं चाव-कंचन कसैहौं मैं ॥
'हरिऔध' जाति-हित करि हारिहौं ना कबौं
बैर-धूरि काहिं बारि-पात ह्वै नसैहौं मैं ।
विविध विरोध-बारिनिधि-बारि को सुधारि
बारिधर की-सी बारिधारा बरसैहौं मैं ॥ २ ॥

पीछे जो हटैंगे तो पगन काँहिं पंगु कैहौं
कर जो कँपैंगे तो करन को कटैहौं मैं ।
छिलि जैहै जो न जाति-उर के छतन ते तो
छल-धाम-छाती काँहिं छलनी बनैहौं मैं ॥
'हरिऔध' जो न कढ़ि पैहैं चिनगारियाँ तो
लोचनता लोचनन केरि छीनि लैहौं मैं ।
भीति ते भरैगो तो रहैगो भेजो भेजो नाहिं
काँपिहै करेजो तो करेजो काढ़ि देहौं मैं ॥ ३ ॥

सवैया—

पारि सकौं अपने परपंच की बेरी परीन हूँ के बर पायन ।
आनि सकौं ससिहूँ की कला अपने कल कौसल और उपायन ॥
कामिनि कौन तिहूँ पुर में 'हरिऔध' हौं जाको सकौं अपनाय न।
आन तियान की बात कहा ठगि लाऊँ कहो दिवि की ठकुरायन।४।

दोहा—

छ्वै उछाह-कर बनत है मरु-छिति छबि-मय-कुंज ।
कनक कनकता लहत है रजत होत रज-पुंज ॥ ५ ॥
उर उमगे उधरति धरा नभ विचरत नभ-यान ।
नख पै ते गिरि नहिं गिरत जल पै तिरत पखान ॥ ६ ॥

६—भय

अपराध, भयंकर-शब्द, विकृत-चेष्टा और रौद्रमूर्ति जीवादि द्वारा जो मनोविकार उत्पन्न होता है, उसका नाम 'भय' है ।

कवित्त—

संका की चुरैल है बनावति दुचित-चित
भूत-अभिभूत-भाव उर को गयो नहीं ।
भूरि-भीरुता है होति भीति-अनुभूति ही ते
भरि जात जी मैं कब भभर नयो नहीं ॥
'हरिऔध' पात खरकत है कँपत गात
कब छिति माँहिं छोभ रहत छयो नहीं ।
उभय-नयन माँहिं भय अजहूँ है भरो
सभय हमारो मन, अभय भयो नहीं ॥ १ ॥

काको चार बाँह हैं बड़ो है बलवान कौन
का न हमैं बीरता-विभूति को सहारो है ।
काहें फिर अरि अवलोकत बजत दाँत
काहें भूत-अभिभूत होत भाव सारो है ॥
'हरिऔध' काहें रोम–रोम है भभर भरो
काहें भीति-पूरित बिलोचन को तारो है ।
धरकत उर काहें खरकत पात ही के
थर–थर काहें गात काँपत हमारो है ॥ २ ॥

सवैया—

हाँस भरी गगरीन भरे हौं चली हरुये 'हरिऔधहिं' हेरी ।
बावरो बानर औचक आइ गह्यो अँचरा मग मैं अरि एरी ॥
काँपि उठी भभरी चली भाजि हौं टूटी गिरे गगरी सिर केरी ।
बीर अजौं बतिया न कढ़ै धरकी छतिया रतिया भर मेरी ॥३॥

दोहा—

है न देस-हित भय भरो है न भयावह बात ।
उभरि-उभरि कत चित्त तू भभरि-भभरि भजि जात ॥ ४ ॥
भव-जन-मानस भय भरे क्यों न भभरि भहराहिं ।
है न भूत-भावन-भजन भूत-भावना माँहिं ॥ ५ ॥

७—जुगुप्सा

किसी अपराध के हृदय में उदय होने, किसी दोष के स्मरण करने घृणित वस्तु के देखने, छूने और किसी नारकीय जन की बातों के सुनने से जो मनोविकार उत्पन्न होता है, उसे 'ग्लानि' अथवा 'जुगुप्सा' कहते हैं।

कवित्त—

चेरो हौं न तेरो, तेरो मोलहूँ लियो हौं नाहिं
तानिहै हमैं तो हौं तिगूनो तोहि तानिहौं ।
नीचपन कैहै तो नचैहौं तोको नाना नाच
साँच तजे काँच इतनो ना सनमानिहौं ॥
'हरिऔध' बदि-बदि बाद जो बढ़ैहै मोसों
बादी के समान तोको बद तो बखानिहौं ।
मान करिहौं ना, मान कीनेहूँ मनैहौं नाहिं
एरे मन तेरी मनमानी मैं न मानिहौं ॥ १ ॥

चित की अबलता अबलता रही तो कबौं
कैसे जर सबल सबलता की खनि है ।
ताब हीन तन जो बनैगो ताबवारो नाहिं
कैसे तो न तमकि तमकवारो तनिहै ॥

'हरिऔध' कैसे जाति धसिहै धरा मैं नाहिं
मानस-अधीर जो न धीरता मैं सनिहै ।
कैसे दूरि ह्वैहै बैरि-बिविध-विरोध-धूरि
आँसुन की धारा बारि-धारा जो न बनिहै ॥ २ ॥

पंच बनि बधिक-विपंची के करत काम
कब परपंची ह्वै प्रपंच मैं फँसे नहीं ।
बोरि-बोरि बारि मैं तगा के सम तोरि-तोरि
छोरि-छोरि बंधन गये कब कसे नहीं ॥
'हरिऔध' मुख-लाली रखत न लाली रखि
कब भाल-अंक के कलंक सों लसे नहीं ।
धीरता रही न डूबी धरम-धुरीनता है
उधरी धरा न पै धरा में तो धँसे नहीं ॥३॥

कहा दुख पावै पछतावै अकुलावै महा
नैनन ते नीर कौन काज ढारियत है ।
स्रौन-से सपूत के नसे ते कौन प्रान राखै
याते ऐसी इनकी दसा निहारियत है ॥
'हरिऔध' भली भई जो पै अंध दियो शाप
पापिन के ऐसे ही प्रमाद टारियत है ।
तू तो इतनाहूँ ना विचार्‌यो मन एरे मूढ़
तीरथ के तीर काहू तीर मारियत है ॥ ४ ॥

दोहा—

कैसे करुनाकर कहँहि करहु कृपा की कोर ।
चित आकुल ह्वै जात है चितवत अपनी ओर ॥ ५ ॥
पावन चित में बहत है परम-अपावन सोत ।
कैसे मुख सौंहैं करहिं मुख सौंहैं नहिं होत ॥ ६ ॥

८—आश्चर्य

विस्मयजनक पदार्थों के देखने, अलौकिक सामर्थ्य-सम्पन्न विभूतियों के अवलोकन करने, अथवा उनका वर्णन सुनने वा उन्हें स्मरण करने से जो मनोविकार उत्पन्न होता है, उसका नाम 'आश्चर्य' है।

कवित्त—

गगन के न्यारे न्यारे तारन कतार देखे
करत कलोल देखे मीनन को जल मैं।
रतन-अमोल अवलोके रतनाकर मैं
जगमग जोति देखे जगत अनल मैं॥
'हरिऔध' काको चित चकित बनत नाहिं
लाल लाल फूल देखे हरे-हरे दल मैं।
घहरत कारे-कारे घन की घटा निहारि
छहरत छाई छटा देखे छिति-तल मैं॥ १॥

विपुल-विनोद सों कढ़े हैं दन्त दारिम के
विहँसि रही है चाँदनीहूँ निसिकन्त की।
कल-कंठ कौसल सों करत मधुर-गान
थिरक रही है कला मदन-महन्त की॥
तेरी ही अनूठी-छटा हेरि 'हरिऔध' प्यारे
कलित-कलीन को ठनी है बिकसन्त की।
भौंर-भीर भाँवरैं भरत उनमत्त ह्वै कै
फूली आज मंजु-फुलवारी है बसन्त की॥ २॥

तेरी ही कला ते कलानिधि है कला-निधान
है सकेलि तेरी केलि कलित-पतंग मैं।

गुरु-गिरि-गन हैं तिहारी गुरुता के लहे
पावन-प्रसंग है तिहारो पूत-संग मैं ॥
'हरिऔध' तेरी हरियाली ते हरे हैं तरु
तूही हरि बिहर रह्यो है हर अंग में ।
तेरो रंग ही है रंग-रंग के प्रसूनन मैं
तूही है तरंगित तरंगिनी-तरंग मैं ॥ ३ ॥

भव-बारि-बाह-ब्यूह-बूंद-सी वसुन्धरा है
नाना-वायु नाना-वायु-मंडल सहारे हैं ।
आकर-अनन्त हैं अनन्त हैं निसाकरहूँ
रस-रासि-रस ते सरस रस-सारे हैं ॥
'हरिऔध' मिल्यो ना अपार-पारावार-पार
सीमित असीम की असीमता ते हारे हैं ।
प्रभु-मंजु-तेज को विकास है पतंग-पुंज
विभु-तनु-तोयधि-तरंग नभ-तारे हैं ॥ ४ ॥

सवैया—

मंद ही मंद सुगौन कै सूरज चंद ह्वै मौन तुमैं निरधारैं ।
कानन को तृणहूँ सदा साँवरे तोको अनन्त अचिन्त उचारै ॥
छीर-पयोधिहूँ 'औध-हरी' मरजाद सों तोको गभीर पुकारै ।
सीतल या मलयानिलहूँ अवनी-तल तेरो प्रताप पसारै ॥ ५ ॥

दोहा—

देखत ही कितनो गुनो लोचन तिल ह्वै जात ।
कैसे नभ तारन-सहित तारन माँहिं समात ॥ ६ ॥
सरसित मानस में बहे सरस प्रेम-रस सोत ।
गागर मैं सागर भरत गागर सागर होत ॥ ७ ॥

९—निर्वेद (शम)

विशेष ज्ञान द्वारा सांसारिक विषयों में विराग—क्षणभंगुर पदार्थों को देखकर हृदय में त्याग का विकास—होने से जो एक प्रकार का मनोविकार उत्पन्न होता है, उसका नाम 'निर्वेद' है।

कवित्त—

कुसुमाकर सदा ना बनत कुसुमाकर है
बारिद सदैव वारिधारा ना बहत हैं।
सब दिन ललित दिखात नाहिं लोनी-लता
लहलहे तरु ना सदैव उलहत हैं॥
'हरिऔध' कौन काल-कवलित होत नाहिं
सदा कल-नाद कल-नादी ना लहत हैं।
फली-फूली बेली फूली-फली ही लखात नाहिं
फूले-फूले फूलहूँ न फूले हीं रहत हैं॥ १॥

गारी दै-दै गजब गुजारत गरीबन पै
ऐसो मन गौरव गुमान गरस्यो परै।
लोभ बढ़े पूजित पिता औ प्यारे तात हूँ को
प्रान लेत तनकौ न प्रीति परस्यो परै॥
सरबस और को हरत 'हरिऔध' भाखै
सदा उर सौगुनो सनेह सरस्यो परै।
जीवन अदीरघ भयेहूँ देखो देहिन मैं
कैसो दीह-दुसह-दिमाग दरस्यो परै॥ २॥

दौरि-दौरि दीनता दिखावत दिमागिन को
दीह-दुख होत है दया-निधि के टेरे मैं।
आपनी भलाई को भरोसो भूतभैरव सों
तेरो भाव होत भूत-भावन न मेरे मैं॥

'हरिऔध' तीनों लोक प्रकट-प्रताप तऊ
कैसहूँ न पूरन-प्रतीति होति तेरे मैं।
सूरज उगेहूँ तम बूझत चहूँघा नाथ
सूझत न मोको आँखि आछत उँजेरे मैं ॥ ३ ॥

माधुरी परी है मंद कमनीय-कन्दहूँ की
मिसिरीहूँ बिसरि गई ना रही काम की।
सूखो ऊख निपट निकाम ह्वै गयो मयूख
गरिमा नसी है आमहूँ-से रस-धाम की ॥
'हरिऔध' दाख फूटी आँख सों न देखी जाति
गोरसहूँ गुरुता गँवाई गुन-ग्राम की।
चीनी बसुधा मैं ह्वै गई है औगुनी तो कहा
सौगुनी सुधा सों है मिठाई हरि-नाम की ॥ ४ ॥

पाहन भये पै चाहैं पद-रज प्रेमिन कौ
बिहग भये पै बसैं बंदनीय-बन मैं।
फल-फूल परसै पगन पादपादि भये
पसु भये पावैं थान संतन-सदन मैं ॥
'हरिऔध' कीट भये काहू भाँति भावैं तोहि
नर भये तेरो पूत-प्रेम रमै मन मैं।
जाने कहा योग औ जुगुत एक जानैं तोहि
जीवितेस जाइ जौन योनि माँहिं जनमैं ॥ ५ ॥

सवैया—

भूलि कै औरन की सुधि अंध ह्वै जाकी सुगंध पै भौंर लुभानो।
संभु के सीस पै जो बिलस्यो 'हरिऔध' जू जाते सरौ सरसानो ॥
त्यों सुखमा कहि जाको अजौं मनहूँ ना कबीनहूँ को अकुलानो।
सोई सरोरुह धूर भरो परो भू पै गरो बगरो कुम्हिलानो ॥ ६ ॥

दोहा—

धोखो है, काको विभव, है काको यह भौन।
है काको यह धन, धरा, अहै धराधिप कौन ॥ ७ ॥
अरत रहत बिगरत बनत लरत-भिरत करि रार।
कत सोचत नहिं बावरे है जीबो दिन चार ॥ ८ ॥
है घन-छाया ओस-कन है तरु पीरो पात।
तू काहै कितनो अहै कत इतनो इतरात ॥ ९ ॥
धूलि माँहिं रावन मिल्यो गई रसातल लंक।
कहा कलंकित होत कोउ सिर पर लेइ कलंक ॥ १० ॥
का धन का जन का विभव का महि का परिवार।
सपने की संपति अहै सब आहार विहार ॥ ११ ॥

संचारी भाव

संचारी भाव

जो भाव रस के उपयोगी होकर जल के तरंग की भाँति उसमें संचरण करते हैं, उनको 'संचारी भाव' कहते हैं। ऐसे भावों की संख्या तैंतीस हैं। क्रमशः उनका उल्लेख किया जाता है—

१.—निर्वेद

विपत्ति, ईर्षा और ज्ञानादि के कारण अपने शरीर अथवा साँसारिक विषयों में जो विराग भाव उत्पन्न होता है, उसे 'निर्वेद संचारी' कहते हैं। दीनता, चिन्ता, आँसू विवर्णता, उच्छ्वास, आकुलता आदि इसके लक्षण हैं।

कवित्त—

भूलि ना निहारैं पर-नारि ए हमारे नैन
रूखे-बैन भाखन ते रसना भगी रहै।
पर-अपवाद सों न कान हित राखैं कबौं
मान-ममता में मेरी मति ना पगी रहै॥
'हरिऔध' चित ना प्रपंचन सों प्यार राखै
सदाचार-संचन में सुरुचि जगी रहै।
मगन सदा ही रहै मनुआँ हमारो राम
पगन तिहारे मेरी लगन लगी रहै॥ १॥

सवैया—

कारज सीस को होत सबै पद-पंकज की रज को अपनाये।
स्वारथ होत हैं नैन दोऊ छबि साँवरी-सूरत की दिखराये॥
पातकी कान पुनीत बनैं 'हरिऔध' की प्यारी कथान सुनाये।
पावन होति है जीह अपावन भावन सों हरि के गुन गाये॥२॥

पाप ही मैं सब जन्म गयो हित से न कबौं हरि के गुन गाये।
नेह कियो पर-नारिन सों जग-वंचन को बहु बेस बनाये॥
झूठ कह्यो 'हरिऔध' सदा सब काज किये अपने मन भाये।
क्यों अजहूँ नहिं चेतत मूढ़ चिता पर पौढ़न के दिन आये॥३॥

खोट कियो कितनो हित पेट के कूर कमीनन को सँग दीनो।
पीर-सी होन लगी उर जो 'हरिऔध' कहूँ नवला लखि लीनो॥
ताप भयो पर को हित देखत पाप मैं बीति गयो पन तीनो।
ना करनी करनीन कियो कबहूँ करुनाकर याद न कीनो॥ ४॥

दोहा—

मन तू कत भटकत फिरत बिपिन बबूरन माँह।
तजि बहु-फलद मुकुन्द-पद कलित-कलपतरु-छाँह॥ ५॥
कामिनि सुत हित नात सों कहा जुरत जिय जात।
भजन देहिं बल-तात के ए न चरन-जलजात॥ ६॥

२—ग्लानि

मनस्ताप, श्रम, दुःख, क्षोभ आदि से उत्पन्न हृदयजनित विकलता, शिथिलता अथवा असहनशीलता को 'ग्लानि' कहते हैं। इसके लक्षण—कार्य करने में अनुत्साह, घृणा, उपेक्षा, दुर्बलता आदि हैं।

कवित्त—

हहरत हियरो अधिक अधमाई हेरि
हहरन वाको कै जुगुत कौन हरिये।
मेरो बार-बार अहै विविध विकार भरो
होवै क्यों उबार बार-बार क्यों उबरिये॥
'हरिऔध' पातकी है पातक-पयोधि परो
कैसे पाप-पीनता गलानि ते न गरिये।

सौहैं करि कहत रिसौहों अँखियान देखि
सौहैं होत नाहिं कैसे सौहैं मुँह करिये ॥ १ ॥

पामर ह्वै पामरता-पुंज के पयोनिधि ह्वै
प्रकटत रहत प्रभाव पुरहूती के ।
परम अबुध ह्वै विबुधता दिखावत है
कायरह्वै बरत बिरद रजपूती के ॥
'हरिऔध' जाति-भाल-अंक है कलंक भरो
धूत ह्वै कै बसन रखत अवधूती के ।
पूत को है पूत पै अपूत-पाग मैं है पगो
बनत सपूत काम करत कपूती के ॥ २ ॥

सवैया—

मोल है जैसो जवाहिर को यह जानत जौहरी ना बनजारो ।
रीति कुलीन की जानै कुलीन ही ना 'हरिऔध' कवौं चरवारो ॥
क्यों इतनो बिलपै-कलपै जो कियो पहिले अरि कै पतियारो ।
रे मन क्रूर न तोसों कही कब नन्द-कुमार है कामरीवारो ॥३॥

३—शंका

बहुत बड़े अनिष्ट अथवा इष्ट-हानि के विचार को 'शंका संचारी' कहते हैं । इसके लक्षण—विवर्णता, कम्प, स्वरभंग, इधर-उधर दृष्टिपात करना, मुँह सूखना आदि हैं ।

कवित्त—

आँखि जो न खुली तो बिगरि जैहै सारो खेल
खलता सफलता की खाल खिंचवाइहै ।
काल ह्वैहै कलह विवाद विकराल ह्वै है
बिन जैहै बाल-बाल बैर अधिकाइहै ॥

'हरिऔध' जान जो न ऐहै तो अजान जन
जीवन-विहीन जाति-जीवन बनाइहै ।
भरत कुमार भेट ह्वैहैं महा-भारत की
भारत की भूमि भारतीयता गँवाइहै ॥ ४ ॥

सूखतो न बदन बिकंपित न गात होतो
हाथ-पाँव चलतो प्रगति अनुसरती ।
जाति-हित-रत ह्वै बिहित-रुचि-पूत होते
बनति बनाये बात कीरति पसरती ॥
'हरिऔध' चित की न चेतनता दूर होति
परम-अधीर-मति धीर क्यों न धरती ।
भय भूत करतो प्रभूत-अभिभूत नाहिं
शंका की चुरैल जो चुरैलता न करती ॥ ५ ॥

सवैया—

मुख कैसे दिखैहौं सहेलिन को उनकी दिसि कैसे कहो चहिहौं ।
यह सील की बानि हमारी जरौ अब गारी हजारनहूँ सहिहौं ॥
मोहि बेर बड़ी 'हरिऔध' भई कब लौं या निकुंजन मैं रहिहौं ।
कढ़िहौं किमि गैल मैं गोकुल की कोऊ पूछिहै तो हौं कहा कहिहौं?

४—असूया

दूसरे के उत्कर्ष का असहन और उसके हानि पहुँचाने की इच्छा को 'असूया' कहते हैं। दोषकथन, भृकुटिभंग, तिरस्कार और क्रोध आदि इसके साधन हैं।

कवित्त—

कहा भयो जो है मधु-माधव-सनेही महा
का भयो जो सौरभ-समूह-सहचर है ।

का भयो जो परम-रसिक है रसालता को
का भयो जो कामुक सु-कुसुम-निकर है।
'हरिऔध' कहा भयो जो है कल-गान-कारी
का भयो जो पद्मिनी को प्रेमिक-प्रवर है।
तन कारो मन कारो रंग कारो रूप कारो
परम-नकारो यह कारो मधुकर है ॥१॥

होवै काम-कमनीय मोहक मयंक सम
होवै मधु-सरिस मधुरता बितरतो।
साहबी सुरेस-सी धनिकता धनेस की-सी
धर्मराज-जैसो धर्म-भाव होवै धरतो।
'हरिऔध' होय सुरगुरु-सम गौरवित
महिमा त्रिदेव-सी मही मैं होवै भरतो।
माननीय होवै पै अमाननीयता है इती
मानव ह्वै मानवी को मान है न करतो ॥२॥

सवैया—

मंजु मनोहरता कल-कीरति-बेलि सदा अवनी महँ बोतो।
रूप अनूपमता 'हरिऔध' निहारि कोऊ सुख-नींद न सोतो।
साँची कहौं मधुराई लखे मम आननहूँ अपनी पत खोतो।
मानती हौं हूँ तिहारी कही जो मयंक मैं बीर कलंक न होतो ॥३॥

दोहा—

होवैं दल कोमल कलित सब फल भरे पियूख।
हांय फबीले फूलहूँ तऊ रूख है रूख ॥४॥

८—श्रम

अधिक कार्य करने अथवा मार्ग चलने आदि से उत्पन्न शैथिल्य (थकान) का नाम 'श्रम' है। इसके लक्षण—साँस फूलना, नींद आना, पसीना निकलना और आलस्य आदि हैं।

कवित्त—

आँखि मूँदि परे हैं उठाये हूँ उठहिं नाहिं
छाले भरे पग छाँह छोरि-छोरि छके हैं।
दूर है अवास, वास-थल है न बास जोग,
थोरो रह्यो दिन पास रहे नाहिं टके हैं॥
'हरिऔध' होति है सरीर माँहिं पीर घनी
पीरे परे ऐसे मानों पान-दल पके हैं।
कुपथ विपथ की कथानहूँ कहहिं नाँहिं
चले कौन पथ क्यों पथिक ऐसे थके हैं॥१॥

सवैया—

मुख पै श्रम के कन छाये अहैं खुलि गालन पै अलकैं हैं परी।
सिथिलाई भई सब-अंगन मैं कुम्हिलाई लसै मनों फूल-छरी॥
निरखो 'हरिऔध' चहूँघो लखै अलबेली अजौं अलसान-भरी।
मन-मारे सहारे तमालन के बन-बीथिन मैं थकी प्यारे खरी॥२॥

दोहा—

ओस-भरित-तरु-पात लौं सेद सलिल-मय-गात।
बतरावत है विपथ-गत थकित-पथिक की बात॥ ३॥
विधु-बदनी के बदन पै है बिलसत श्रम-बिन्दु।
किधौं सुधा-सीकरन-मय है राका-निसि-इन्दु॥ ४॥

सेद स्रवै कर पग कँपै बनै सिथिल-तन छाम ।
तजत काम वारो नहीं तऊ आपनो काम ॥ ५ ॥
मलिन बनै छिदि भिदि लुचै श्रम-कर ते तन-ग्रन्थ ।
छोरत नहिं पूरो पथिक पंथ रुकेहूँ पंथ ॥ ६ ॥

६—मद

जिसमें मोह के साथ आनन्द का मिश्रण हो, उस दशा को 'मद' कहते हैं, मद-पान इसका साधन है । इसके लक्षण—अनर्गल प्रलाप, अनुचित बर्ताव, आरक्त नयन, मुसकान में विशेष मधुरता, वक्रोक्ति में रमणीयता आदि हैं । किसी-किसी ने मद-संचारी में धन, यौवन, रूपादि के अभिमान (मद) को भी माना है ।

कवित्त—

कंचन-रचित मनि-मंडित-महल-मंजु
दीन-उर-दाह दावानल माँहिं दहिहै ।
त्रिभुवन-पूरित प्रतीति-प्रतिभू-प्रताप
पातक के प्रबल-प्रवाह माँहिं बहिहै ॥
'हरिऔध' वा दिन गिरैगो गिरि गौरव को
जा दिन गरीब की गोहार गरो गहिहै ।
कान मूँदि मूँदि कान करिहै न बात कौ लौं
मद-वारो आँखि मूँदि-मूँदि कौ लौं रहिहै ॥१॥

औरन की आनि को न कैसे सनमान होतो
मोल मति-मानता को ममता न खोती जो ।
लालिमा मलिन कैसे होति लोक-आनन की
कलह-कुबीज मन-कालिमा न बोती जो ॥

'हरिऔध' मेदिनी को मंजुता महान होति
समता गुमान-कदाचार से न रोती जो ।
मानवता-मंदिर को मंजुल-महंत होतो
मानव में मादकता मद की न होती जो ॥ २ ॥

सवैया—

मधुराई मनोहरता मुसुकानि मैं औचक आइ समानी नई ।
रस की बतिआनहूँ मैं 'हरिऔध' अनेक-गुनी निपुनाई ठई ॥
मद छाके छवीली-बिलासन हूँ सुबिलासिता की बर बेलि बई ।
छलकी-सी छटा अँखियान परै छबि आननहूँ पै छगूनी छई॥ ३ ॥

दोहा—

मान राज-मंदिर-रुचिर नहिं मिलतो रज माँहिं ।
ओले-जैसे बरसते जो मद-गोले नाँहिं ॥ ४ ॥
लसित नवल-लतिकान सी बहु-लालसा-उमंग ।
दलित होति किमि, नहिं दलत जो मद-समद-मतंग ॥ ५ ॥
अनुचित उचित विचार करि चित न कौन अकुलात ।
गौरव-गिरि पै होत लखि पल-पल मद-पवि-पात ॥ ६ ॥
जा मैं लसत कुलालसा कला-कलित-सुख-सोम ।
तामस-मानस-गगन–गत-मद है वह तम तोम ॥ ७ ॥
बर-रस-कामुक कहि सकै जाहि न कबौं रसाल ।
अकमनीय-मन-विपिन को है मद वह तरु-ताल ॥ ८ ॥

७–धृति

तत्वज्ञान, साहस, सत्संग आदि के प्रभाव से विपत्ति-काल में अविचलित-चित्त होना 'धृति' कहलाता है । तृप्ति, चित्त की स्थिरता, धीरता, बुद्धि की गहनता—इसके लक्षण हैं ।

कवित्त—

तमके गगन-तल के तारन को तोरि लैहै
उमगे तरंगमान-तोयधि को तरिहै।
उचके चकित कैहै चंद को खेलौना करि
सपरे स-कौतुक तरनि-तेज हरिहै॥
'हरिऔध' कहा धाक बाँधि कर पैहै नाहिं
धीर जो अधीरता विहाइ धीर धरिहै।
लपके कचरि चूर करिहै हिमाचल को
पके पाकसासन को पकरि पछरिहै॥ १॥

तीर-सम-सिसिर-समीर बेधि दैहै नाहिं
मंद-मंद-मलय-पवन पुनि बहिहै।
कारे-कारे-तोयद-कतार दिखरैहैं नाहिं
भाग-नभ हँसत-विमल-विधु लहिहै।
'हरिऔध' आकुल अनाकुल विपुल ह्वै है
दुख-तूल-पुंज को अदुख-दावा दहिहै।
प्रतिकूलता मैं अनुकूलता निवास कैहै
काल पाके काल की करालता न रहिहै॥ २॥

सवैया—

पास परोसिन आइ नितै परतीन की नाना-कथान को जोरैं।
बात चले सखियाँ सिगरी परदेस गये की दिखावत खोरैं॥
नेह रखै 'हरिऔध' नहीं अपनायतहूँ ते सदा मुख मोरैं।
लाला रहै पतिऔ की तबौं पति को पतिनी परतीत न छोरैं॥३॥

है दुख औ सुख दोऊ जहान मैं कोऊ नहीं दुख-ही-दुख पैहै।
बीति गये अँधियारी निसा 'हरिऔध' दिवाकर होत उदै है।

क्यों इतनो मन आतुर होत है औसर पै सब ही बनि जैहै।
पीतम को मुखचंद लखे फिर या दुखिया अँखिया सुख पैहै॥४॥

दोहा—

भये तिरोहित रजनि-तम रंजित गगन दिखात।
पल-पल आकुल ह्वै विपुल तू अलि कत अकुलात॥ ५॥
रहिहै चोरत कब तलक घन तेरो चित-चोर।
चौंकि चौंकि चितवत कहा चारों ओर चकोर॥ ६॥

८—आलस्य

श्रान्ति और जागरणादि-जनित निश्चेष्टता तथा सामर्थ्य होने पर भी उत्साह-हीनता को 'आलस्य' कहते हैं। पड़े रहना, जँभाई लेना, एक जगह बैठे रहना आदि—इसके लक्षण हैं।

कवित्त—

आँखि अवलोकिहूँ सकत अवलोकि नाँहिं
कान चाव साथ बात कान है न करतो।
वचन उचारत विरस रसना है होति
मन है न बहुत उभारेहूँ उभरतो॥
'हरिऔध' आलस रमित रोम-रोम मैं है
उर मैं उमंग है न मंजु भाव भरतो।
हाथ पर हाथ धरे बासर बितीत होत
परि-परि भूतल प पाँव है न परतो॥ १॥

पलक उठति तो न पल मैं पतन होतो
तिल जो तुलत हानि होती क्यों अतुलतो।

चलति चलाये जो न तन–कल काहिली के
कैसे वन जात कान्ति-हीन कान्त–कुल तो
'हरिऔध' होतो जो न आलस लिलार-लिपि
कैसे तो हमारो ना कलंक-अंक घुलतो ।
मुँह जो खुलत तो अभाग खुल खेलतो क्यों
आँख जो खुलति भाग कैसे तो न खुलतो ॥२॥

सवैया—

अरुनाई अकास मैं छाई लखाति दिवाकर हूँ निकरोई चहै ।
'हरिऔध' गुलाब-कलीहूँ खिली सुखदाइनि-सीरी-बयार वहै ।
परी सेज कहा अँगिरात जम्हात तू लोयन को उठि लाह लहै ।
पलकैं न खुलैं अलकैं बिथुरी इतनी क्यों अली अलसानी अहै ॥३॥

दोहा—

तब कैसे उठि कछु करहिं चलहिं फिरहिं कहुँ जाहिं ।
जब पग-पग पै पग अरत परत परगहूँ नाहिं ॥ ४ ॥

९–विषाद

इष्ट न प्राप्त होकर अनिष्ट होने से जो दुःख अथवा उपायाभाव के कारण पुरुषार्थ-हीनता-जन्य जो मानसिक कष्ट होता है, उसको 'विषाद' कहते हैं । इसके लक्षण—निश्वास, उच्छ्वास, मनोवेदना आदि हैं ।

कवित्त—

पकि पकि रहिहैं पकरि कै करेजो कौ लौं
कलपि-कलपि कौ लौं बासर बिताइहैं ।
कौ लौं विधवा-पन-वधिक बेधि-बेधि दैहै
कौ लौं बेझो बनि-बनि विपुल बिलखाइहैं ।

'हरिऔध' कौ लौं अनुकूल-काल पैहैं नाहि
कौ लौं कालिमा के लगे पलक न लाइहैं ।
कौ लौं व्हैहैं बलि बलवान-रुचि-बेदिका पै
भारत की बाला कौ लौं अबला कहाइहैं ॥१॥

करि-करि कलह कलंकित करत कुल
सबल-करन लाभ कर बने लूले हैं ।
फल की है चाह पै सफलता मिलति नाहिं
फूले-फूले फिरत अजौं न फले-फूले हैं ।
'हरिऔध' सोचि-सोचि व्यथित बनत चित
बिललात रहत बिलात ज्यों बबूले हैं ।
लाले परे सुख के, कसाले सहे, भाले सहे
भोलेपन माँहिं भोले-भाले हिन्दू भूले हैं ॥२॥

सवैया—

अनजानता जोहि कै या जग को नित जीवन के दिन जोरै लगी।
अपमान औ मान की बात कहा है अपानहूँ ते मन मोरै लगी ॥
'हरिऔध' अमोही भये अँखियान के आँसुन हूँ को निहोरै लगी।
तन की सुधि होति नहीं तन को अब तो बन के तृन तोरै लगी ॥३॥

दोहा—

है वाके हित तिमिर-मय आज अवनि सब ओक ।
लोक समालोकित हुतो लहि जाको आलोक ॥ ४ ॥
बहु ललकित लोचन हुतो हेरि जेहि कलित-केलि ।
है विदलित भूतल परी वह अलबेली बेलि ॥ ५ ॥

१०—मति

भ्रान्ति कारण रहते भी यथार्थ ज्ञान बना रहना 'मति' है । इसके लक्षण—मुस्कुराहट, धैर्य, संतोष और आत्मावलम्बन हैं ।

कवित्त—

लाल ह्वै कै काहू के बिलोचन न काल होते
छिने मुँह-कौर ना करेजो कोऊ छिलतो ।
कुचित, कुतेवर, बनावतो दुचित नाहिं
कहत उचित बातहूँ ना मुँह सिलतो ।
'हरिऔध' सदन सदन सुखसाज होतो
बदन सरोज मंद-मंद हँसि खिलतो ।
प्रेम होतो कैसे तो न मिलते मिलाये मन
मेल होतो कैसे तो न मेल-फल मिलतो ॥१॥

पावन परम कैसे बनतो अपावन तो
भेद जो पतित-जन-पावन को जानतो ।
रहतो अकाम तो सकामता सतावति क्यों
कैसे कुसुमायुध कुसुम-सर तानतो ।
'हरिऔध' कुमति बनति कमनीय कैसे
मति-मानता को जो सदैव सनमानतो ।
ममता मनन की जो होति मनमानी छोरि
मानव को मन तो मनाये क्यों न मानतो ॥२॥

सवैया—

लोग भले ही सिकोरिकै आपनी भौंह न काहिं लखावैं कलंकहिं ।
कामी कुसंगी निसाचर हूँ अनुमानि सदा कितनो किन संकहिं ।
एक ही भाव सों प 'हरिऔध' करै अनुरंजित राव औ रंकहिं ।
सीतलता हितकारिता हेरिकै को द्विजराज कहै न मयंकहिं ॥३॥

दोहा—

उचित जतन करि हेरतो जो घन-रुचि-तन ओर ।
क्यों मोहित होतो न तो मोहि-मोहि मन मोर ॥४॥

क्यों होतो कमनीय-तम सकल-अवनि-तल नाहिं।
कमल-नयन जो निवसते लोयन-कोयन माहिं ॥ ५ ॥

११—चिन्ता

हित की अप्राप्ति के कारण उत्पन्न आधि को 'चिन्ता' कहते हैं। इसके लक्षण—उद्विग्नता, ताप और उन्निद्रता आदि हैं।

कवित्त—

काहें गुन भारत को गुनहूँ न मानो जात
काहें गुन होत जात औरन को औगुनो ।
काहें सुख लेसहू रह्यो न सुख-पूरित मैं
सहत कलेस क्यों कलेस-हीन सौगुनो ।
'हरिऔध' काहें भूल में है नित भूल होति
काहें अनुकूल प्रतिकूल होत नौगुनो ।
दुख भरपूर बार-बार है बिसूर होत
सोचि-सोचि चित चूर-चूर होत चौगुनो ॥ १ ॥

कैसे भला दिन-दिन दूनो दुख ह्वै है नाहिं
आँखिवारो जो न आँखि खोलि भलो करिहै ।
आपनो हितू हो मारिहै जो हाथ मारि-मारि
कैसे नाहिं कोऊ तो बिना ही मौत मरिहै ॥
'हरिऔध' गाज जो गिराइहै गरजवारो
कैसे तो गरीब पै न गाज गिरि परिहै ।
याही भाँति अन्न भाव रैहै जो अभाव भरो
कैसे पेट भूरि-भूखे भारत को भरिहै ॥ २ ॥

दोहा—

लोल लोचनन को किये ललना परम अलोल।
कहा करति है कल्पना कर पर रखे कपोल ॥ ३ ॥

१२—मोह

भय, दुःख, घबराहट और श्रमजनित चित्त की साधारण अचेतनता और भ्रान्ति को 'मोह' कहते हैं। इसके लक्षण—मूर्छा, अज्ञान, पतन, सिर घूम जाना आदि हैं।

कवित्त—

छिति-छवि-पुंजता अमोल-मुकुतावलि को
मंजु-दृग-तारन में पोहत रहत है।
मलय-अनिल नभ-तल-नीलिमा में लसि
चित चोरिबे को पंथ जोहत रहत है।
'हरिऔध' चारुता-निकेतन-मयंक माँहिं
तारन-कतारन में सोहत रहत है।
होवै महा-महिम महान-मतिमान होवै
काको मन मोह नाहिं मोहत रहत है ॥ १ ॥

प्रेमी-जन कैसे प्रेम-पथ को पथिक होतो
प्रेम के हिंडोरे माँहिं प्रेमिका क्यों झूलती।
दीपक पै गिरिकै पतंग क्यों दहत गात
मृगी क्यों बधिक की बधिकता कबूलती ॥
'हरिऔध' मोहकता होति जो न मोह माँहिं
मोहित करति क्यों लवंग-लता फूलती।
बँधि-बँधि कोमल-कमल के उदर माँहिं
मधुप-अवलि क्यों मधुपता को भूलती ॥ २ ॥

दोहा—

देह गेह को नेह तजि चित-आकुलता रोकि ।
ललना है ललकति रहति लाल-बदन अवलोकि ॥ ३ ॥
नयनन ते सूझत नहीं मुँह मैं रहे न दाँत ।
अपनो तन अपनो नहीं मनको मोह न जात ॥ ४ ॥

१३—स्वप्न

निद्रा में निमग्न पुरुष के विषयानुभव करने का नाम 'स्वप्न' है । इसका व्यापार कोप, आवेग, भय, ग्लानि, सुख, दुःख से पूर्ण होता है ।

कवित्त—

धोखे को महल कैसे मिल जातो धूर माँहिं
मति की तुला पै कोरी बंचना क्यों तुलती ।
खोलते तो कैसे समाधान-नख-कमनीय
पल-पल बढ़ु कलकानि गाँठ घुलती ।
'हरिऔध' कैसे चित्रकारी सपने की सब
लहिकै विबोध-बारि-धर-धारा धुलती ।
भेद खुल गये सारो खेल कैसे खेल होतो
जो न खुल जाति आँखि आँखि कैसे खुलती ॥ १ ॥

आये कंत गात कछु अंक अवलोकन कै
मान मन ठानि उठि कंठ सों लगायो ना ।
सहमि सकानो खरो हेरत पिया को हेरि
जिय कै कठोर दया हिय मैं बसायो ना ।
प्रानप्यारो परस्यो पगन 'हरिऔध' पै
तऊ न पतियाई औ सुबोलहूँ सुनायो ना ।

सपनो समझि सब अपनो नसायो चैन
नैन के खुले पै आली बैन कहि आयो ना ॥ २ ॥

सवैया—

रोगन सोगन भोगन मैं परि, तापन ते तिगुनो तपनो है।
हैं अपने अपने हित के हित कौन हितू जग मैं अपनो है।
औधि को भूलत क्यों 'हरिऔध' तू साँस के नापन को नपनो है।
कोऊ सजीवन कौं लौं जिआइहै जीवन जीवन को सपनो है॥३॥

दोहा—

सुख-मय दुखमय भूति-मय सरस बिरस बहुरूप।
सपने की संपति सरिस है संसार सरूप ॥ ४ ॥
सब कछु है कछु है नहीं अवलोकन भरसार।
अपनो है अपनो नहीं है सपनो संसार ॥ ५ ॥

१४—विबोध

निद्रा दूर करनेवाले कारणों से उत्पन्न चैतन्य-लाभ को 'विबोध' कहते हैं। इसके लक्षण—जँभाई, अँगड़ाई, आँख खोलना, अंगों का अवलोकन करना आदि होते हैं।

कवित्त—

भाग-भाग कहि सो बनैगो कैसे भागवारो
भभरि-भभरि जो अभाग ते है भागतो।
जो है लोक-सेवा की लगन नाहिं साँची लगी
कैसे लाभवारो ह्वै है लोगन की लागतो।
'हरिऔध' नाना-अनुराग को कहा है फल
देस-राग में है जो न मन अनुरागतो।

कहा जागि कियो कहा लाभ है जगाये भयो
जागे हू जो जी में जाति-हित है न जागतो ॥१॥

बीर जन-बीरता बसुंधरा-विबोधिनी है
साहसी ही साहस दिखाइ होत आगे हैं ॥
सबल के सामने सरोवर पयोनिधि है
सावधान सामने धरनि-धुरे धागे हैं ।
'हरिऔध' सारी सिद्धि तिनकी सहोदरा है
सिद्ध-पाग में जो सच्ची साधना के पागे हैं ।
भाग जागे भू में कौन भोग-भोग पाये नहीं
जाग गये जग में न काके भाग जागे हैं ॥२॥

दोहा—

खुलत न आँखें अधखुली बार-बार अँगिरात ।
जगत जगाये क्यों नहीं रही नहीं अब रात ॥ ३ ॥
फिरत तमीचर देखियत है तम चारो ओर ।
जागहु-जागहु जगत-जन मूस रहे हैं चोर ॥ ४ ॥

१८—स्मृति

सदृश वस्तु के अवलोकन तथा चिन्तन, विहार-स्थल के परिदर्शन आदि से जो पूर्वानुभूत बात याद हो जाती है, उसे 'स्मृति' कहते हैं। इसके लक्षण—चांचल्य और भौंह चढ़ना आदि होते हैं ।

कवित्त—

बीरता रही न बंदनीयता बिलोप भई
सदा के सपूत व्है कपूत निबहत हैं ।

देवराज देखि सुख जिनको सिहात हुतो
वेई आज सारी दैव-साँसत सहत हैं।
'हरिऔध' विधि-अविधान को कहाँ लौं कहै
अविधि-प्रवाह माँहिं विबुध बहत हैं।
चारो फल लहि जे सफल लोक-पाल हुते
तिनके सलोने लाल लोन ना लहत हैं ॥ १ ॥

जहाँ हुती एकता, विबुधता विराजमान
तहाँ बैर, कलह, विवाद को बसेरो है।
जहाँ हुतो विमल-विचार-विधु को विकास
तहाँ छल-कपट-सघन घन घेरो है।
'हरिऔध' बिगरे अतीत-वैभवों को हेरि
बार-बार उर होत व्यथित-घनेरो है।
वंस-अचेतनता विलोकि चारु-चेतन को
चेत करि बनत अचेत चित मेरो है ॥ २ ॥

सवैया—

थे हमहूँ कबौं लोक-ललाम लौं लोक-ललामता के रखवारे।
कोमलता-कमनीयता-लालित गात-मनोहरता मतवारे ॥
भाल के अंक रहे भव के 'हरिऔध' रहे दिवि-देव-दुलारे।
लाल रहे कमला-कल-अंक के भूतल-भारती-लोयन-तारे ॥ ३ ॥

दोहा—

सुख लालित कलरुचि कलित कुलकलंक के काल।
कबहूँ हमहूँ लोक के रहे अलौकिक-लाल ॥ ४ ॥
कबौं न हम ऐसे हुते बोध-विहीन बराक।
बँधी धरा-तल धाक ते बँची नाक-पति नाक ॥ ५ ॥

१६—आमर्ष

दूसरे के अहंकार को न सहकर उसके नष्ट करने की कामना, अथवा आक्षेप और अपमान-जन्य चित्त-विक्षेप का नाम 'आमर्ष' है। आँखों में लाली, शिरकम्प, भ्रूभंग और तर्जन आदि—इसके लक्षण हैं।

कवित्त—

भूतल जो भव की विभूति को दुराइहै तो
बिगरि बिगरि ताको बारिधि मैं बोरिहौं।
गिरि निज-गौरव-गरूर दिखराइहै तो
करि कै प्रहार काँचे-कुंभन लौं फोरिहौं।
'हरिऔध' तपि-तपि ताप जो अतुल दैहै
तरनि-किरिन को तो तगा सम तोरिहौं।
चितचोरि चोरि चारु-सुधा को चुराइहैं तो
चूर-चूर करिकै मयंक को निचोरिहौं ॥ १ ॥

हरिहौं कलंक-सारो कुल के कलंकिन को
रखि मुख-लाली लोक-कालिमा निवारिहौं।
कलह-ललक को ललकि लहू गारि लैहौं
बद को सुधारि बदी-हृदय बिदारिहौं।
'हरिऔध' करिकै मिलाप ह्वै सबल जैहौं
फैली फूट पापिनी को उर फारि डारिहौं।
उघरि-उघरि जाति-बैर को पछारि दैहौं
कचरि-कचरि कै कचूमर निकारिहौं ॥ २ ॥

दोहा—

करत विविध उत्पात जो नेकौ नाहिं सकात।
तो मन कत बिललात तू लगे लोक की लात ॥ ३ ॥

हम कैसे इनको नहीं मूँदि रखहिं दिन रात।
मेरे लोचन लालची रूप देखि ललचात ॥ ४ ॥
लंगर को संकित करहिं हरहिं चपल-चित-चैन।
हैं मुँह की लाली रखत लाल-लाल मम-नैन ॥ ५ ॥
कैसे नहिं फरकै अधर बंक बनै नहिं भौंह।
अकलंकित-चित होत नहिं करत कलंकित सौंह ॥ ६ ॥

१७—गर्व

अपने प्रभाव, ऐश्वर्य, विद्या तथा कुलीनता आदि का अहंकार करना, अन्य से अपने को अधिक मानना 'गर्व' कहलाता है। अन्य में तुच्छ दृष्टि, अविनय, ओष्ठ का कम्पन, अंगुष्ठ का अनुचित रीति से दिखलाना आदि—इसके लक्षण हैं।

कवित्त—

लोक-हित-सुरसरि-सलिल सनेही-महा
जाति-हित-पूत-वेदिका को वर-बलि है।
देस-सेवा-नव-मेघ-माला को मुदित-मोर
कुमति-मलिन-महि-पादप अवलि है।
'हरिऔध' रस-मान-सर को मराल-मंजु
भाव-सर-बारि-जात कल्पना को कलि है।
ललना-ललित-चरितावलि को लोलुप है
कविता-कलित-कुसुमावलि को अलि है ॥ १ ॥

सवैया—

है धन गो-धन मंजुल-मंदिर है सजी-सेज औ साज-सँवारे।
चाव है चारु, विचार हैं सुन्दर भावुकता-भरे भाव हैं सारे।

मो सम कौन सुखो 'हरिऔध' है हैं ललना-दृग-लोल हमारे ।
है लली लोयन की पुतरी बनी लाल बने अहैं लोयन-तारे ॥ २ ॥

पंखी बताइ हँसी करै हंस की केहरि को है पसून मैं लेखो ।
मंजुल मानै न मीनन को 'हरिऔध' बखानै न बारिज बेखो ।
आपने रूप ही की उपमा करै और की चाहै न राखन रेखो ।
दाग को दोख दिखावत चंद मैं या तरुनी को दिमाग तो देखो ॥३॥

दोहा—

है ऐसी कमनीयता नहिं कनकाचल माँहिं ।
भारत-भूतल-रज-सरिस है रजताचल नाहिं ॥ ४ ॥
जासु भावमयता कहत गहत भारती मौन ।
भूतल मैं भारत-सरिस भूरि-भाग है कौन ॥ ५ ॥

१८—उत्सुकता

अभीष्ट की प्राप्ति में विलम्ब का असहन 'उत्सुकता' कहलाता है । इसके लक्षण—चित्त-सन्ताप, आतुरता, आकुलता, निःश्वास, पसीना आना आदि हैं ।

कवित्त—

रस सरसाइ बरसाइ बर-सुधा कब
मानस-गगन मैं मयंक-सम खिलिहौ ।
कब उर माँहिं जमी मादकता-मैल काँहिं
निज अनुकूलता सु छूरिका ते छिलिहौ ।
'हरिऔध' कब बैनतेयता बनक लैकै
मेरे पाप-पुंज-पन्नगाधिप को गिलिहौ ।
पलक-पलक पर लालसा सतावति है
सौगुनो ललक भई लाल कब मिलिहौ ॥ १ ॥

सवैया—

मानव की मति दानवता तजि मानवता कब मंजु लहैगी।
नीति कुनीति कहैहै नहीं कब सुन्दर-नीति सुपंथ गहैगी।
आकुल है 'हरिऔध' महा कब आकुलता कतहूँ न रहैगी।
प्रेम-सुधाकर के करते कब शांति-सुधा बसुधा में बहैगी॥ २॥

दोहा—

रहत रैन-दिन अति-दुचित चित नहिं पावत चैन।
कब मुख-कमल दिखाइहौ अमल-कमल-दल नैन॥ ३॥
काहें नाहिं कृपायतन करत कृपा की कोर।
लाखन अँखियाँ हैं लगी तव अँखियन की ओर॥ ४॥

१९—अवहित्थ

भय, लज्जा और गौरवादि के कारण अपनी अवस्था अथवा किसी बात को छिपाना 'अवहित्थ' कहलाता है। इसके लक्षण—बात बराना दूसरी ओर देखना, अनभीष्ट कार्य में प्रवृत्त दिखाना आदि हैं।

सवैया—

मानत हार हैं हार भये पर पै मन में अनुमानत जीतै।
हैं हरुओ पर चाहत हैं सुनो औरन ते गरुओपन गीतै।
प्रीति को बानो रखै 'हरिऔध' पै पावत मोद किये अनरीतै।
आँखि चुरावत राति सिराति है बात बरावत बासर बीतै॥ १॥

दोहा—

कुल-ललना सकुची सहमि मिले नैन ते नैन।
मुँह के मुँह में ही रहे कहे अधकहे बैन॥ २॥

चित-चंचलता देखि कै पिय-चंचल-दृग माँहिं।
लागी गिनन कमल-मुखी केलि कमल-दल काँहिं ॥ ३ ॥

२०—दीनता

विविध दुःख तथा विरह आदि के कारण चित्त के ओज-रहित होने का नाम 'दीनता' है। खिन्नता, मलिनता, साहस-हीनता आदि—इसके लक्षण हैं।

कवित्त—

मानत न मन मनमानी ही करत नित
तनहूँ हमारो नाहिं बस मैं हमारे है।
बहु-दुख बार-बार दुखित बनावत है
दारिद-दमामो-दीह बाजत दुआरे है।
'हरिऔध' मान महनीयता को देत नाहिं
मति कमनीयता ते रहति किनारे है।
दीनबंधु तो सों दीनबंधु कौन दूसरो है
दीनता हमारी दीनबंधुता सहारे है ॥ १ ॥

कैसे मुख जोहतो सुजनता-विमुख-जन को
साँसत-दुसह कैसे बार-बार सहतो।
कर जोरि-जोरि क्यों निहोरतो अनेहिन को
तेहिन के तेह की तरंग में क्यों बहतो।
'हरिऔध' कैसे बलवानन की बलि होतो
कैसे खल गौरव के रौरव मैं रहतो।
दयानिधि तू जो दयानिधिता दिखावतो तो
कैसे दीन दीनता दवागिनि मैं दहतो ॥ २ ॥

दोहा—

निरखि निरखि निज दीनता क्यों न दीन बिलखाहिं ।
दीनबंधु मैं देखियत दीनबंधुता नाहिं ॥ ३ ॥
दीनबंधु को दीन को बंधु जानि मन माँहिं ।
नित फूले-फूले फिरत पै फल पावत नाहिं ॥ ४ ॥

२१–हर्ष

इष्ट की प्राप्ति से चित्त को जो आनंद होता है, उसे 'हर्ष' कहते हैं । इसके लक्षण—गद्गद स्वर, पुलकावलि, उत्फुल्लता आदि हैं ।

कवित्त—

मन के विलास ही ते ललित विलासिता है ।
मन सुधा-धार ही सुधानिधि में बही है ।
मन-रस ही ते है रसिकता सरस होति
मन-माधुरी ते रुचि माधुरी की रही है ॥
'हरिऔध' मंजु मन ही है मंजुता को मूल
लोने-मन ही ते लता लोनी लहलही है ।
मन के प्रमोद ही ते दिशा है प्रमोदमयी
मनोमोद ही ते मोदमयी सारी मही है ॥ १ ॥

सवैया—

मोहन मोहमयी मुरली सुनि मोहित ह्वै तिय है सुधि खोती ।
मोदमयी बतिया उर-भूमि में है बर बीज विनोद के बोती ॥
हेरि मनोहरता 'हरिऔध' की नैनन ते बरसावति मोती ।
लालन की अलकावलि को लखि है तन मैं पुलकावलि होती ॥२॥

दोहा—

ललकित-पुलकित-नयन ते करि रस-पान अथोर।
हँसत निरखि नभ-चंद को है बिहँसत मन-मोर ॥ ३ ॥
किलकत हँसत ललकि ललकि जात जननि की गोद।
मोद होत काको नहीं निरखत बाल-विनोद ॥ ४ ॥

कवित्त—

कोमल-कलित-कंठ-गान ते निहाल होत
सुनि वर-बादन बिनोदित रहत है।
अवलोकि लोने-लाल ललना-ललाम-मुख
प्रति-पल पुलक-प्रवाह मैं बहत है।
'हरिऔध' भागवान चौगुनो उमाह भरो
चंद चाँदनी को चाहि-चाहि उमहत है।
पुलकित बनत बिलोकि बिटपावलि को
मोद कुसुमावलि ते विपुल लहत है ॥ ५ ॥

२२—ब्रीड़ा

कारणविशेष से जिस लज्जा का हृदय में संचार होता है, उसे 'ब्रीड़ा' कहते हैं। इसके लक्षण—मानस-संकोच, सिर का नीचा होना आदि हैं।

कवित्त—

पानी गिरि गयो जिन आँखिन को कैसे तिनैं
पानी-वारी करिकै अपानिपता हरिहै।
भलो जो बनति है भलो कहि बुराइन को
कैसे भाव उनमैं भलाइन को भरिहै।
'हरिऔध' जाति-मुख-लालिमा रहैगी किमि
कुल-कामिनी ही जो न कालिमा ते डरिहै।

आवत समीप जो लजाति अहै लाज ही तो
लाज-वारो लाज को इलाज कहा करिहै ॥ १ ॥

घरनी जो घर को बनाइहै न साँचो घर
घर-वारो घर की बिपति कैसे सहिहै ।
कामिनी जो कैहै काम नाहिं कुल-कामिनी को
कामुक को कुल तो कुलीनता क्यों लहिहै ।
'हरिऔध' पय जो पिआइहै न पय-वारी
कैसे कवौं अ-पय उरों ते पय वहिहै ।
लाज-वारी यदि लाज करत लजाइहै तो
कोऊ लाजवारो कैसे लाज-वारो रहिहै ॥ २ ॥

दोहा—

लाज गँवावति जाति की नेक न आई लाज ।
गजब गुजारत दीन पै सिर पै गिरी न गाज ॥ ३ ॥
सुन्दरता के सजन को है अति-सुन्दर-साज ।
है कुलीनता की तुला कुल-ललना की लाज ॥ ४ ॥
काहे घूँघट खोलि कै नहि करि लेति निहाल ।
लालन-लोयन-ललक को कत ललकावति वाल ॥ ५ ॥

२३—उग्रता

स्वार्थ, रोष तथा अपराधादि के कारण उत्पन्न हुई निर्दयता और चण्डता का नाम 'उग्रता' है । इसके लक्षण—शिरकम्पन, तर्जन-गर्जन और ताड़नादि हैं ।

कवित्त—

भारत को जन भरि-भरि भारतीयता मैं
जा दिन उभरि जाति-भीरुता भगाइहै ।

भूरि-भाग वनि भूति-मान ह्वैहै भूतल मैं
सकल-भुवन कांहि भवन बनाइहै ।
'हरिऔध' साहस दिखाइहै तो सारो-लोक
सहमि-सहमि सारी सूरता गँवाइहै ।
डोलि जैहै आसन महेस कमलासन को
सासन विलोकि पाकसासन सकाइहै ॥ १ ॥

दीन-दुख देखि-देखि दुखत करेजो नाहिं
दूनो-दाम माँगहिं दुखन की दवाई के ।
औरन को गरो दाबि-दाबि गरुआई गहैं
पोर-पोर मैं हैं भरे भाव करुआई के ।
'हरिऔध' क्रूरन की क्रूरता कहा लौं कहै
चित ना कसहिं काम करहिं कसाई के ।
पेरि-पेरि औरो पोर देहिं पीरवारन को
पिसे काँहिं पीसि पैसे माँगहिं पिसाई के ॥ २ ॥

हा—

कोऊ चित मम-चैन को पीसि-पीसि है जात ।
जो पाहन होतो न तो पाहनपन न लखात ॥ ३ ॥
तिनके मानस देखियत कालहुँ चाहि कराल ।
निज लालन के हित हनहिं जे औरन के लाल ॥ ४ ॥

२४—निद्रा

परिश्रम, क्लान्ति, ग्लानि और मादक-द्रव्य-सेवन आदि से उत्पन्न
वेत्त के बाह्य-विषयों से निवृत्ति का नाम 'निद्रा' है । इसके लक्षण—
ंभाई, आंख मीचना, उच्छ्वास और अँगड़ाई लेना आदि हैं ।

कवित्त—

अलसात, जात, अंग तोरि-तोरि अँगिरात
बहुत जम्हात रात बीति गई सारी है।
बुरे-बुरे सपन बिलोकि कै विकल होत
सुरति भये हूँ नाहिं सुरति सँभारी है।
'हरिऔध' काहू के जगाये हूँ जगत नाहिं
विपुल पुकारे हूँ न पलक उघारी है।
अधखुली आँखिन को खोलि-खोलि मूँदि लेत
खुलि-खुलि आँखि नाहिं खुलति हमारी है ॥ १ ॥

खोलत न मुख देह गेह की नहीं है सुधि
सूरज उगे हूँ सारी सुरति विगोये हैं।
हिलत न डोलत न बोलत बुलाये नेक
होत न सचेत अचेतनता समोये हैं।
'हरिऔध' हारि गयो उठत उठाये नाहिं
कहा काहू वेदना ते राति भर रोये हैं।
खुलि-खुलि केहूँ नींद खुलि है सकति नाहिं
कब के उनींदे हैं कि ऐसी नींद सोये हैं ॥ २ ॥

दोहा—

मन अनुरंजन करत है अनुरंजित-नभ-राग।
जागि गयो सिगरो जगत जागन-वारो जाग ॥ ३ ॥
परे कब नहीं कूप मैं अपनो रूप बिसारि।
कब सरबस खोये नहीं सोये पाँव पसारि ॥ ४ ॥

२८—व्याधि

शरीर में विविध रोग के संचार का नाम 'व्याधि' है। इसके लक्षण—काम, आकुलता, मूर्च्छा, विकलता आदि हैं।

कवित्त—

कलही कलंक-धाम कुल के कपूतन ते
धूत अवधूतन ते सारो देस भरो है।
जन-जन-जीवन प्रमाद-परिपूरित है
घर-घर बहु वाद पाँव रोपि अरो है।
'हरिऔध' हेरि-हेरि पकरि करेजो लेत
सहमे सहमि गात-रोम होत खरो है।
अतन समान है समाज को पतन होत
तनबिन गयो तन जाति मन मरो है॥ १ ॥

दूबरो सरीर अंग-अंग है कसर भरो
सूखो सो बदन सादी रहन-सहन है।
चारु है विचार है चकित कर चितवन
चाव है बचाव भरो रुचिर-बचन है।
'हरिऔध' को है भाव विविध-विभाव भरो
परम-प्रभाव भरो कलित-कथन है।
उर अनुराग भरो मानस विराग भरो
जीवन वियोग भरो रोग भरो तन है॥ २ ॥

सवैया—

मोपै न मंत्र प्रयोग भयो कोऊ मोहि डस्यो न भुअंगम कारो।
भूत की बाधा न मोपै भई नहिं बावरो-सो भयो चित्त हमारो।
तू उपचार के ब्योंत करै कहा जानै कहा 'हरिऔध' बेचारो।
बान-सी मारि गयो उर मैं अरी बीर बड़ी-बड़ी आँखिनवारो॥३॥

दोहा—

सारे सुख मैं बहत हैं विविध दुखन के सोत।
है सब योग-वियोग-मय भोग-रोगमय होत॥ ४ ॥

सुख चाहे नहिं सुख मिलत सहे बनत दुखभोग।
मेरो रोगी तन भयो कबहूँ नाहिं निरोग ॥ ५ ॥

२६—मरण

कारण–विशेष से शरीर से प्राण-वायु निकल जाने का नाम 'मरण' है। इसके लक्षण—श्वास-हीनता, निष्प्राणता आदि हैं।

कवित्त—

काल-गति अवलोकि धरिबो धरा पै पग
कीरति कमाइबो है काल-बल हरिबो।
लोक-पति लाह अहै लहिबो अमर पद
लोमसता अहै लालसान ते उबरिबो।
'हरिऔध' ह्वैबो बलि लोक-हित-वेदिका पै
मान के सहित जाति-मान रखि मरिबो।
जीवन गँवाइ जीबो अहै जगती-तल मैं
अहै बसुधा-तल मैं सुधा-पान करिबो ॥ १ ॥

सकल मही-तल मैं महिमा-निकेतन की
महनीय-महिमा निहारि उमहत है।
जल थल अनल अनिल को विकास बनि
बिकसित अवनि अकास मैं रहत है।
'हरिऔध' कर के निकर की विभाकरता
बारिधिता बूंद की निबाहि उमहत है।
एकता विचारि जग-जीव जग-जीवन की
जीवन गँवाइ जन-जीवन लहत है ॥ २ ॥

दोहा—

वह न अमर है तो अहै अमर अमर सम कौन।
जिअत मरत मरि-मरि जिअत जगती-तल मैं जौन ॥ ३ ॥

परो काठ सम तन रहत सुत तिय हा हा खात।
तजि धन जन प्यारो सदन प्रान कहूँ चलि जात ॥ ४ ॥

२७—अपस्मार

अवस्था-विशेष के कारण मिरगी-रोग के समान चित्त का विक्षेप होना 'अपस्मार' कहलाता है। भूमि-पतन, कम्पन, प्रस्वेद, मुख से झाग और लार का निकलना—इसके लक्षण हैं। भूतबाधा अथवा प्रयोग आदि के कारण यह अवस्था उत्पन्न होती है।

कवित्त—

विधि-बामता है कै करालता कपाल की है
किधौं पाप-दव है प्रपंच-पूरि दहतो।
किधौं फल अहै रुज विविध-असंयम को
कै है या मैं नियति-रहस्य कोऊ रहतो।
'हरिऔध' कछु भेद होत ना तो कैसे जीव
कर पग पटकि दुसह-दुख सहतो।
धूल मैं लुठत कैसे कमल-मृदुल-तन
फूल-जैसे आनन ते फेन कैसे बहतो ॥ १ ॥

सवैया—

कै अहिफेन भख्यो कै डँस्यो अहि भूत भिर्‌यो कै कहूँ भभरी है।
आनन ते बहु फेन बहावति काँपत गात बेहाल-खरी है।
पै 'हरिऔध' जनात न का भयो सूखति जाति क्यों बेलि-हरी है।
फूल-छरी सम धूरि-भरी यह भूतल पै परी कौन परी है ॥ २ ॥

दोहा—

खोये रतनन सुरति करि हहरत हाहा खात।
अवनि-लुठत काँपत, हिलत, फेनिल जलधि लखात ॥ ३ ॥

कै दुख-बस महि परि कँपति फेन तजति अकुलाति।
कै मिरगी मुँह मैं परी है मृगदृगी दिखाति ॥ ४ ॥

२८—आवेग

अचांचक इष्ट वा अनिष्ट की प्राप्ति से चित्त की आतुरी को 'आवेग' कहते हैं। इसके आकुलता, स्तम्भ, कम्प, हर्ष और शोक आदि लक्षण हैं। इष्टजन्य आवेग में हर्ष, और अनिष्ट-जन्य में शोक होता है।

कवित्त—

निज बेस बसन बिसारिहैं बिराने बने
बस होते बेवसी वितान क्यों तनत हैं।
जानि जानि सकल-सजीवन जरी को गुन
जीवन गँवाइ जाति-जर क्यों खनत हैं।
'हरिऔध' सदा के चतुर चातुरी बिहाइ
आतुर कहाइ आतुरी में क्यों सनत हैं।
बावले कहावत क्यों बात बावलों-सी कहि
क्यों करि उतावली उतावले बनत हैं ॥ १ ॥

परग-परग चले पारग पथों के होत
थोरो-थोरो किये काम होत बहुतेरो है।
खिन-खिन सूखे सूखि जात है सरित-सर
छिन-छिन छीजे छूटि जात घन-घेरो है।
'हरिऔध' पल-पल बीते राति बीति जात
धीरे-धीरे दूर होत अवनि-अँधेरो है।
होत ना उबार तो उबार कहा ह्वैहै नाहिं
कत अकुलात बार-बार मन मेरो है ॥ २ ॥

अकुलानि भरो साप-फन सहकारी भाव
उर में उफान जैसो कत उफनत है।
सारी-साहसिकता क्यों सिकता-समान भई
सूरता-विहीनता में सूर क्यों सनत है।
'हरिऔध' धीर को तजति कत धीरता है
बार बार सुधि क्यों सिधारत अनत है।
पुरु के सरिस तरु कैसे सरु होत जात
गिरि ऐसो गरुओ क्यों हरुओ बनत है ॥ ३ ॥

सवैया—

छवि रावरी हेरि छबीली छकी सिगरे छल-छन्दन छोरै लगी।
अलकावली लाल तिहारी लखे कुल-कानिहूँ ते मुख मोरै लगी।
'हरिऔध' निहारि कै नैन सुहावने देवन हूँ को निहोरै लगी।
तरुनाई तिहारी निहारि तिया उकतान भरी तृन तोरै लगी ॥ ४ ॥

दोहा—

लरखरात पग कर कँपत थरथरात है गात।
तितनी आकुलता बढ़ति जितनो जिय अकुलात ॥ ५ ॥
कत कछु को कछु है कहति कत अँगिराति जम्हाति।
काहें चंचलता-मयी चंचल-नयनि लखाति ॥ ६ ॥

२९—त्रास

किसी अहित भावना से हृदय में जो भय उत्पन्न होता है, उसे 'त्रास' कहते हैं। कम्प, आकुलता, आशंका आदि इसके लक्षण हैं।

कवित्त—

बनिकै अमर करि समर बचैहों मान
कसिकै कमर काम करिहौं अँगेजो मैं।

यमदंड केरी दंडनीयता निवारि दैहों
करि दैहौं खंड-खंड काल हूँ को नेजो मैं।
'हरिऔध' कैसो त्रास-त्रास मानिहौं ना कबौं
रहन न दैहौं पास भीति-भरो-भेजो मैं।
खरे ह्वैहैं रोम रोम-रोम तो उखारि दैहौं
काँपिहै तो रेजो रेजो करिहौं करेजो मैं ॥ १ ॥

दोहा—

है न देस हित भय भरो है न भयावह बात।
उभरि-उभरि कत चित्त तू भभरि-भभरि भजि जात ॥ २ ॥
गिरति उठति उठि-उठि गिरति सिहरति भजति जम्हाति।
कत भामिनि भय ते भरी भभरी भूरि दिखाति ॥ ३ ॥

३०—उन्माद

काम, शोक, भय आदिक के प्राबल्य से चित्त में जो एक प्रकार का विक्षेप और व्यामोह होता है, उसे 'उन्माद' कहते हैं। हँसना, रोना, गाना, व्यर्थ बकना आदि—इसके लक्षण हैं।

कवित्त—

दुख के समूह ते करत हित-कामना है
मोहित ह्वै मोह ते बजावत बधावरो।
बोझो राखि सीस पै विविध-सहबासिन को
ढोअत है कंधन पै अंधन को काँवरो।
'हरिऔध' बनो घर-बारन को घोरो रहै
बनै कबौं भोरो कबौं गोरो कबौं साँवरो।
हारो हारो रहत सहारो है लहत नाहिं
रावरो बनत ना हमारो मन बावरो ॥ १ ॥

तूठे रहे भूठे-भठे भावन ते भोरे बनि
तिनके अँगूठे देखे जो नित तने रहे।
जग को प्रपंच मानि छूटे ना प्रपंचन ते
जाल तोरि-तोरि जाल जकरे घने रहे।
'हरिऔध' साँसन की आस को न आस मानि
साँसत समूह माँहिं सतत सने रहे।
साँवरे बजत रहे बहँक बधावरेही
रावरे कहाये तऊ बावरे बने रहे ॥ २ ॥

दोहा—

बहु बिरुझत बहँकत बकत बिगरत बनत बिमोहि।
बार-बार मन बावरो करत बावरो मोहि ॥ ३ ॥
रोवत गावत बहु हँसत रीभत खीझत जात।
बहँकत बिगरत बावरो बहरावत बतरात ॥ ४ ॥

३१—जड़ता

विवेकशून्य और किंकर्त्तव्य-विमूढ़ चित्तवृत्ति को 'जड़ता' कहते हैं। इसके लक्षण—टकटकी लगा के देखना, चुप होना, चलने-फिरने में असमर्थ होना आदि हैं।

कवित्त—

जहाँ के तहाँ हैं परे कर पग अंगना के
तन भयो काठ ना उघारति पलक है।
विपुल घुलति जाति हिलत-डुलत नाहिं
कलित कपोल पै न लुरति अलक है।
'हरिऔध' कहा भयो कहत बनत नाहिं
कामिनी को भई आज कौन-सी कलक है।

लोयन-ललक है कै झलक लगन की है
छल है छलावा है कि छोह की छलक है ॥१३४॥
चलत न हाथ पाँव सुनत न कोऊ बात
खुलति न आँखि गात-सुरति बिसारी है।
कहा होत अहै कहा ह्वै है कहा कीबो अहै
याहू को न ज्ञान सारी सुधि हूँ सिधारी है।
'हरिऔध' मूकता है मन मूक हूँ ते घनी
मानों महामोह भये गई मति मारी है।
पाइकै सजीवता सजीव है बनति नाँहिं
जीवन-विहीन कैसी जड़ता हमारी है ॥१३५॥

दोहा—

देह गेह के नेह ते साँसत सहत अतीव।
तऊ तजत जड़ता नहीं यह मेरो जड़-जीव ॥१३६॥
चकित भई अचपल भये लोचन चपल रसाल।
चितै चितेरे को बनी चित्र पूतरी बाल ॥१३७॥

चपलता

मत्सर, द्वेष, रागादि के कारण अनवस्था तथा अस्थिरता सहित कार्य करने को चपलता कहते हैं। इसके साधन धमकाना, कठोर शब्द कहना और उच्छृंखल आचरण करना आदि हैं।

कबित्त—

पल पल दौरत करत मन मानी रहै
जतन किये हूँ मोह मन को गयो नहीं।
परि परि बस माँहिं बासना बिसासिनी के
कब तन पापी नाना-ताप ते तयो नहीं।

'हरिऔध' हारि परे नेकौ हित होत नाँहिं
कव सुख चाह सुख चाहत नयो नहीं ।
वाल-मति आकुलता-अंचल तजत नाँहिं
मेरो चित-चंचल अचंचल भयो नहीं ॥१३८॥

वैरि-दल जाते बार बार बलवारो बनै
लोप होवै ऐसी लोक-लोपिनी-अबलता ।
दिन दिन दूनों जाते दानवी दमन होवै
धूरि माँहिं मिलै ऐसी मानवी-सरलता ।
'हरिऔध' जाते नर-विपुल विफल होवै
धरा माँहिं धँसै ऐसी सकल-विफलता ।
जाते लहै चौगुनी-विकलता बिकल-जन
चूर चूर होवै ऐसी चित्त की चपलता ॥१३९॥

सवैया—

कुंज मैं राजतिही मुख-मंजु ते कै कल-कंजन की छबि औगुनी ।
बात वहै तहाँ तौलौं भई नहिं जाहि रही मन माहिं कवौं गुनी ।
चौंकि परी 'हरिऔध'को चाहि उमाहि चली बनि आकुल-चौगुनी।
नौगुनी चावमयी-चपला भई लोचन-चंचलता भई सौगुनी॥१४०॥

दोहा—

चाव भरे चित-चोर को लखि चितवत ललचात ।
चंचल-नयनी को भयो चित चलदल को पात ॥१४१॥
चली जाति कल-कुंज मैं चौंकति खरके पात ।
चपला निज-गति-चपलते करि चपला को मात॥१४२॥

वितर्क

किसी प्रकार का विचार उठते ही चित्त में संदिग्ध भावों का उदय होना, और इदंकुतः में लग जाना तर्क कहलाता है। इसके लक्षण भृकुटि-भंग, सिर हिलाना और उँगली उठाना आदि हैं।

कवित्त—

सुनि सुनिके हूँ हैं सुनत हित-बात नाँहिं
जानि गुन-औगुन गुनन मैं न सने हैं।
जिनही ते जान है परति जान-हीनन मैं
तिनकि तिनकि तनि तिनही ते तने हैं।
'हरिऔध' का हैं ए हमारे आनबानवारे
जड़ हैं कि जीवन-बिहीनन के जने हैं।
भोरे हैं कि चाहन उमाहन ते कोरे अहैं
कै हैं हर-बाहन कि पाहन के बने हैं ॥१४३॥

जो मन हमारो सदा मानतो हमारी कही
परमविमुख को तो मुख कैसे जोहते।
जो न मति होति लंज कैसे तो मनुज ह्वैकै
गुंजापुंज काँहिं मंजु-मोतिन मैं पोहते।
'हरिऔध' कामना रखति कमनीयता तो
कमनीय भाव कैसे उर मैं न सोहते।
तेरी दया होति तो न दयनीय होते राम
तेरी मया होति तो न माया मोह मोहते ॥१४४॥

छिन छिन छीजत है जाति को छबीलो-तन
छूत छात मैं परि अछूतो-बल ख्वै गयो।

लाल ललना के छिने छतिया छिलति नाँहिं
पातक छछूँदर उछाहन को छूवै गयो ।
'हरिऔध' काहें आँखि खोले हूँ खुलत नाँहिं
गिरि-सम-गौरव अगौरव मैं ग्वै गयो ।
मति छरि गई कै उछरि कै चुरैल लागी
सरि गयो भेजो कै करेजो रेजो ह्वै गयो ॥१४५॥

दोहा—

पामर जन को है कहा पामरता पहचान।
पद पद पर ह्वै पतित क्यों पैहै पद निर्वान ॥ १४६ ॥
नहिं बोलत खोलत पलक तिय-तन डोलत है न।
लागी अहै चुरैल कै लगे नैन ते नैन ॥ १४७ ॥

आलम्बन-विभाव

आलम्बन-विभाव

नायिका

जिस सुन्दरी स्त्री को अवलोकन कर हृदय में शृंगार रस का संचार होता है उस रूपलावण्यवती युवती को नायिका कहते हैं। यथा—

कवित्त—

दीठ के परे ते गात-मंजुता मलिन होति
देखे अंग दलकहिं दल सतदल के।
कोमल कमल सेजहूँ पै ना लहति कल
भारी लगैं बसन अमोल-मलमल के।
'हरिऔध' हरा पहिराये बपु-कंप होत
पायन मैं गड़हिं बिछौने मखमल के।
कुसुम छुये ते रंग हाथन को मैलो होत
छिपत छपाकर छबीली-छबि छलके ॥ १ ॥

अमल धवल चारु-चाँदनी सरदवारी
आनन-उजास आगे लागति कपट सी।
आतप की धापहूँ ते तन कुँभिलान लागै
देखि छबि-नीको जाति रति हूँ रपट सी।
'हरिऔध' कोमलता ऐसी कामिनी की अहै
पखुरी-गुलाब गात आवति उपट सी।
नूतन-प्रसून लौं सुरंग अंग अंग दीखै
कढ़त सरीर सों सुगंध की लपट सी ॥ २ ॥

चकित चितै कै चाव चौगुनो बढ़ाइ चौंकि
चित अनुमानि लाल भूल्यो चैन सुख है।

चलि कत चरचा करै री चारुता को चूकि
सची चेरी वाकी चारुता के सनमुख है।
'हरिऔध' चाँदनी लौं हास चख झख के से
चलन-अमोल चामीकर लौं बपुख है।
चपला सी चमक चितौन है चकोर जैसी
चंपा लौं बरन चारु चंद्रमा सों मुख है॥ ३॥

कोमल-कलित-करि-कर लौं सु-कर नीके
कामिनी के परम-प्रमोद उर पारे देत।
दीपति-बलित-दंत-पाँति की दुगूनी-दुति
दंभवारे-दारिम को उदर बिदारे देत।
'हरिऔध' बाँके बड़े बान से बिखीले-नैन
बारिजातहूँ को बर-बरन बिगारे देत।
गहब गुलाब से गुलुफवारी कामिनी को
मंद-मंद-गमन गयंद-मद गार देत॥ ४॥

सवैया—

कौन कथा मृग मीन की है किन दारिम दाख की बात कही है।
किन्नर नाग नरादि के नारिन की 'हरिऔध'जू कौन सही है।
रूप तिहारो निहारि कै राधिके देव-बधून की देह दही है।
भाजि हिमाचल मैं गिरिजा बसी इंदिरा सागर बीच रही है॥५॥

शिख-नख-वर्णन

सीस

दोहा—

मिलत निरखि या सीस ते नव-रस को बकसीस।
सादर सीस नवाइ को देत न सदा असीस॥ १॥

फूलि उठे द्रग सखिन के छबि लखि देत असीस।
है सफूल दूनो फबत सीस-फूल तिय-सीस ॥ २ ॥
फूल कहूँ फल कहुँ लगत यह बिपरीत महान।
सीस-फूल सों देखिअत स-फल होहिं अँखियान ॥ ३ ॥
सुर-पुर बसतहुँ लेत यह सुनासीर मन खेंच।
परत सरासर पेच मैं लखि तेरो सरपेच ॥ ४ ॥

माँग

द्रग दुहूँन की देखियत बढ़त जाति नित माँग।
कहा माँगि नहिं सकति मन-माँगनवारी माँग ॥ १ ॥
रूप धरे अपनो दिपत अति-अनूप-अनुराग।
सरस-सिंदूरवती नहीं यह युवती की माँग ॥ २ ॥
पारि देत मन पेच मैं रच पेचीले स्वाँग।
नीकी-मुकतावलि-बलित गज-गमनी की माँग ॥ ३ ॥

पाटी

कत्रौं पटी नहिं काहु की तिय-पाटी के साथ।
याहि अटपटी मैं किते पटकत पाटी माथ ॥ १ ॥
पढ़ि बिधि-की पाटी कहत जग-परिपाटी काँहिं।
जो सुख पाटी सों पटे पाट ठटे हूँ नाँहिं ॥ २ ॥

चोटी

बिख सों कछु चढ़ि जात सुनि या बेनी की बात।
लहर न आवत काहि लखि नागिनि सीं लहरात ॥ १ ॥
बिख वाके काटे चढ़त या के नेकु लखात।
क्यों बेनी सी औगुनी गिनी नागिनी जात ॥ २ ॥
का अजगुत की बात जो मानव हिय हरखात।
सुमन-सजी बेनी लखे सुमनस-जी न अघात ॥ ३ ॥

चित को बिच लावत चलत कुटिल चाल न लखात ।
लखि बेनी ब्याकुल बनो फिरत ब्याल बल खात ॥ ४ ॥
कैसे कोऊ सहि सकै बेनी-बिख की ज्वाल ।
बिवर बसेहूँ नहिं भयो गरलबिबरजित ब्याल ॥ ५ ॥

जूरा

पूरा बिखधर-फन दियो बिख-कूरा बतराय ।
मन-अजान तबहूँ जुरा वा जूरा सों जाय ॥ १ ॥
तव जूरा को भेद तिय समुझि परत कछु नाँहिं ।
है छटाँक भर हूँ न पै मन बाँधत छुन माँहिं ॥ २ ॥
जूरा बाँधन मैं कछू साधन और लखात ।
कहूँ बँधनवारो न मन जहँ बरबस बँधि जात ॥ ३ ॥

अलक

भ्रमत इनैं न बिलोकियत बन बागन गुंजारि ।
अलि-कुल अकुलाने फिरत अलकावली निहारि ॥ १ ॥
पल पल ललकत ही रहैं लालन लोयन दोय ।
लखे आलुलायित अलक लालायित चित होय ॥ २ ॥
कैसे कोउ मानव सकै निज-मन-नैनन रोकि ।
अलकावारेहूँ फँसहिं अलकावलि अवलोकि ॥ ३ ॥
बँधत अरूझत ही रहत मिटत न मन को दंद ।
जो छोरयो जूरा पर्यो अलकावलि को फंद ॥ ४ ॥
पाम काल जब चूकिकै लट-ब्यालिनि बल खाति ।
जलकन मिस मुख-ससि-सुधा बूँद बूँद खसि जाति ॥ ५
लार बहावत नागिनी मुख-मयंक मधु हेत ।
टपकत अलकन ते न अलि यह जल-कन छबि देत ॥ ६ ॥

नेक नहीं मेरी सुनत हारि परे हम टेरि।
एरी क्यों लटि जात मन यह तेरी लट हेरि ॥ ७ ॥
गति मन नैनन की निरखि मति बतरावति मोहि।
ए जुलमैं परिजात हैं जुलमी जुलफन जोहि ॥ ८ ॥

केश

कवित्त—

मंजुल-सिवार सुकुमार-पन्नगीकुमार
मेरे जान मखतूल-तारहूँ ते नीके हैं।
रस-धाम करैं ए अकाम-मनहूँ को छाम
तम ते बनाये बीछि काम-रमनी के हैं।
'हरिऔध' सरस-सिंगार-रस के हैं सार
कारक अपार-मोद सारी अवनी के हैं।
घुघुरारे आनन-बगारे छबिवारे प्यारे
सटकारे कारे कारे केस कामिनी के हैं ॥ ९ ॥

दोहा—

छहरत छाये छवा लौं छंद छगूने धार।
प्यारे प्यारे छरहरे छबिवारे ए वार ॥१०॥
कारे कारे चीकने सने-सनेह सु-देस।
मन अटकाये लेत हैं ए लटकाये केस ॥११॥
विन बूझे सरबर करत तू बावरी बयार।
बिगरे हूँ बनतहिं रहहिं ए बगरे बर-बार ॥१२॥
मेरो मन सोचत निरखि कामिनि तेरे वार।
दीप-सिखा-मुख ते कढ़त काजर की यह धार ॥१३॥
कै साँपिनि के सिसुन को गहि आन्यो मुरवान।
किधौं छरहरे केस ए छहरत छये छवान ॥१४॥

बगरे ए न बिलोकियत मेचक-चिकुर-अथोर।
कढ़ि कलंक एकत भयो मुखमयंक दुहुँ ओर ॥१५॥

भाल

बिरचन मैं जाके चले बिधिहुँ निराली चाल।
निरखि भाल भूले मनहिं कैसे सकहिं सँभाल ॥ २ ॥
जके थके निरखत रहे सके न बूझि बिचार।
पारत रसिकन पेच मैं परिकै सिकन लिलार ॥ २ ॥
नवल-बाल के भाल पै कै बल परो लखाय।
कै दरपन-तल पै परी लहर-लरी दरसाय ॥ ३ ॥
बाल-भाल ऊँचो लसै किधौं समूचो चैन।
छटा-अटा कै यह पटा मंजु चौहटा मैन ॥ ४ ॥

भौंह

कहा करैं अनुमान किमि कही न मानत मोर।
मुरत न मोरे मन परयो भामिनि-भौंह-मरोर ॥ १ ॥
भामिनि भौंह बिलोकियत बिगरत बनत सबेग।
गजब गुजारत कौन पै यह गुजराती तेग ॥ २ ॥
बिन गुन बिसिख बिलोकियत बीरन करत अमान।
कहैं क्यों न हम कामिनी-भौंहन काम-कमान ॥ ३ ॥
बीर बूझियत भौंह को बंकिम झुकी बिलोकि।
चली जात अलि की अवलि नैन-कमल अवलोकि ॥४०॥
बंक-पाँति बिधि कर लिखी बिबिध-भाव-आधार।
को बिचार भौंहन करै बिना भये मुखचार ॥४१॥
जन-मन-नैनन को हरति गति मति करति अपंग।
बंक-भौंह की बंकता मिली कुटिलता-संग ॥४२॥

नेत्र

कबित्त—

किधौं विवि-नैन कमनीय-कामिनी के नीके
लसि मंजु-आनन मैं मन लेत मोल हैं।
किधौं अति-सरस-सरद-सरसीरुह मैं
निबसि युगल-अलि बनिगे अबोल हैं।
'हरिऔध' किधौं काम-कलित-मुकुर माँहिं
सोहत विमोहत रतन-अनमोल हैं।
मानी मनसिज युग-मीन मन मोद मानि
किधौं चंदमंडल मैं करत कलोल हैं ॥४३॥

लाँबे लाँबे कुंचित चिकुर पीठ परि राजैं
सुबरन-भीति पै फनिंद गतिवारे से।
गोरे-गोरे-सुघर-कपोल पै सु-तिल सोहैं
मसि-बिंदु सुमन-गुलाब मैं सँवारे से।
'हरिऔध' ऐसी कछू बनी है छबीली आज
सीस लसैं मोती अंधकार बिच तारे से।
कारे कारे तारे ए अरुन-अँखिया मैं डोलैं
अमल-कमल मैं मिलिंद मतवारे से ॥४४॥

दोहा—

निसि दिन रसहूँ मैं बसे लह्यो न सो रस मीन।
जो रस इन अँखियान को बरबस बिधना दीन ॥४५॥
याही ते बन मैं बसे खंज बनज मृग मीन।
कछु अनबन ही सी रही अँखिअन सों निबही न ॥४६॥

करि सैनन उपजावहीं मैनहुँ के मन मैन।
एनीनयनी के नये नीके ए दोउ नैन ॥४७॥
होत वहाँ हूँ थिर नहीं जहँ पानी की खान।
इतनो बेपानिप कियो मछुरिन को अँखिआन ॥४८॥
दृगन लजे मीनन लखत इत उत दौरत नाहिं।
डूबन को ढूँढ़त फिरहिं ए अगाध जल काँहिं ॥४९॥
नेक न थिरता गहन की है खंजन की बान।
का को नहिं चंचल करहिं ए चंचल अँखियान ॥४०॥
कढ़त न काढ़े कैसहूँ किये जतन दिन रैन।
कछु चित में ऐसे गड़े बड़े बड़े ए नैन ॥५१॥
चखन हाथ पानी गये भई झखन अस दाह।
कटे मर मिटे हूँ रही पानी ही की चाह ॥५२॥
काको रँग बिगरत नहीं बदलो लखि दृग-रंग।
भये सुरंगहुँ मृगन को कबि-गन कहत कुरंग ॥५३॥
जितनो तिरछे ह्वै चलैं तितनों करैं निहाल।
इतनो लोच न क्यों रखैं ए तव-लोचन बाल ॥५४॥
काहि न ए अपनावहीं इनको कौन अहै न।
कहा करि सकत हैं नहीं बाल तिहारे नैन ॥५५॥
कौन मसाले से बने देखेभाले हैं न।
रस के प्याले से लसैं निपट-निराले नैन ॥५६॥
नीति-निपुन नागर-परम रस-गागर मुद-ऐन।
सागर-सील-सनेह के सब-गुन-आगर नैन ॥५७॥

नेत्र-लाली

दोहा—

लाल लाल डोरे परे कै अँखियान मँझार।
सुधा-सरोवर में लसै कै अनुराग-सेवार ॥५८॥

किधौं कलित-कोयन रही लोयन-लाली राजि ।
अरुन-रागरंजित किधौं ऊखा रही बिराजि ॥५९॥
लहू बहावत देखिअत अबलौं अँखियन काँहिं ।
आली यह लाली नहीं लहू लग्यो तन माँहिं ॥६०॥

पुतली

लोयन-कोयन मैं अरी असित-पूतरी नाँहिं ।
कारे-नग ए जगमगत रतनारे-नग माँहिं ॥६१॥
ललना-लोयन मैं न यह पुतरी लसति असेत ।
अतसी की पखुरी बसी कमल-दलन छवि देत ॥६२॥
कारी-कारी-पूतरी प्यारी अँखियन माँहिं ।
मानिक-रंजित-रजत मैं मरकत राजत नाँहिं ॥६३॥
बाल-बिलोचन मैं नहीं पुतरी-असित दिखात ।
अरुन राग-जुत-सित-गगन मैं राजत रवि-तात ॥६४॥

अंजन-रेखा

अंजन-लीक अलीक कहि कत बहरावति मोहि ।
प्यारी मृग-दृग पै रही कारी-धारी सोहि ॥६५॥
कै अंजन की रेख लखि अँखियन होत बिनोद ।
सोवत खंजन-सिसु परो कै खंजन की गोद ॥६६॥
कहि अंजन की रेख कत कबिजन बनत अजान ।
बरबस काहू सों बिगरि बिख उगिलहिं अँखियान ॥६७॥
बिना सुधाहूँ नहिं सधत बिख हूँ बिना बनैन ।
कासों काज रखैं न ए काजरवारे नैन ॥६८॥
काजर-रेख रखै न जी-जारनवारी आँख ।
काहु जी-जरे के जरे जी की है यह राख ॥६९॥

पलक

दोहा—

अद्लि बद्लि बाटन दृगन अनुमानत निज मान।
पल पल तुलत मनहिं लखत पलकन के पलरान ॥ ७० ॥
पल पल उठहिं गिरहिं परहिं थिरता भूलि गहैं न।
नयनन के ललकन परत पलकन हूँ नहिं चैन ॥ ७१ ॥

बरुणी

अनलगेहुँ अनगन जनन अकुलावति चहुँ-ओक।
बरु नीकी बरछी अनी नहिं बरुनी की नोक ॥ ७२ ॥
कै सिंगार चाँटे जुरे कै बरुनी बिवि-नैन।
कै कमलन काँटे लगे कै ए साँटे-मैन ॥ ७३ ॥
अरी चुभावति कत रहति सूची मो हिय माँहिं।
बाम तिहारी बरुनि को बरु निहारिहौं नाँहिं ॥ ७४ ॥
सूची तरुनी बरुनि मैं जोरे डोरे नैन।
दरजी मैन सिअत रहत प्रेम-बसन दिन रैन ॥७५॥
बरुनी-बरनन मैं करत कत इतनो चित गौर।
जग-बिजयिनि अँखियान पै दुरत देखियत चौर ॥७६॥
बरुनीवारी पलक मैं न्यारी अँखिया नाँहिं।
खंजन के जोरे परे मैन पींजरे माँहि ॥७७॥

नेत्र—तिल

दोहा—

तेज-बिहीन बिलोकियत मलिन रूप औ रंग।
ए तिल कैसे तुलि सकहिं नैन-तिलन के संग ॥७८॥

बिख-उगिलत बिगरत लरत बंक चलत गहि मान।
कहा एक तिल पै करत इतनो नैन गुमान ॥ ७६ ॥
चाल-निराली दृगन की बूझि परत कछु नाँहिं।
कैसे ए तिल एक सों तौलि लेहिं मन काँहिं ॥ ८० ॥

दृग—कोर

कित इनकी गति है नहीं कहाँ न इनको जोर।
काके उर मैं नहिं गड़ी बाँके-दृग की कोर ॥ ८१ ॥
मोल जोल कीने विना लै अमोल मन मोर।
चाहति कहा अकोर अब तेरे दृग की कोर ॥ ८२ ॥
रहि रहि कसकत ही रहति कीनेहुँ जतन-करोर।
कढ़ति न काढ़े कैसहूँ तिय तव अँखियन-कोर ॥ ८३ ॥

चितवन

दोहा—

वार वार विगरति रहति वूझि परत नहिं गाथ।
क्यों चित वनत न देखिअत तिय-चितवन के साथ ॥ ८४ ॥
किये कटीले कमल औ मीनन को उपमान।
निपट कटीली ह्वै गईं कामिनि की अँखियान ॥ ८५ ॥
देह गेह की सुधि विवस को नहिं देत विसारि।
एरी यह जादू भरी तेरी नजर निहारि ॥ ८६ ॥
समर सामुहें देखिअत सूरमाहुँ की पीठ।
का न कामिनी की करै वंक-गामिनी-दीठ ॥ ८७ ॥

नासिका

दोहा—

ती की चल-अँखिआन मैं नीकी-नाक लखाय।
रारी-खंजन बीच कै कीर पर्‌यो है आय ॥ ८८ ॥

नेसुक सिकुरत नाक लखि परत साँकरे आन।
नाक-निबासिन को रहत सदा नाक मैं प्रान ॥ ८९ ॥
या तिय-नथ की बात कछु कहत बनत है नाँहिं।
मुकुत मिले हूँ देखिअत फँसी नासिका माँहिं ॥ ९० ॥
निधरक जन सौंहैं रहत चूमत अधर-रसाल।
बेसर मोती कत चलत बेसरमों की चाल ॥ ९१ ॥
बरबस बिबस करै परै निसि वासर नहिं चैन।
बिसरायेहुँ बिसासिनी-तिय-बेसर बिसरै न ॥ ९२ ॥
नहिं केवल कामिनि-नथहिं ऐसो भयो सुपास।
को मुकुतन को संग करि लहत न नाक निबास ॥ ९३ ॥
तजि ममता निज-बरन की मल परिहरि तन दाहि।
करि मुकुतन को संग नथ नाक बिराजत आहि ॥ ९४ ॥

कान

दोहा—

कहा भयो अपवाद जो बाद करत जन कोय।
अहै प्रसंसित-मत यही स्रुति-संमत-मति होय ॥ ९५ ॥
भूखित भूखन-भाव सों ए भू मैं दरसाहिं।
कहा भयो भावुक भये जो स्रुति भावहिं नाँहिं ॥ ९६ ॥
बड़े बड़े मुकुतन कियो निज बस मैं हठ ठानि।
बसीकरन की बानि अस बसी करन मैं आनि ॥ ९७ ॥
मुकुतन हूँ को है जहाँ निबसन को अधिकार।
कानन गये कहा रखत, जब कानन सों प्यार ॥ ९८ ॥
लोक बेद बिपरीत यह रीति जकत चित जोय।
स्रुतिसेवी मुकुतन लखे अतन उदै तन होय ॥ ९९ ॥
सिद्धपीठ से मैन के ए दोउ स्रवन सुहाहिं।
बाला को सेवत लखत जहँ मुकुतन हूँ काँहिं ॥१००॥

प्यारी प्यारी छबि-सनी सुबरन-वारी जोय।
वारी पै वारी भई मति मतवारी होय ॥१०१॥
हैं न कंज-कल-नयनि के ए भूमक छबि-रास।
अपत होइ कमलन कियो कानन माँहिं निवास ॥१०२॥
कत कोऊ बूझै बिना कानन को पतियात।
लखे पात उतपात है पात पात मन जात ॥१०३॥
मन मंदिरहिं सलाकयुत कीवो उचित जनात।
यह कानन की बीजुरी करत महा उतपात ॥१०४॥
सुरुचिर-स्रौनन के लखे चकाचौंध लगि जात।
तहाँ दीठ काकी जुरी जहाँ बीजुरी-पात ॥१०५॥

कपोल

दोहा—

काको नहिं बेलमावहीं काहि न करहिं निहाल।
ए गुलाब के फूल से गरवीली के गाल ॥१०६॥
वा कपोल को है वलित-ललित-लालिमा जौन।
माखन को गोला कहे माखन मानत कौन ॥१०७॥
बरजोरे कत जो रहत मन मोरे सब काल।
गोरे गोरे ए गरल-भरे निगोरे-गाल ॥१०८॥
गोरे गोरे चीकने अमल अनूप अमोल।
मो चित विचलित होत लखि लोने-ललित-कपोल ॥१०९॥
कछु अनखुन करि नहिं चलैं अँखिअन ही सों चाल।
गालिब कापै होत नहिं गहव-गुलाबी-गाल ॥११०॥
सपरत कछु न परस बनत लोयन भये अडोल।
पलक-पोल पल मैं खुलत पुलकित पाइ कपोल ॥१११॥
अनगन-जन-मन को करैं अनुरंजन सब काल।
भोरे भोरे भावजुत गोरे गोरे गाल ॥११२॥

दाँत

दोहा—

हैं मोती से, कुन्द के कोरक से दरसात।
चंदमुखी के चारुतामय चमकीले-दाँत ॥११३॥
ललकित-लोयन मैं बहति अभिनव-रस की धार।
दारिम-दाने सी लसीं दसनावली निहार ॥११४॥

रसना

दोहा—

कबहूँ बरसति है सुधा कबहुँ बनति सुखदानि।
रसमयजीवन करति है रसना रस की खानि ॥११५॥
बहु-विध-बचनावलि-जननि कलित-कला की केलि।
है रसालता की थली है रसना रस-बेलि ॥११६॥

वाणी

दोहा—

बहु-बिलास की सहचरी मंजुल-रुचि-अनुभूति।
बर-बरनी-बानी अहै मधु-मय-कथन बिभूति ॥११७॥
बीन सरिस कल-नादिनी उन्मादिनी अपार।
है गौरांगिनि की गिरा स्वर-गौरव-आगार ॥११८॥

हँसी

दोहा—

हँसे खिलति है चाँदनी बहति सुधा की धार।
दमकि जाति है दामिनी रीझत है रिझवार ॥११९॥
बिलसि मनोहर-अधर पै हँसी मोहि मन लेति।
बरबस मोह-मरीचिका डारि मोहिनी देति ॥१२०॥

मुसकान

कवित्त—

किधौं तम-बिंदु की कतार मैं सुधा की धार
किरिन कढ़ी है किधौं कालिमा-प्रतीची मैं।
कांति कैधौं हीरा की लसति पाँति-नीलम मैं
जोति बगरी है कै कलिंद्जा की बीची मैं।
हाँस-रस-स्रोत कै सिंगार-रस-बूँदन मैं
'हरिऔध' कैधौं कला मंद की मरीची मैं।
कारे-दंत-पाँति मैं लसी है मुसुकान किधौं
थिरकि रही है बिज्जु बादर-दरीची मैं ॥१२१॥

दोहा—

मीत-नयन मन-अयन मैं बरसि सरस-रस जाति।
मंद मंद महि पग धरति मंद मंद मुसुकाति ॥१२२॥
है दामिनि की दमक सी दमकति करि रस-दान।
बदन-कलानिधि-कला सी कलामयी मुसुकान ॥१२३॥
स-छवि बनावति छविहुँ को बनि सौगुन छविवान।
कुसुम-विकास-बिमोहिनी विकसित-मुख-मुसुकान ॥१२४॥
सोहति सोहीस्मिता सम मोहति मोह समान।
ललना-लाल-अधर-लसी ललक-भरी-मुसुकान ॥१२५॥

अधर

कवित्त—

कोऊ कहै अमी को निवास अमरावती मैं
कोऊ कहै कवि की कलित कवितान मैं।
कोऊ कहै अमल मयंक की मरीचिन मैं,
कोऊ कहै सिसु की सरस बतरान मैं।

'हरिऔध' कोऊ कहै मंजुल रसाल माँहिं,
कोऊ कहै गौरवी-गवैयन के गान मैं।
मेरे जान केवल निवास है अमिय केरो
कामिनी के कुसुम-समान-अधरान मैं ॥१२६॥

सवैया—

बिंब बँधूक जपा-दल बिद्रुम लाल हूँ लालिमा पै ललचाहीं।
माधुरी की समता को सदाहिं ये ऊख पियूख मयूख सिहाहीं।
का 'हरिऔध' से मानव की कथा देवता दानव हूँ बलि जाहीं।
बीर कहै किन धीर धरा अधरा अवलोकि धरातल माँहीं ॥१२७॥

बर बिद्रुम मैं कहा लाली इती कहा मंजुलता जपा ऐसी गहै।
कहा लाल मैं लाल ललाई इती समता कहा बापुरो बिंब लहै।
कहा ऊख मयूख पियूख मैं एती मिठास अहै 'हरिऔध' कहै।
जिती माधुरी कोमलता कमनीयता मोहकता अधरा मैं अहै॥१२८॥

मनसिजहूँ वाके बिना जीवन धारत नाँहिं।
सुधा मिली काको नहीं अधर-सुधाधर माँहिं ॥१२९॥
गगन-लालिमा मैं लसित कल-कौमुदी समान।
काको मुदित करति नहीं अधर-बसी मुसुकान ॥१३०॥

चिबुक

दोहा—

गिरे चिबुक की गाड़ मैं निबुक सकत मन नाँहिं।
मधुप समान परो रहत मंजुल पाटल माँहिं ॥१३१॥
देखि छके चितवत रहे मोहे कहि अनमोल।
रसिक-नयन-तिल कब सके स-तिल चिबुक को तोल॥१३२॥

मुख

कवित्त—

बीजुरी बिचारी ह्वै विकल बिलखानी फिरी
हीरक-के हार हूँ को तेज सब हरिगो।
चूर चूर भयो चोप चुन्नी की चिलकहूँ को
दुतिवारे-दीपक-दिमागहूँ उतरिगो।
'हरिऔध' बदन बनावत ब्रजेस्वरी को
बिधिहूँ को बहुरो बनाइबो बिसरिगो।
तरनि के तन में न तनिक लुनाई रही
तारन समेत तारापति फीको परिगो ॥१३३॥

दीपति दुगूनी-दुति रैन-दिन आठो-जाम
दामिनी-दमक सम परत न मंद है।
दबकि रहत देखे दीपमालिका को दीप
बारिज कुमुद पेखे लहत अनंद है।
'हरिऔध' सीरो तापकर छन छन ओप
बढ़त अपार बूझि परत न छंद है।
तेज है कि तंत्र है कि तारा है कि यंत्र है
कि राधिका-बदन है कि रवि है कि चंद है ॥१३४॥

सवैया—

आइकै व्योम बसेरो लियो अब आपनो रूप अनेक सँवारत।
ह्वै कबौं तीन कलादिक सों प्रकटै कबौं पूरी कलान को धारत ॥
राधिका-आनन की समता हित ब्योंत नये 'हरिऔध' बिचारत।
ऊबि गयो बसि बारिधि-अंक में मानों मयंक कलंक पखारत ॥१३५॥

दोहा—

छबि लखि बारति प्रान रति मोहत रहत मनोज ।
है सुंदरता-सरसि को संदर-बदन सरोज ॥१३६॥
वाकी बिभा लहे लसत अनुपम-रस-नभ-अंक ।
है बिनोद-बारीस को मंजुल-बदन मयंक ॥१३७॥

ग्रीवा

दोहा—

सरस-राग अनुराग को वाते निकसत स्रोत ।
लखे कंठ कंठा-सहित चित उत्कंठित होत ॥१३८॥
वाको कहे कपोत सम होत ललित-उर लंठ ।
हरत कंबु की कंबुता कोकिल-कंठी-कंठ ॥१३९॥

भुजा

दोहा—

बिरचित है बर-बीजुरी बिबिध-बिलास सकेलि ।
सुबरन-बरनी की भुजा है सुबरन की बेलि ॥१४०॥
काम-पास-कमनीय कै सुख-सर-मंजु-मृनाल ।
बिचलित होत बिलोकि चित बलय-बलित-भुज-बाल॥१४१॥

कलाई

सवैया—

चूरी सुचारु की चारुताई लखे चंचलता चित चौगुनी आवै ।
छंद पछेलन के फरफंद ते मंद भयो मनहूँ दिखरावै
सूधी सुगोल भई तो कहा 'हरिऔध' हियो जो महा अकुलावै ।
एरी हेरात है आई कलौ कोऊ कैसे कलाई लखे कल पावै ॥१४२॥

हथेली

दोहा—

लोक-लालिमा ते ललित लखि करतल-अवदात ।
खटके ही में रहत हैं बट के टटके-पात ॥१४४॥

अधिक लालिमा लहन हित ललकित रहि सब काल ।
रखति लाल को हाथ में बाल-हथेली-लाल ॥१४५॥

उँगली

दोहा—

चंपक-कलित-कलीन को किधौं बिराजत जूह ।
किधौं मंजु-कर कमल में बिलसत करज-समूह ॥१४६॥

कर कितने संकेत-कल काहि न करति निहाल ।
नवल-बाल की आँगुरी ईंगुर जैसी लाल ॥१४७॥

कुच

कवित्त—

श्रीफल कहेते सुख होत सपनेहूँ नाँहिं
तोख होत हिय मैं न कंदुक बखाने से ।
कंचन-कलस कों कथान को उठावै कौन
रति को सिंधोरा कहे रहत लजाने से ।
'हरिऔध' जामें बसि मत्त-मन-भृंग मेरो
कढ़त न दीखै अजौं कौन हूँ वहाने से ।
सोभा-सने सोहैं सोहैं ससि लौं सु-आनन के
सरस-उरोज ए सरोज सकुचाने से ॥१४८॥

सवैया—

सुंदर चाँद सौं भोरो-भलो मुख काको अहै भुवि मैं चित-चोरना।
गोरो-गुलाब लौं भाव-भरो तन लेत है काको भटू मन-छोरना॥
ए 'हरिऔध' अनूठी-छटा लखे कैसहूँ कोऊ सकै मुख मोर ना।
काको न ए बड़े-नैन किये बस काके हिये मैं गड़ी कुच कोर ना॥१४६॥

उदर

कै है कोऊ काम-थल चलदल-दल-अनुरूप।
कै बिलसित त्रिवली-वलित-नवला-उदर-अनूप॥१५०॥
सोहत है सरसिज-दलन सरिस सरस-छबिधारि।
लगत असुंदर मानसर सुंदर-उदर निहारि॥१५१॥

रोम-राजि

कवित्त—

उरजविलंबी कारे केस पन्नगेसन सों
केलि करि खेलि मेलि बदन बदन ते।
सुठि-सुरसरि-धार मोतीहार मैं समोद
बार बार बिहरि बिलासिनी मदन ते।
'हरिऔध' पान काज नाभि-सर को पियूख
बिसरि अपान सिलि मदन-कदन ते।
लसत न कंचुकी सकुच ढिग रोमराजि
निकसत पन्नगी पिनाकी के सदनते॥१५२॥

माला

सरपेच ह्वैकै पेच माँहिं पारै आँखिन को
बेसर ह्वै बिकल बनावै मति आन की।

'हरिऔध' बड़े बीर ह्वै की धीर वाला हरै
कनफूल उर को है कनिका कृसान की।
कामिनी तिहारी कहा तेरे तन-भूखन ह्वै
करत अनोखी कौन ह्वै है गति प्रान की।
मोल लेत माल मुकतान हौं सुन्यो पै लख्यो
मोल मन मेरो लेत माल मुकतान की ॥१५३॥

नाभी

दोहा—

काम-मथानी है किधौं कामद-रस को कूप।
कि है रूप को बर-बिवर कामिनि-नाभि अनूप ॥१५४॥
है सिंगार को कुंड कै छबि-सर-भँवर-ललाम।
रोमराजि-नागिनि-बिवर किधौं नाभि-अभिराम ॥१५५॥

पीठ

दोहा—

काम-चमोटी सी लसी चोटी की है ईठ।
कंचन-पाटी है किधौं कदली-दल है पीठ ॥१५६॥
ललना-सुंदर-पीठ पै कबरी परी लखाति।
कनक-सिला पै कै असित-नागिनि है लहराति ॥१५७॥

कटि

दोहा—

वा में वैसी मोहिनी मंजुलता है नाँहिं।
केहरि की कटि सी कहत कत कामिनि-कटि काँहिं ॥१५८॥

कहि मृनाल के तार सी कबि-कुल लेत कलंक ।
करति लालची लोचनन तिय लचकीली लंक ॥१५९॥

जंघा

दोहा—

मति-हीनन के मतन को परे मन मत मानु ।
दंभ करत ते जे कहत रंभ-खंभ सम जानु ॥१६०॥
कहा कहहिं हम जानु को जोहि रूप औ रंग ।
कनक-खंभ करि-कर किधौं मंजुल-मदन-निषंग ॥१६१॥

पिंडुरी

दोहा—

कौन देत नहिं कलभ-कर-कोमलता को टोंकि ।
सुथरी-प्यारी-पींडुरी प्यारी की अवलोकि ॥१६२॥
काको भावति है नहीं काहि लुभावति नाँहिं ।
अति-सुढार यह पींडुरी रस ढारति दृग माँहिं ॥१६३॥

गुल्फ

दोहा—

देखि मंजुता मृदुलता चित यह करत कबूल ।
गोरी के गोरे गुलुफ हैं गुलाब के फूल ॥१६४॥
परम-मनोहरता मिले मोहित मन करि देत ।
गोल गोल नवला-गुलुफ मोल काहि नहिं लेत ॥१६५॥
कै सुख-उपवन-सुमन कै गति-संपुट-अभिराम ।
कै सुंदरता-कुलुफ कै गुलुफ बड़े-छबि-धाम ॥१६६॥

एड़ी

दोहा—

वाते निकसत ही रहत वर-बिनोद-रस सोत।
कौहर सी एड़ी लखे को हरखित नहिं होत ॥१६७॥
लहि लालिमा अनार सी ईंगुर सी सब काल।
ललना की एड़ी ललित लालहुँ करति निहाल ॥१६८॥
तजि सुहावनो सब समय बनि एड़ी-अनुकूल।
दुपहर को फूलत रहत दुपहरिया को फूल ॥१६९॥

पाँव

दोहा—

ललना के पद-युगल हैं लोभनीय रमनीय।
कोमल-पल्लव से मृदुल अमल-कमल-कमनीय ॥१७०॥
निरखि मंजुता पगन की मगन होत है मार।
मुदित तिहूँ पुर को करति नूपुर की झनकार ॥१७१॥

पद-नख

दोहा—

बहु-मोहक-सुकुमारता बिकसित सी दिखराति।
गोरी-पग-अँगुरीन में बिलसति तारक-पाँति ॥१७२॥
प्यारी-पग-अँगुरीन में लसति नखन की जोति।
चंपक की कलिका किधौं मनि-गन-मंडित होति ॥१७३॥

पद्-तल

दोहा—

काम-पताका सम रुचिर सरसिज सरिस ललाम ।
ललना को पग-तल अहै चंदन-दल-अभिराम ॥१७४॥
अनुरागी-जन-उरन मैं सरस-राग भरि देति ।
तिय-पग-तल की लालिमा मुख-लाली रखि लेति ॥१७५॥

नायिका के भेद

नायिका के भेद

जाति के अनुसार चार–१ पद्मिनी, २ चित्रिणी, ३ संखिनी, ४ हस्तिनी ।
प्रकृति के अनुसार तीन–१ उत्तमा, २ मध्यमा, ३ अधमा ।
धर्मानुसार तीन–१ स्वकीया, २ परकीया, ३ सामान्या ।
वयःक्रमानुसार तीन–१ मुग्धा, २ मध्या, ३ प्रौढ़ा ।
अवस्थानुसार दश–१ खण्डिता, २ कलहन्तरिता, ३ विप्रलब्धा, ४ उत्कण्ठिता, ५ वासकसज्जा, ६ स्वाधीनपतिका, ७ अभिसारिका, ८ प्रवत्स्यत्पतिका, ९ प्रोषितपतिका, १० आगतपतिका ।

विशेष

खण्डितादि दश भेद मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा और परकीया में होते हैं । किसी किसी ने सामान्या में भी इन दशों भेदों को दिखलाया है, किन्तु सामान्या में इन दशाओं का निरूपण कुछ विद्वानों ने रसाभास माना है । मेरा विचार भी यही है, अतएव सामान्या में इन दश भेदों का वर्णन नहीं किया गया ।

जाति-सम्बन्धी भेद

१–पद्मिनी

पद्मिनी पद्म-गंधा, रति-सुन्दरी, सुकुमार-तन, अल्प रोमवती और अधिकतर गान-वाद्य-परायणा होती है ।

दोहा—

अति-सुंदर सब-रस-भरी सील-सकोच-निधान ।
कौन कामिनी लोक में है पद्मिनी समान ॥ १ ॥

२—चित्रिणी

चित्रिणी विचित्र-प्रकृति, नृत्य-गान-रता, अल्प-लज्जाशीला और परिहास-प्रेमिका होती है।

दोहा—

गाइ बजाइ दिखाइ छबि भरति हिये में जोति।
चलि कबूतरी सी तिया नयन-पूतरी होति॥ २॥

३—शंखिनी

शंखिनी कृशांगी, निर्लज्ज, और अभिमानिनी होती है।

दोहा—

अनख करति तनिकै चलति लजति न नेकौ बाल।
देखि निलजता आप ही सलज बनत हैं लाल॥ ३॥

४—हस्तिनी

हस्तिनी स्थूल-शरीर, लोम-वती, गज-गामिनी, कोपन-स्वभावा, उद्धत-प्रकृति और कटुवादिनी होती है।

दोहा—

नख-सिख भारीपन-भरो रंग-रूप अ-ललाम।
नाँहिं कामहूँ ते सरत काम-भरी को काम॥ ४॥

प्रकृति-सम्बन्धी भेद

१—उत्तमा

उत्तम-स्वभावा धर्म-परायणा, उदार-हृदया, देश-समाज-प्रेमिका, और अहितकारी होने पर भी पति की हितकारिणी स्त्री को उत्तमा कहते हैं।

पति-प्रेमिका

कवित्त—

सेवा ही में सास औ ससुर की सदैव रहै,
सौतिन सों नाँहिं सपने हूँ मैं लरति है।
सील सुघराई त्यों सनेह-भरी सोहति है,
रोस रिस रार और क्यों हूँ ना ढरति है॥
'हरिऔध' सकल गुनागरी सती समान,
सूधे सूधे भायन सयानप तरति है।
परम-पुनीत पति-प्रीति मैं पगी ही रहै,
प्रानधन प्यारे पै निछावर करति है॥१॥

सवैया—

बैन कहे करुये पिय के हरुये तिय बोलि सदा सनमानै।
दोस अनेकन देत तऊ कबहूँ अपने मन रोस न आनै॥
ना करनी ही करै 'हरिऔध' पै बाल न नाकर-नूकर ठानै।
नाह के कीने गुनाहन हूँ तिय आपनो नेह निबाहन जानै॥२॥

सौतिन की तिरछौंहीं चितौन ते होवै नहीं तनकौ तलबेली।
काम की कीरति सी 'हरिऔध' लखे रुख रूखो न होत कटेली॥
पी-अनुकूलता-बारि बिना हूँ सदा थल सीतलताहिं सकेली।
या अलबेली हिये पलुहै पल ही पल प्रीति-प्रतीति की बेली॥३॥

आपनो अंग पतंग दहै पै न दीपक-जोति को भाव जनावै।
पीतम के सँग प्यार-पगी-पतिनी नहिं पावक हूँ को सकावै॥
प्रीति-पुनीत की ऐसियै रीति महीतल मैं 'हरिऔध' लखावै।
व्याकुल ह्वै कलपै मन-मीन बिना जल ना पलकौ कल पावै॥४॥

परिवार-प्रेमिका

कबित्त—

सुधा-सने-बैन के बिधान मैं अविधि है न,
सहज-सनेह की न साधना अधूरी है।
सबते सरस रहि सरसति सौगुनी है,
भोरे-भोरे भावन ते भूरि भरी-पूरी है॥
'हरिऔध' सौति के सुहाग ते सुहागिनी है,
सास औ ससुर की सराहना ते रूरी है।
पति-पूत-प्यार-मानसर की मरालिका है,
परिवार-पूत-प्रेम-पयद-मयूरी है॥ ५॥

बर-दार बनति कुदारता निबारति है,
अनुदारता हूँ मैं उदार दरसति है।
पर-पति-पूत को स्व-पति-पूत सम जानि,
पावन-प्रतीति पूत-पग परसति है॥
'हरिऔध' परिवार-हित नव-वीरुध पै,
बिहित-सनेह-बर-बारि बरसति है।
अनरस हूँ मैं रस-बात बिसरति नाँहिं,
रस-मयी-बाल रोसहूँ मैं सरसति है॥ ६॥

बानी के समान हंस-बाहनी रहति बाल,
नीर-छीर बिमल-बिवेक बितरति है।
सती के समान सत धारि है सुखित होति,
बामता मैं बामता ते रखति बिरति है॥
'हरिऔध' रमा सम रमति मनोरम मैं,
भाव-अमनोरम ते लरति भिरति है।
पूत-प्रेम-पोत पै अपार-पूतता ते बैठि,
परिवार-प्यार-पारावार मैं फिरति है॥ ७॥

जाति-प्रेमिका

कबित्त—

सरसी समाज-सुख-सरसिज-पुंज की है,
सुरुचि-सलिल की रुचिर-सफरी सी है।
नाना-कुल-कालिमा-कलुख की कलिंदजा है,
कल-करतूत-मंजु-मालिका लरी सी है॥
'हरिऔध' बहु-भ्रम-भँवर समूह भरी
सकल-कुरीति-सरि सबल-तरी सी है।
जाति-हित-पादप-जमात नव-जीवन है
जाति-जन-जीवन सजीवन-जरी सी है॥ ८॥

भारतीय-भव-पूत-भावन-विभूति पाइ
भाव-मयी अपने अभावन हरति है।
अवलोकि अवलोकनीय-बहु-बैभव को
काल-अनुकूल अनुकूलता करति है॥
'हरिऔध' भारत को भुव-सिरमौर जानि
भावना मैं बिभु-सिरमौरता भरति है।
धारि धुर सुधरि समाज को सुधारति है
धीर धरि जाति को उधारि उधरति है॥ ९॥

देश-प्रेमिका

कबित्त—

गौरवित सतत अतीत-गौरवों ते होति
गुरुजन-गुरुता है कहती कबूलती।
मुदित बनति अवनीतल मैं फैलि फैलि
कीरति की कलित-लता को देखि फूलती॥

'हरिऔध' प्रकृति-अलौकिकता अवलोकि
प्रेम के हिंडोरे पै है पुलकित भूलती ।
भारत की भारती-बिभूति ते प्रभावित ह्वै
भामिनि भली है भारतीयता न भूलती ॥१०॥

वारती नगर पर मंजु-अमरावती कौ
नागर-निकर कौ पुरंदर है जानती ।
धेनु कौ कहति कामधेनु सम काम-प्रद
कामिनी कौ सुर-कामिनी है अनुमानती ॥
'हरिऔध' भारत-अवनि-अनुराग-वती
बिपिन कौ नंदन-बिपिन है बखानती ।
तरु कौ बतावति कलपतरु-कमनीय
मेरु कौ मनोरम सुमेरु ते है मानती ॥११॥

गौरव को गान सुने गौरव गहति बाल
पद-गुरुता ते गिरे गिरि ते गिरति है ।
देस की सजीवता ते लहति सजीवता है
जीवन-बिहीनता ते बढ़ति बिरति है ॥
'हरिऔध' भूति देखे बनति बिभूति-वती
बिपति के घेरे घोर-दुख ते घिरति है ।
भारत के भूले गात-सुधि भूलि भूलि जाति
फूले फले फूली फूली ललना फिरति है ॥१२॥

कांति-मती बनति दिवसपति-कांति ते है
रंजित करति लोक-रंजिनी रजनि है ।
सुधाधर-सुधा-सम-सलिल-सु-सिंचित है
बसुधा-विदित-रत्न-राजि-मंजु-खनि है ॥
'हरिऔध' भाव-मयी-भामिनि-बिभावना है
भुवन-बिकास-भूति-भारति-जननि है ।

भवन-प्रभूत-अनुभूत-सिद्धि-साधना है
भूतल की सार-भूत भारत अवनि है ॥१३॥

नयन में नयन-विमोहन-सुमन-छवि
मन में बसति मधु-माधव-मधुरिमा ।
कवि-कल-कंठता है बिलसति कानन में,
आनन में अमित-महानन की महिमा ॥
'हरिऔध' धी में धमनीन में बिराजति है
बसुधा-धवल-कर-कीरति-धवलिमा ।
अंग अंग में है अनुराग-राग-अंगना के
रोम रोम में है रमी भारत की गरिमा ॥१४॥

सुरसरि सम सनमानति सकल सरि
सारे सर में है मानसरता निहारती ।
सुमनस-सुमन कहति सुमनावलि को
लतिका को कल्पलतिका है निरधारती ॥
'हरिऔध' अंगना भुवन में पुनीत भनि
भारत-अवनि की उतारति है आरती ।
रजत निछावर करति रज-पुंजन पै
मंजुल-राजीव राजि पै है राज वारती ॥१५॥

पग ते गहति पग पग पै पुनीत-पथ
अमर-निकर काज कर ते करति है ।
गाइ गाइ गुन-गन सुगुन-निकेतन के
मंजु-वर लहि बर-बिरद-बरति है ॥
'हरिऔध' मानस में भूरि-कमनीय-भाव
भारत की बंदनीय-भूति के भरति है ।
सुर-धुनि-धार को परसि उधरति बाल
धरती की धूरि लै लै सिर पै धरति है ॥१६॥

कहाँ है मधुर-साम-गान मुखरित-भूमि
बानी के बिलास की कहाँ है पूत-पलिका।
कहाँ है सकल-रस-सरस-सरोज-पुंज
सुख-मूल-मानव-समाज-मंजु-अलिका॥
'हरिऔध' भारत-बिभव-बर-बायु-बल
बिकच बनै न कैसे बाला-उर कलिका।
प्रेम-सुधा बिपुल-बिमुग्ध बसुधा मैं भरि
कहाँ पै बजी है महा-मोहिनी मुरलिका॥१७॥

जन्मभूमि-प्रेमिका

कबित्त—

कनक-प्रसू है कमनीयता-निकेतन है
माननीयता-महि मदीयता की अवनी।
लोक-पति-लालित त्रिलोक-पति-लीला-थल
आलोकित-परम अलौकिकता-सजनी॥
'हरिऔध' कैसे बिरमै न बहु-मोद मानि
रमनीय-भाव मैं रमित-मन-रमनी।
जीवन-बिधायिनी है प्रान-धन-जीवन की
जननी-जनक की है जन्म-भूमि-जननी॥१८॥

कैसे सुर-सरि सुर करति असुर हूँ को
कासी क्यों बनति मुक्ति-मेदिनी-मनोहरा।
अरुचिर-दारु चारु-चंदन बनत कैसे
काँच-महि कैसे होति कंचन-कलेवरा॥
'हरिऔध' कैसे सैल लहत सती सी सुता
सिता क्यों सुहाति ह्वै सुधारस-सहोदरा।
कैसे बसुधा को बसुधापन बिदित होत
जो न होति सिद्ध-भूमि भारत-बसुंधरा॥१९॥

चकित बनति हेरि उच्चता हिमाचल की
चाहि कनकाचल की चारुता-चरमता।
मुदित करति निधि-मानता है नीरधि की
मानस-मनोहरता सुर-पुर की समता॥
'हरिऔध' मोहकता हेरि मोहि मोहि जाति
जनता-अमायिकता में है मन रमता।
महनीय-महिमा निहारि महती है होति
ममतामयी की मातृमेदिनी की ममता॥२०॥

वेद-गान-गौरवित जननी गजानन की
पति की प्रसविनी कहति गज-गमनी।
सेवति है सुर-सुरपति सेवनीय जानि
मानति है मानि दानवीय-दल-दमनी॥
'हरिऔध' पावनता भारत-अवनि पेखि
परम-पुनीत रस-पूत होति धमनी।
मन में रमै न कैसे रमा-रमनीय-धाम
राम-जन्म-महि में रमै न कैसे रमनी॥२१॥

निजतानुरागिनी।

कवित्त—

सास-असरसता अलसता बधू-जन की
अ-लसित-सकल-बिलासिता सताती है।
सुकुसुम-कोमल-कुमारन की काम-रुचि
कामिनि-अकमनीय-कामना कँपाती है॥
'हरिऔध' देखि देखि देस को पतनप्राय
परम-दुखित देस-प्रेमिका दिखाती है।
बालिका-बिबाह-विधि बिविध-बिथा है देति
बिधवा-बिबाह की अ-बिधि बेधि जाती है॥२२॥

बसन-बिदेसी की बसनता बिसरि सारी
बिबस बनेहूँ देसी-बसन बिसाहै है।
समता-बिचार मैं असमता-बिपुल देखि
पति-प्रीति-ममता को परखि उमाहै है॥
'हरिऔध' परकीयता को परकीय जानि
सकल-स्वकीयता को सतत सराहै है।
भारत की पूजनीयता को पूजनीय मानि
भारतीय-बाला भारतीयता निबाहै है॥२३॥

सुंदर-सिंदूर बिंदु होते सुंदरी है होति
पौडर कौ समझि असुंदर डरति है।
सोंधे के सु-बास ते सुबासित रहति भूरि
साबुन के परसे उसासन भरति है॥
'हरिऔध' पर के असन कौ असनि कहै
आपने बसन बेस कौ न बिसरति है।
सारी-असँवारी हूँ पहिरि पुलकति प्यारी
साया परे साया के सवाया सिहरति है॥२४॥

लोक–सेविका

कवित्त—

बनत कुलीन अकुलीन के करत काम
कुल कौ कलंकित कुलीनता करावै है।
बिधवा-बिलाप ते बिकल बसुधा है होति
बिबुध-समाज कौ बिबुधता न भावै है॥
'हरिऔध' लोक-सेविका कौ कल कैसे परै
काल की करालता न काहि कलपावै है।
लोने-लोने-लालन मैं लहति लुनाई नाँहिं
ललना-ललाम मैं ललामता न पावै है॥२५॥

कल-कानि-कलित-कुलीन-खग-कुल काँहिं
बाल है बचावति कलेस-लेस-लासा ते।
बिदलित-मानव को दलन निवारति है
दलति रहति दिल-दहल दिलासा ते॥
'हरिऔध' दुख अनुभवति दुखित देखि
जीतति है दाँव भाव-पूत-प्रेम-पासा ते।
उपवास करति बिलोकि उपवासित को
बनति पिपासित पिपासित-पिपासा ते॥२६॥

रूखी-रूखी-बातन ते रुख बदलति नाँहिं
रूखी ना परति है रुखाई देखि रूखे की।
खोवति न साख सीख देति है सखीन हूँ कौ
सुखी ना रहति सूखी नसैं देखि सूखे की॥
'हरिऔध' खूखापन काहि अखरत नाँहिं
खूखी है बनति मूठी बात सुनि खूखे की।
दुखिन को करि कै अदूखित सुखित होति
भूखित न होति बाल भूख देखि भूखे की॥२७॥

सेवा सेवनीय की करति सेविका समान
सेवन औ सेवनीयता ते सँवरति है।
सधवा को सोधि सोधि सोधति सुधारति है
बिधवा को बोधि बोधि बुधता बरति है॥
'हरिऔध' धोवति कलंकिनी-कलंक-अंक
बंक-मति-बंकता असंकता हरति है।
आनंदित होति करि आदर अनिंदित को
निंदित की निंदनीयता को निदरति है॥२८॥

मोद मानि मंद-जन-मंदता निवारति है
मानदै अमंद को है मंद मंद बिहँसति।

बरसत नेह-बारि मानस-बिरस माँहिं
असरस-चित को सरस करि सरसति ॥
'हरिऔध' बिकच-बदन अवलोकि बाल
बिकसित-कुसुम-समान बहु बिकसति ।
रहति सु-बासित सु-कीरति-सुबास ते है
बिमल-बिलास ते बिलासिनी है बिलसति ॥२६॥

धर्म प्रेमिका

कवित्त—

भजनीय-प्रभु के भजन किये भाव-साथ
यजनीय-जन के यजन काज तरसे ।
लोक अवलोकि परलोक-साधना में लगे
बचे लोभ-मूल-लोक-लालसा-लहर से ॥
'हरिऔध' परम-पुनीत अंगना है होति
बार बार नैनन ते प्रेम-बारि बरसे ।
धरमधुरीन की सहज-धारना के धरे
पग-धूरि धरम-धुरंधर की परसे ॥३०॥

लालसा रखति है ललित-रुचि-लालन की
लोक-हित खेत को लुनाई ते लुनति है ।
रुचिर-बिचार-उपबन मैं बिचरि बाल
चावन के सुमन-सुहावन चुनति है ॥
'हरिऔध' आठो-याम-परम-अकाम रहि
भुवनाभिराम-राम-गुनन गुनति है ।
सुर-लीन-मानस-निकुंज माँहिं प्रेम-रली
मुरली-मनोहर की मुरली सुनति है ॥३१॥

भाल पै भलाई की विभूति-भल बिलसति
नीकी-नीति निवसति नयन-निकाई मैं।
रसना सरस है रहति राम-रस चाखि
लसति विमलता है लोचन-लुनाई मैं॥
'हरिऔध' गरिमा ललित-गति में है लसी
गुरुता विराजति है गात की गोराई मैं।
लोक-हित-कामना सकल-काम मैं है कसी
कमनीयता है बसी कामिनी-कमाई मैं॥३२॥

२—मध्यमा

प्रियतम-दोष-दर्शिनी, किञ्चितकोपन-स्वभावा, व्यंग-विदग्धा, मर्म्म-पीड़िता, स्नेहशीला किन्तु शंकिता स्त्री को मध्यमा कहते हैं।

व्यंग-विदग्धा

कवित्त—

भौंह की हरत कमनीयता कमान कहि
लोचन लजत बान-उपमान लहि कै।
काकौ नाँहिं पीर होति कीर नासिका कौ कहे
बिंबाधर-समता-विषमता बेसहि कै॥
'हरिऔध' कैसी कांत-कल्पना है कामुक की
कर कौ कहत करि-कर है उमहि कै।
करत कलंकित मयंक-मुखी बतराइ
आकुल करत अहि काकुल कौ कहि कै॥३३॥
मोल लोल-लोचन को हरत ममोला कहि
अधर-सुधाधर मैं बिंबता लहत हैं।
अमल-कपोल को बतावत मधूक सम
कल-कंठ काँहिं कंबु कहि कै दहत है॥

'हरिऔध' न्यारी मंजु-मानस की मंजुता है
सुंदर को करत असुंदर रहत है।
बनज बनावत बदन-बिधु-रंजन को
खंजन स-अंजन-नयन को कहत है ॥३४॥

चाव है पै चाव मैं अभाव तिय-भाव को है
पूत-प्रेम-ब्यंजन-बिहीन रुचि-थाली है।
तन-सु-सदन-स्वामी सहज-सरस है न
ममता-रहित मन-उपबन-माली है ॥
'हरिऔध' लालन को ललना बिलोकि चुकीं
कर मैं न लसति ललित-नीति-ताली है।
नाँहिं है सलोनोपन मिलत सलोने माँहि
लोने-लोने-लोयन मैं नेह की न लाली है ॥३५॥

मर्म—पीड़िता

कवित्त—

बिधुर-बिबाह पै बिबाह क्यों करत जात
बिधवा क्यौं बिधवा सदैव रहि हहरति।
जन क्यौं कुजनता कियेहूँ ना कुजात होत
जनि जनि लाल है जननि काहें थहरति ॥
हरिऔध' काहें अहै अवनि-अनीति-मयी
काहें नाँहिं यामैं है सुनीति-लता लहरति।
नर की ललामता क्यौं लसति अलीन माँहिं
नारि-छबि काहें है छलीन माँहि छहरति ॥३६॥

नर जो पढ़त सो नरोतम बनत काहें
काहें सो कु-नारि होति नारि जो पढ़ति है।
पियजू के पाप काहें पापहूँ न माने जाहिं
काहें नेक चूके तिय आँखि पै चढ़ति है ॥

'हरिऔध' घूमि गये सकल-बसुंधरा मैं
काहें घरवारन की कीरति बढ़ति है।
काहें तो उघरि जात वाको लाज-चादर है
घरनी जो घरहूँ ते बाहर कढ़ति है॥३७॥

प्यारो जो न कै है कछू उपचार प्यार को तो
प्यारी कौ लौं प्यार कैकै प्यार को उबारि है।
प्रिय जो प्रतीति की प्रतीति उपजै है नाँहि
तिय तो प्रतीति-पथ कौ लौं निरधारि है।
'हरिऔध' कैसे नातो ललना-बिगार ह्वै है
बात बात मैं जो बात लालन बिगारि है।
कोऊ पति-वारी तो कहाँ लौं पति-मान कै है
कोऊ पति पतिनी की पति जो उतारि हैं॥३८॥

सवैया—

आदर आये करै अति ही बतियाँ हूँ सुधा सों भरी मुख भाखै।
बान सनेह बिगोवै नहीं कवौं सील हूँ ना अँखियान की नाखै॥
दोस दै रोस किये 'हरिऔध' के नेकहूँ ना अपने मन माखै।
पै परतीन के प्रेम-पगे-पति को पतिनी परतीति न राखै॥३९॥

३—अधमा

पति की अहितकारिणी, उद्धत-स्वभावा और कर्कशा स्त्री को अधमा कहते हैं।

कबित्त—

रूप है तो कहा कोऊ और रूपवारो नाँहिं
रखत रसालता न बनत रसीले हैं।
बनक बनाइ इतरात बात बात में हैं
रंग बिगरे हूँ बने रहत रँगीले हैं॥

'हरिऔध' नारि कहा छगुनी छबीली नाँहिं
छिति माँहिं वेई नहीं छयल छबीले हैं।
गोरी-गोरी-ललना गरे परि न भोरी बनैं
गोरे-गोरे-मरद-निगोरे गरबीले हैं ॥४०॥

नैनन के बान साँचे बान ही बनैंगे अब
कामिनी के पास बाँकी-भौंहन की असि है।
बरसि बचन गोले बिबस बनैहै महा
कसक निकासि भुज-पासन सों कसिहै ॥
'हरिऔध' रखहिं अकस न अकस-वारे
ना तो कोऊ सुबस बसेहूँ नाँहिं बसिहै।
केहरि सी लंक-वारी हरि है कलंक-अंक
नागिनि अलक-वारी नागिनि सी डँसिहै ॥४१॥

आन-बान-वारो आन-बान दिखराइ है तो
कैसे ना कमान को कमान-वारी सजि है।
नैनन के अंबु में जो अंबुता न साँची पै है
कंबु तो न कैसे कंबुता दिखाइ बजि है ॥
'हरिऔध' कामिन की कनक सनक-सारी
कनक-लतान की कनकता ते भजि है।
चंचरीक-रुचि छोरिहै न चंचरीकता तो
चंपकता चंपक-बरनि कैसे तजि है ॥४२॥

चंचल-चखन-वारी चंचल न कैहै काहि
भोरी भीरु भूरि-धूरि आँखिन में भरि है।
फंदे सी अलक-वारी फंद माँहि पारि दैहै
छैलन को फूल की छरी सी नारि छरिहै ॥

'हरिऔध' हारे हार मानि है न हार-वारी
दुलही-दुलार-वारी दूलह सों लरिहै ।
कलही नकारे गोरे गोरे-गाल-वारे सुनें
लाल मुँह लाल लाल गाल-वारी करिहै ।

धर्म-सम्बन्धी भेद

स्वकीया

विनय-शीला, सरल-स्वभावा, गृह-कर्म-परायणा और पति-रता स्त्री को स्वकीया कहते हैं ।

उदाहरण

कवित्त—

पावन-पुनीत-गूढ़-गुन-मन-भावन के
चावन सहित एरी रसना उचारि लै ।
दान सनमान मैं तिलोक मैं न ऐसो आन
मेरी कही मान यहै मन निरधारि लै ।
सकल-अलौकिकता एक 'हरिऔध' ही मैं
तूहू उर वार वार बिलखि बिचारि लै ।
प्यारे-प्यारे-मुख पै सँवारे-कारे-केसन कौं
एरे मेरे नेह-वारे नैनन निहारि लै ॥४४॥

सवैया—

कामिनी के कल-बैन सुने नहीं कानन हूँ करी कोटि-कला है ।
प्रीतम-प्रीति-प्रतीति मैं बाल सनेह-वती-सियलौं सबला है ।
ही 'हरिऔध' मयी अँखियान विराजत एकही नंदलला है ।
भाग-भरी त्यों सुहाग-भरी अनुराग-भरी नवला-अवला है ॥४५॥

स्वकीया के भेद

अवस्था के अनुसार स्वकीया के निम्नलिखित तीन भेद हैं—

१ मुग्धा, २ मध्या और ३ प्रौढ़ा ।

१—मुग्धा

समधिक-लज्जावती, काम-चेष्टा-रहित अँकुरित-यौवना को मुग्धा कहते हैं ।

उदाहरण

कबित्त—

बयन सुधा में सनि-सनि सरसन लागे,
कान परसन लागे नयन नवेली के।
आँगुरी की पोरन में लालिमा दिपन लागी,
गुन गरुआन लागे गरब गहेली के।
'हरिऔध' हेरि हेरि हियरो हरन लागी,
चाहि चितवन लागी कोरक चमेली के।
मंजु छवि छिति तल पर छहरान लागी,
छूअन छवान लागे केस अलबेली के।

कर पग जल-जात सरिस भये हैं मंजु
गति मैं भई है सोभा सरस-नदन की।
आनन अमंद-चंद सरिस दिपन लाग्यो
जाहि सों जगी है जोति अतन-मदन की।
'हरिऔध' यौवन सरद की समैया पाइ
कुंद की कली लौं भई पाँति है रदन की।
चंचलता आँखिन बसी है खंजरीट जैसी
चाँदनी सी फैली चारु-चाँदनी बदन की ॥४७॥

सवैया—

पीन भये कुच कामिनी के दोऊ केहरि सी कटि खीन भई है।
बंकता भौंहन माँहि ठई मुख पै नव जोति-कला उनई है
जोबन अंग दिप्यो 'हरिऔध' गये गुन हूँ अब आय कई हैं।
केस लगे छहरान छवान छ्वै कानन लौं अँखियान गई हैं ॥४८॥

मुग्धा के भेद

ज्ञान के अनुसार मुग्धा के दो भेद हैं—१ अज्ञातयौवना और २ ज्ञातयौवना

अज्ञातयौवना

जिस मुग्धा को अपने यौवन के आगमन का ज्ञान नहीं है, उसे अज्ञात यौवना कहते हैं।

अज्ञातयौवना

ऊवि गई हौं बतावै कहा नहीं क्यों हँसि मौन की बान गही है।
घेरत हैं 'हरिऔध' कहा हमैं नूतनता हम कौन लही है।
ए बजमारे न टारे टरैं कहा औरन की इनैं पीर नहीं है।
ठौर न भौंरन को है कहूँ किधौं भौंरन की मति भूलि रही है ॥४९॥

ज्ञातयौवना

जिस मुग्धा को अपने अंकुरितयौवना होने का ज्ञान होता है उसे ज्ञातयौवना कहते हैं।

सवैया——

चंचलता ही न आनि ठनी कछु होन लगी अँखिआन सों चूको।
बीर बनाव-सिंगार हूँ मैं अनुराग भयो सो लखात बधू को।
पी 'हरिऔध' की बात चले पगि लाग मैं लागी बिलोकन भू को।
चोज सों ऊँचे उरोजन हेरि लखै लगी रोज सरोजन हूँ को ॥५०॥

ज्ञातयौवना के भेद

ज्ञातयौवना के दो भेद हैं—१ नवोढ़ा और २ विश्रब्धनवोढ़ा।

नवोढ़ा

लज्जा और भय के आधिक्य से जो पति का संसर्ग नहीं चाहती, वह नायिका नवोढ़ा कहलाती है।

उदाहरण

दोहा—

इत उत दौरि दुरति रहति दूरहि ते बतराति ।
पिय तन-छाँह बनन चहत तिय लखि छाँह सकाति ॥५१॥

बरवा—

करि चतुरैया चाहत पकरन बाँह ।
छ्वै नहिं सकत छयलवा पै तन छांह ॥५२॥

विश्रब्धनवोढ़ा

रति में अल्प अनुराग और पति में कुछ विश्वास जिसे हो जाता है उस नायिका को विश्रब्धनवोढ़ा कहते हैं ।

उदाहरण

सवैया—

प्रीतम को गुन जानै नहीं तवहूँ सुनि नाम लजान लगी है ।
कानन को 'हरिऔध' कही रस की बतिया हुँ सुहान लगी है ।
राखति काम को चाव नहीं तऊ काज की ऐसी सु-बान लगी है ।
संक समेत मयंक-मुखी पिय-मंजुल-अंक मैं जान लगी है ॥५३॥

दोहा—

चौंकति चकित बनति बिहँसि बितरति बहु आनंद ।
चंद-मुखी अब चाव सों चितवति पिय-मुख-चंद ॥५४॥

२—मध्या

जिस नायिका में लज्जा और काम-वासना समान होती है उसको मध्या कहते हैं । यह दशा सूक्ष्म और अचिरस्थायिनी होती है ।

उदाहरण

सवैया

बैठी हुती सखिआन मैं बाल बड़ी अँखिआन मैं अंजन लाइकै ।
चारु-कपोलन पै छिटकी अलकैं छवि देत हुतीं छहराइकै ।
बात-रसीली सुनाइ रसे 'हरिऔध' हँसे इतनेहि मैं आइकै ।
नार नवाइ सकाइ रही मुसकाइ रही दृग मोरि लजाइकै ॥५५॥

दोहा—

रहि रहि उमगत रहत उर सकुच ताहि गहि लेति ।
तिय चाहति पियसों मिलन लाज मिलन नहिं देति ॥५६॥

३—प्रौढ़ा

सम्पूर्ण काम कला में निपुण किञ्चित् लज्जावती नायिका को प्रौढ़ा कहते हैं ।

उदाहरण

कवित्त —

कंचुकी छोरि कसे कुच की मुकतान के मंजु-हरान उतारी ।
दूरि कै दोऊ-भुजान के भूखन मंजु-मनोहर बैन उचारी ।
अंक असंक भरे 'हरिऔध' कों रीति गहे रति की अति प्यारी ।
काम-कलोल मैं काल बितावति बाल-बिलोल-बिलोचन-वारी॥५७॥

दोहा——

कबहूँ कबहूँ कामिनी रखति लाज सों काज ।
तन मैं मन मैं नयन मैं अतन विराजत आज ॥५८॥

प्रौढ़ा के भेद

प्रौढ़ा के दो भेद है–१ रतिप्रीता २ आनन्दसम्मोहिता ।

रतिप्रीता

जिसको रति से अधिक प्रीति होती है उसे रतिप्रीता कहते हैं।

दोहा——

भरे उमंग परे रहहु कहाँ भयो पिय भोर।
हैं तमचुर को रव नहीं बोलत तम मैं चोर॥

आनन्दसम्मोहिता

रति-सुख-जनित आनन्द से मोहित नायिका को आनन्दसम्मोहिता कहते हैं।

उदाहरण

दोहा——

नाना केलिकला करति लहे लाल सुख-कंद।
रोम रोम मैं भरि बहत वाको उर-आनंद॥६०॥
अंग राग आनंद को अंग अंग मैं पोति।
रस-बस ह्वैह्वै कामिनी काम कामिनो होति॥६१॥

मध्या और प्रौढ़ा के भेद

मान-भेद के अनुसार मध्या और प्रौढ़ा के तीन तीन भेद होते हैं, अर्थात् १ धीरा २ अधीरा ३ धीराधीरा।

१—धीरा

नारी-विलाससूचक चिह्नों को देखकर धैर्य के साथ सादर कोप प्रकाश करनेवाली नायिका को धीरा कहते हैं, उसके दो भेद हैं-मध्या-धीरा और प्रौढ़ा धीरा।

मध्याधीरा

सादर व्यंग बचन द्वारा रोष प्रकट करनेवाली मध्याधीरा कहलाती है।

उदाहरण

कवित्त—

मिलि मिलि मोद-वारी-मुकुलित मल्लिका सों
कुंज कुंज क्यारिन कलोल करि फूले हो।
पान कै प्रकाम-रस आम-मंजरीनहूँ के
उर-अभिराम को अराम उनमूले हो।
'हरिऔध' ठौर ठौर भौंरि झूकि झूमि झूमि
चूमि चूमि कंज की कलीन को कबूले हो।
तजि मह-मही-मंजु-मालती-चमेलिन को
कौन भ्रम बेलिन भंवर आज भूले हो॥६२॥

सवैया—

चौगुनी-चंचलता हूँ किये हमैं चाव ही सों चुप ह्वै रहनो है।
औगुन की बतियानहूँ मैं 'हरिऔध' सदा गुन ही गहनो है।
भाव तिहारे भलेई अहैं हमैं भूलि न भौंर कछू कहनो है।
फेरी करौ कै करौ जिनि तेरी सरोजिनि को सबही सहनो है॥६३॥

प्रौढ़ाधीरा

प्रकट में मान का कोई भाव न दिखलाकर संयोग-समय उदासीनता ग्रहण करनेवाली नायिका प्रौढ़ा धीरा कहलाती है।

उदाहरण

सवैया—

आवत ही विकसौंहैं मिली अलसौंहैं बिलोकि नहीं बदल्यो रुख।
बैन हरे हरे बोलि सुधा-सने वैसहीं बाल दियो पिय को सुख।
पै रचे केलि-क्रिया 'हरिऔध' के दावि सकी नहीं अंतर के दुख।
छोरन देत न कंचुकी के बँद जोरन देत नहीं मुख सों मुख॥६४॥

२—धीराधीरा

नारी-विलास-सूचक चिन्हों को देखकर कुछ गुप्त और कुछ प्रकट कोप दिखलानेवाली नायिका धीराधीरा कहलाती है। इसके भी दो भेद हैं—मध्या धीराधीरा और प्रौढ़ा धीराधीरा।

मध्या धीराधीरा

रोदन सहित व्यंग वचन कहनेवाली नायिका धीराधीरा कहलाती है।

उदाहरण

सवैया——

भोर भये पै पधारे कहा भयो मेरी सदा सुख ही की घरी है।
परी कछू 'हरिऔध' करैं हमैं तो उनकी परतीति खरी है।
बूझि विचारि कहै किन बावरी बीच ही मैं कत जाति मरी है।
साँवरे प्रेम पसीजि परी नहिं मो अँखिया अँसुआन-भरी है ॥६५॥

दोहा——

ए उमड़े अँसुआ नहीं कत कीजै सखि माख।
अरी सनेह-भरी लसै यह तिल-वारी आँख ॥ ६५ ॥

प्रौढ़ा धीराधीरा

मान करके तर्जन-गर्जन-पूर्वक व्यंग-वचन-बाण द्वारा पति को विद्ध करनेवाली नायिका को प्रौढ़ा धीराधीरा कहते हैं।

उदाहरण

सवैया——

बतियान बनाये नहीं बनिहै ढिग आवो नहीं खरे दूर रहो।
अपने मनही की करी तो करी कत काहु के बैन अनैसे सहो।
'हरिऔध' तुमैं हम जानती हैं हकनाहक ही हमको न दहो।
चले जाहु गुनाह भई तो भई तुम नाह न बाँह हमारी गहो ॥६६॥

३—अधीरा

नारी-विलास-सूचक चिह्नों को देख अधीर हो प्रत्यक्ष रोष करने-वाली स्त्री को अधीरा कहते हैं। उसके दो भेद हैं—मध्या अधीरा और प्रौढ़ा अधीरा।

मध्या अधीरा

रुष्ट होकर कटु भाषण करनेवाली नायिका को मध्या अधीरा कहते हैं।

उदाहरण

सवैया——

नीकी नई निपुनाई करी अँखिआन को लागति है अति प्यारी।
भोर हो भाग सों भाव भरी यह आज भली करतूति निहारी।
रीझि रही तजि खीझि सबै 'हरिऔध' छकी मति हेरि हमारी।
कौनसी बाल है लाल कहो यह माल बिना गुन गूंधनवारी॥६७॥

प्रौढ़ा अधीरा

मान करके तर्जन-ताड़न द्वारा कम्पित हो हो रोष प्रकट करनेवाली नायिका को प्रौढ़ा अधीरा कहते हैं।

उदाहरण

सवैया——

रोस कै काँपति क्यों इतनी भला काहु को यों पत कोऊ उतारै।
कौनसी चूक है ऐसी परी मुख जो अजौं तू अपनो न सम्हारै।
ऐसी न लालिमा है अँखिआन की जो 'हरिऔध' पै आँखि न पारै।
सूल सी सालति ऐसियै भूल अरी पिय को मति फूल सों मारै॥६८॥

स्वभाव-सम्बधी भेद

नायिका के स्वभाव-सम्बन्धी तीन भेद बतलाये गये हैं—१ अन्यसुरति-दुःखिता, २ वक्रोक्तिगर्विता और ३ मानवती। यह भेद मध्या और प्रौढ़ा ही में माना गया है। परकीया और सामान्या में भी गृहीत हो सकता है।

अन्यसुरतिदुःखिता

अन्य स्त्री के शरीर पर प्रिय-संभोग चिह्न देखकर दुःख प्रकाश करनेवाली नायिका अन्यसुरतिदुःखिता कहलाती है।

उदाहरण

कबित्त—

पान-वारे-ओठन की ललिमाहूँ लूटी गई
गारत भयो है रंग गोरे-गोरे-गाल को।
आली तेरे आनन को ओपहूँ परानो कहूँ,
मरदि गयो है मान तेरी मंजु-चाल को॥
'हरिऔध' सारे-अंग सेद मैं रहे हैं डूबि
ऊबि ऊबि सासैं भरै भाखत न हाल को।
एरी रूप-वारी कौने तोपै बटपारी करी
एरी बारी भोरी कौने लूट्यो तेरे मालको॥६९॥

दोहा—

परम निठुर पै जात ही भयो कहा तोहि बीर।
कत तू पीरी परि गई उठी कौन सी पीर॥ ७०॥
कत हौं पठई कत गई तू वापै करि प्यार।
अरी रीझि कैसे गयो तो पै मो रिझवार॥ ७१॥
तू बड़भागिनि ह्वै गई भयो भाग मो मंद।
अरी चन्द-बदनी बनेउ कत फीको मुख-चंद॥ ७२॥

वक्रोक्तिगर्विता

वक्रोक्तिगर्विता के दो भेद हैं रूपगर्विता और प्रेमगर्विता ।

रूपगर्विता

रूप का गर्व रखनेवाली नायिका रूपगर्विता कहलाती है ।

उदाहरण

कवित्त—

छोरि छोरि आम की रसीली मंजरीन काहिं
निकसि गुलाव के प्रसून रस-वारे से ।
गुंजरत याही ओर देखु वह आवत है
अति-कमनीय कंज-वन के किनारे से ।
'हरिऔध' की सौं आइ अवहीं मचैहै धूम
गूँजि गूँजि आनन-सुवास के सहारे से ।
भूलि अव भौन ते न वाहर कढ़ौंगी कवौं
ऊवि गई एरी या मलिन्द मतवारे से ॥७३॥

सवैया—

पंकज चन्द लखे सकुचै मुख सौंहैं मयंक हूँ लाज गही है ।
मोहकता मम आनन लौं अजहूँ जलजातन नाँहिं लही है ।
गोल-कपोल विलोचन-लोल-सरोजन में 'हरिऔध' नही है ।
एते बिभेद भयेहूँ कहा इन भौंरन की मति भूलि रही है ॥७४॥

दोहा—

क्यों हूँ सहि लीनी कहे कुंद-कली लौं दंत ।
मो मुख कहे मयंक सम होत कलंकित कंत ॥ ७५ ॥

बरवा

रजनीपति-छबि अँखिया निरखि लजाय ।
कैसे मोर छयलवा रहत लुभाय ॥ ७६ ॥

प्रेमगर्विता

पति-प्रेम का गर्व रखनेवाली स्त्री प्रेमगर्विता कहलाती है।

उदाहरण

साजि साजि बीरी पानदान भरि राखै
खासे-खासदानहूँ मैं लाइ अतर धर्‌यो करै।
मानत न लै लै साज साजत रहत सेज
तानत बितान जाते सुमन झर्‌यो करै।
'हरिऔध' भूखन हूँ सकल सजाइ
मंद मंद बतराइ मोद मन मैं भर्‌यो करै।
चहल पहल परिचारिका न हूँ के रहे
महल हमारे मंजु-टहल कर्‌यो करै ॥७७॥

बिमुख मयूख ते ह्वै ऊबि ऊख-रस हूँ ते
अधर-पियूख ही को परकि पियो करै।
आन न बिलोकै हेरि आनन-मनोहर को
तानन सुनाइ मोहि प्रानन लियो करै।
'हरिऔध' कारी सटकारी तमतोमवारी
जोहि जोहि जोमवारी जुलफैं जियो करै।
प्यारे-प्यारे-मन-वारे मोहित-करनहारे
सौतुक हमारे केते कौतुक कियो करै ॥७८॥

मानवती

प्रिय का अपराध सूचित करनेवाली चेष्टा जिस स्त्री में पाई जाती है उसे मानवती कहते हैं।

उदाहरण

कबित्त——

किती कामिनीन वारे रसिक कलानिधि सों
कालिमा लगी ना कबौं कौमुदी-कहानी मैं ।
मदमाते भृंगन सों माखै मालती हूँ नाँहिं
भाखै नामसूसि रूसि मरी मुरझानी मैं ।
'हरिऔध' की सौं कही मानु एरी मानवारी
बतियाँ न मान की हैं तनकी निसानी मैं ।
करत गुमान तू तो कैसे रैहै अरमान
मान तू करत तो करत मनमानी मैं ॥७९॥

सवैया——

कछु मोसों भई तकसीर नहीं हठ कै हकनाहक तू न अरै ।
'हरिऔध' है सूधो सदा को कहा करि कै छल छंदन ताको छरै ।
मनमानै हमारी कही कबहूँ प मया कै न मोसों मिजाज करै ।
यह कैसी कुबानि तिहारी परी जो घरी घरी तासों तनेनी परै ॥८०॥

ज्येष्ठा-कनिष्ठा

कतिपय विवाहिता स्त्रियों में पति को जो सबसे अधिक प्यारी हो उसको ज्येष्ठा और अन्य स्त्रियों को कनिष्ठा कहते हैं ।

दोहा——

पिय जिय राजी भो उठी सजी सौति उर पीर ।
मँजी रही कब की जो यों बजी मंजु-मंजीर ॥८१॥

कबित्त——

सुन्दर सुहाग की सराहना न मोते होति
तेरे मंजु-भागहूँ की गरिमा अथोर है ।

भोरे भोरे भाव हैं अभाव-हारी 'हरिऔध'
चरचा तिहारे चावहूँ की चहुँ ओर है।
आलय मैं केती आला-आला-अलबेली अहैं
तिहारे निरालापन ही को तऊ सोर है।
प्रीतम बँध्यो है प्यारी तेरे प्रेम डोरही मैं
तेरी नैन-कोरही मैं मैन की मरोर है ॥८२॥

परकीया

जो स्त्री गुप्त रूप से परपुरुष की अनुरागिणी होती है उसे परकीया कहते हैं।

उदाहरण

कबित्त—

चहूँ ओर चरचा चवाइन चलायो आनि
पायन परी है खरी-बेरी लोक-लाज की।
गुरु-जन हूँ की भीर तरजन लागी, परी
बरजन ही की बानि आलिन-समाज की।
हाय! 'हरिऔध' हूँ से अपने पराये भये
सूझति न मोको कोऊ सूरति इलाज की।
कढ़ति न क्यों हूँ रोम रोम मैं समाई वह
सूरति-सलोनी-मनभाई ब्रज-राज की ॥८२॥

आँसुन मैं डूबि डूबि जावैं टकलावैं नाँहिं
ऊबि अकुलावैं जो पै धीरज बँधाइये।
'हरिऔध' छबि पै छकहिं छलकहिं छूटि
छूटि ललकहिं जो पै छनक न लाइये।
थिर ना रहहिं लोक-लाजहिं बहहिं भूलि
सौहैं ना लखहिं जो पै पलटि लखाइये।
कबहूँ जो रोचन-तिलक-वारे-साँवरे पै
छोरिकै सकोचन ए लोचन लगाइये ॥८३॥

सवैया—

दुख आपनो कासों कहौं सजनी सदा साथ लगी तो उपाधै रही।
सबकी सब भाँति रही सहतै तबहूँ रुचि तो पल आधै रही।
कब प्यार कियो कपटी 'हरिऔध' लगी नितही यह ब्याधै रही।
मुखबोलन को हौं सदा तरसी जिय सूधी-चितौन की साधै रही॥८४

कान ए का न करैं फिर क्यों सुनि तानन हीं इन बानि बिगारी।
मोहि गयो मन-मोहन पै तो भई तबहूँ मन सों मन-वारी।
पै हमैं बूझि परी ना अजौं 'हरिऔध' की सौं बतिया यह न्यारी।
बावरी कैसे रँगी रँग-लाल मैं मो अँखियान की पूतरी-कारी॥८५॥

कल कानि रमी करि कौन कला ललना-कुल आकुल-आनन मैं।
'हरिऔध' नयो रस काने भरयो रसिया के अलौकिक-गानन मैं।
किन नाई सुधा बसुधा-तल की मुरली की मनोहर-तानन मैं।
अलि मोहनी आनि कहाँ ते बसी मनमोहन-मोहन-आनन मैं॥८६॥

दुख-बारि बिमोचत नैन रहैं अहै चैन न मैन के बानन मैं।
पथ-प्रेम का छेम भरो है नहीं अहै नेम न नेह-निदानन मैं।
'हरिऔध' है योग बियोग-सनो अहै छोह नहीं छबिमानन मैं।
चतुराइन की चरचा है कहा अहै चूक भरी चतुरानन मैं॥८७॥

दोहा—

हिलिमिलि वे चलि जात हैं ए दृग रहहिं बिसूरि।
नैननहूँ को देखियत नैनन पारत धूरि॥८८॥

मो नैनन बेलमाइ ए नैन करत उतपात?
का अजगुत की बात जो जाति जाति मिलि जात॥८९॥

चाह-भरी-अँखियान ते हम चितवत तुव ओर।
पै न चूकि चितयो कबौं तू एरे चित-चोर॥९०॥

विकत बिपुल-आकुल रहत बहँकत बनत अयान ।
बंसी-तानन कान सुनि नयन निरखि मुसुकान ॥६१॥
लौटावत लूटी परी लौटि लपेटे भाग ।
लटपटात लोयन गये बँधे लटपटी पाग ॥६२॥

बरवा--

झलही मोर ननदिया बरबस आय ।
बोलति बोल बिरहिया जिउ जरि जाय ॥६३॥
खान पान सुधि भूली गयहु अपान ।
टप टप टपकत अँसुआ दोउ अँखियान ॥६४॥
बिसरति नाँहिं सनेहिया तजत न आन ।
जल बिन तलफि मछरिया त्यागत प्रान ॥६५॥
बढ़ति जाति बिकलैया निसि न सिराति ।
दिन दिन सजनी देहिया छीजति जाति ॥६६॥

परकीया के भेद

परकीया नायिका के दो भेद हैं-ऊढ़ा और अनूढ़ा । इन दोनों के भी दो-दो भेद हैं-उद्बुद्धा और उद्बोधिता ।

ऊढ़ा

जो विवाहिता स्त्री गुप्त रीति से दूसरे से प्रीति करती है उसे ऊढ़ा कहते हैं ।

उदाहरण

कबित्त--

बिलोकेहूँ बिपुल बिहाल ना गहैं बिराम
बान सखिआन की परी है बरजन की ।

तोखैं ना तनिक तात तमकि तनेने होंहिं
बात हित नात की है काँत तरजन की।
एरी बीर 'हरिऔध' निपट अधीर कियो
पीर उर आनत न लाख लरजन की।
भोरी बनी बिपुल बिथोरी बिस बोरी बनी
जरो री निगोरी ऐसी लाज गुरजन की ॥९७॥

बारि के भरेहूँ तोख लहत न कैसहूँ हैं
हँसिबो न जानैं ऐसी महत-उदासी हैं।
लोक-लाजहूँ ते काज राखत कछू ना कबौं
गाज के परे हूँ तेरी पूरन-उपासी हैं।
'हरिऔध' औरन की चाह सपने हूँ नाहिं
तेरे प्रेम- बूँद ही की अनुदिन आसी हैं।
उघरी ए आँखिया हमारी ऐन-चातकी सी
एरे घनश्याम तेरे रूप-रस प्यासी हैं ॥९८॥

सवैया--

बावरो सो मन मेरो भयो रहै भूलि न भावत भौन बसेरो।
पीर सी होति रहै हियरे दुख पावत पातकी-प्रान घनेरो।
क्यों हूँ नहीं 'हरिऔध' कहूँ लगै ऊबत है जियरो बहु तेरो।
एरी न जानत मो पै कहा कियो पीतम मेरी परोसिनी केरो ॥९९॥

बीर अधीर भई तो कहा परी पीर भरी छतिया अब चाँपनी।
प्रीति रतीक न जा 'हरिऔध' मैं ताको प्रतीतिकरी बनी पापिनी।
या अपकीरति की बतिया निज हाथन मोहिं परी सखि थापनी।
मो पतिआन पै गाज परै पति-आन के हाथ गई पति आपनी ॥१००॥

अनूढ़ा

जो अविवाहिता स्त्री किसी पुरुष से गुप्त प्रीति करती है उसे अनूढ़ा कहते हैं ।

कबित्त——

संकुचित भौंहैं करि सोचति कछू है कबौं
कंटकित गात होत कबौं गरबीली को ।
ढरकि रहे हैं सेद-कन रोम-कूपन सों
छाम ह्वै गयो है तन सकल छबीली को ।
'हरिऔध' कहै डूबि डूबि मन काहें जात
गहन लगी क्यों ऊबि ऊबि गति ढीली को ।
लहि लहि लाज कौन काज भरि भरि आवै
रहि रहि आज नैन ललना रसीली को ॥१०१॥

सवैया——

सुनती बतिया सखियान हूँ की गुरु लोगन हूँ की कही करती ।
नहिं बारि बहावती आँखिन सों अपने उर धीरज हूँ धरती ।
हकनाहक ही हठ कै 'हरिऔध' हितूनहूँ सों ना कबौं अरती ।
अरी वा मन-भावन साँवरे के सँग कैसहूँ भाँवरैं जो भरती ॥१०२॥

सुंदर चोकनो चाव भरो अलबेलो अलौकिकता को सहारो ।
लाइ हिये दुख-मेटनवारो छबीलो छकी-अँखियान को तारो ।
सूधो सजीलो सुजान गुनी 'हरिऔध' धरातल गौरववारो ।
बीर बताय दै क्यों मिलिहै वह भावतो बालपने को हमारो ॥१०२॥

उद्‌बुद्धा

अपनी इच्छा से उपपति से प्रेम करनेवाली परकीया को उद्‌बुद्धा कहते हैं ।

कबित्त——

मंद मंद समद-गयंद की सी चालन सों
ग्वालन लै लालन हमारी गली आइये।
पोखि पोखि प्रानन को सानन सहित
इन कानन को बाँसुरी की तानन सुनाइये।
'हरिऔध' मोरि मोरि भौंहैं जोरि जोरि दृग
चोरि चोरि चितहूँ हमारो ललचाइये।
मंजुल-रदनवारो मुद के सदनवारो
मदन-कदनवारो बदन दिखाइये ॥१०३॥

काको सुत कैसी छबि धारत बसन कैसे
कैसी बानी बोलि को पियूख बरसावै है।
जानत जुगुत कैसी मोहत कहाँ धौं करि
मंद-मुसुकान काको मन अपनावै है।
'हरिऔध' की सौं कही मानु चलु देखैं नेक
काको रूप कामिनी को बावरी बनावै है।
काके बस ब्रज की बिलासिनी भई हैं बीर
कौन बनमाली बन बाँसुरी बजावै है ॥१०४॥

सवैया——

हम कैसी करैं कितको चलि जायँ महा दुख मैं हमैं पारती हैं।
हरिकै छल सों सिगरो कुलकानि बिचारन हूँ को बिगारती हैं।
'हरिऔध' न मानती हैं छनहूँ कबौं सूधेहूँ नाँहिं निहारती हैं।
यह रावरी नेह-मयी अँखिया हमैं बावरी सी किये डारती हैं ॥१०५॥

साँझ सकारे मया करिकै कबहूँ गुरु लोगन के अनदेखे।
आपनी या छबि मैन-मयी दरसायो करौ हित कै हित लेखे।
नातो अहो 'हरिऔध' सुनो तन रैहै नहीं पतिआन के पेखे।
प्यारे न मानती हैं अँखियां बिन रावरी साँवरी सूरत देखे ॥१०६॥

उद्बोधिता

उपपति-चातुरी से प्रेरित होकर प्रीति करनेवाली नायिका को उद्-बोधिता कहते हैं।

उदाहरण

सवैया—

मोको बिलोकत ही अपने मन मैं सुख मानि महा-उमगानी।
आसन दीनो समादर कै मुख बोलि हरे हरे मंजुल-बानी।
सील के पेचन माँहि परी 'हरिऔध' सनेह सनी सकुचानी।
प्यारे तिहारी प्रमोद भरी पतिआ पढ़िकै पुलकी पतिआनी ॥१०६॥

परकीया के छः भेद

व्यवहार और कार्य-कलाप सम्बन्ध से परकीया छः प्रकार की होती है १ गुप्ता, २ विदग्धा, ३ लक्षिता, ४ कुलटा, ५ अनुशयाना और मुदिता ६।

१—गुप्ता

पर-पुरुष-विहार-सम्बन्धी क्रिया को गोपन करनेवाली परकीया गुप्ता कहलाती है, वह तीन प्रकार की होती है—१ भूतगुप्ता, २ वर्तमानगुप्ता और ३ भविष्यगुप्ता।

भूतगुप्ता

भूतकालिक विहार गोपन करनेवाली भूतगुप्ता कहलाती है।

उदाहरण

दोहा—

भाग जगावन काज मैं माँगन गई भभूत।
कहाँ करौं भोरे-जनन काँहिं भिर्‌यो जो भूत ॥ १०७ ॥
सुनत हुती मैं रसिक-जन हुतो सरस बतरात।
मोहि कलंकित करि कहति कत कलंक की बात ॥ १०८ ॥

वर्त्तमानगुप्ता

बर्तमानकालिक विहार गोपन करनेवाली वर्तमानगुप्ता कहलाती है।

उदाहरण

कवित्त——

टूक टूक कीनी मेरी कंचुकी हूँ कोरवारी
सारी-जरतारी फारी जेवर नसायो है।
तिलरी हूँ मंजु मनि मोतिन की तोरि डारी
बेनी हूँ बिथोरि डारि छोरि दधि खायो है।
'हरिऔध' त्रासन ते काँपत करेजो अजौं
साँसु न कढ़ति आँसु आँखिन मैं छायो है।
खूंत-भरो निपट-कुचाली कूर-करतूत
कैसो या सपूत आली काहू घर जायो है ॥१०९॥

दोहा——

गिरि ते गिरत निहारि कै पकरि लियो प्रिय मोहि।
तू बौरी सी कत बकति भयो कहा है तोहि ॥११०॥

भविष्यगुप्ता

उदाहरण

दोहा——

जो कुंजन जैहौं नहीं किमि लैहौं दल फूल।
का कैहौं अनुकूल जन जो ह्वैहैं प्रतिकूल ॥१११॥
बर पूजन जैहौं न क्यों है बरसाइत कालि।
छल-छंदी कैहै कहा मो पै कीच उछालि ॥११२॥

२—विदग्धा

चतुराई और बुद्धिमता के साथ पर-पुरुष-विहार-सम्बन्धी कार्य-

साधन करनेवाली परकीया को विदग्धा कहते हैं—उसके दो भेद हैं—वचनविदग्धा और क्रियाविदग्धा ।

वचनविदग्धा

पर-पुरुष-विहार-सम्बन्धी कार्य-साधन में वचन-चातुरी से काम लेने-वाली परकीया ' वचनविदग्धा, कहलाती है ।

उदाहरण

कवित्त—

बैन ननदी के सुनि सूल सी उठन लागी
देवर के तेवर करेजो मेरो हूलिगो ।
सासु की सुने पै आँखि आँसु ढरकन लाग्यो
सौतिन की बातन हमारो पेट फूलिगो ।
हेरि 'हरिऔध' टेरि सखिन सुनाई बाल
जात हौं तहाँई जितै मन उनमूलिगो ।
तट-कालिंदी पै बंसी-बट के निकट बीर
नीर भरिबे को घट घाट ही पै भूलिगो ॥११३॥

क्रियाविदग्धा

क्रिया-चातुरी से पर-पुरुष-विहार-सम्बन्धी कार्य साधन करनेवाली परकीया क्रियाविदग्धा कहलाती है ।

उदाहरण

दोहा—

चपल-नयन चित-चोर को चितवत लखि चहुँ ओर ।
कै मंजुल-मंजीर–ध्वनि सरस-करी दृग-कोर ॥११४॥

३–लक्षिता

जिस परकीया का परपुरुषानुराग लक्षणों से प्रकट हो जाता है उसे लक्षिता कहते हैं ।

उदाहरण

कवित्त--

नैन मदमाते बैन कछु अलसाते कढ़ैं
उर में उमंग अधिकाते की दुहाई है।
कंप होत गात ना समात कंचुकी में कुच
आनन लखात तेरे अजब-लुनाई है।
'हरिऔध' हेतु बीर बावरी बनी सी डोलै
धरति न धीर कैसी करति ढिठाई है।
रंग ढंग दीखे बूझि परत कुरंग-नैनी
आज तेरे अंगन अनंग की चढ़ाई है ॥११५॥

बिहँसित-बदन प्रमोद-पुंज-पगे-बैन
बड़ी बड़ी आँखि ते बिनोद बरसत है।
केसरित-कलित-कपोल. केस छूटे लसैं,
सीकरित-अधर दुगूनो सरसत है।
'हरिऔध' मंद-मंद-मंजु-मंथरित-गौन
ताकि रति-रौनहूँ तिगूनो तरसत है।
आनँद-उमंगवारी एरी संगवारी बाल
तेरे अंग आज रंग औरै दरसत है ॥११६॥

४—कुलटा

अनेक-पुरुष-रता, व्यभिचारिणी, काम-वासना मयी स्त्री को कुलटा कहते हैं।

उदाहरण

सवैया--

एक को भौंह मरोरि लख्यो कह्यो एक सों हो तुम तो निरमोही।
एक सों नैन मिलाइ कै बोली लखो नभ कारी घटा किमि सोही।

चाव सों एक को आइ गह्यो उमड़े घन को झरलावत जोही।
एक सों भाख्यो बिलासिनि यों किन भींजत आइ बचावत मोही॥११७॥

८—अनुशयाना

संकेत-स्थल के नष्ट होने से संतप्त रमणी को अनुशयाना कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—१ संकेतविघट्टना (वर्तमान), २ संकेतनष्टा (भावी) तथा ३ रमणगमना (भूत)।

संकेतविघट्टना

वर्त्तमान संकेतस्थल नष्ट हाने से दुःखित ललना को संकेतविघट्टना कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

कहा भयो जो ह्वै गई लता-बिहीन निकुंज।
घर समीप बिलसत अहैं अजौं घने-तरु-पुंज॥११८॥
सूने-सदनन के नसे चूर भयो कत चित्त।
बहु-बिहार-उपबन अहैं अजौं बिहार-निमित्त॥११९॥

भाविसंकेतनष्टा

कत सिसकति ह्वैहै उतै रसिक-जनन ते भेंट।
हैं तेरी ससुरारि मैं सुंदर-सजे-सहेट॥१२०॥
सखि ससुरे मैं सैर की अहै असुविधा नाँहिं।
उत अभिमत-फल-दायिनी-बहु-फुलवारी आहिं॥१२१॥

रमणगमना

संकेत-स्थल में प्रियतम के गमन का अनुमान कर जो स्त्री अपनी अनुपस्थिति पर तप्त होती है उसे रमण गमना कहते हैं।

कवित्त--

आलिन को आनन विलोकि अकुलानी महा
केला के भमेला मिले कुफल करेला के।
गारत गुलावी रंग भयो गोरे गालन को
सोहैं परी जाय मानों औचक सँपेला के।
ढारि ढारि आँसुन की धार दाऊ आँखिनसो
निंन्दत बिचार 'हरिऔध' अवहेला के।
वेला बीती वूझिकै बेहाल अलबेली भई
अलबेले हाथन विलोकि फूल बेला के ॥१२२॥

बरवा--

आयो प्रिय अमरैया गैयन साथ।
पहुँचि न सकति लुगैया मोंजत हाथ ॥१२३॥
बिलखति खरी गुजरिया विहरति नाँहिं।
निरखि गुलाव गजरवा प्रिय-गर माँहिं ॥१२४॥

मुदिता

वाञ्छित की अकस्मात् प्राप्ति से आनन्दित होनेवाली परकीया को मुदिता कहते हैं।

कवित्त--

अँधियारी कुहू की डरारी-कारी-रैन माँहिं
जामैं घिरी भारी-घटा पवन प्रसंग ते।
दामिनी दिपे पै भौन बार पै बिलोक्यो बाल
मंद-गौन-वारो-प्यारो मंजुल-मतंग ते।
'हरिऔध' मोहि मद-प्याला सी पिअन लागी
ज्वाला हूँ कढ़न लागी बाला-अंग-अंग ते।
उरज-उतंग ते अनंग-रंग पैठी जाति
ऐन बैठी ऐंठी जाति आनँद-उमंग ते ॥१२५॥

गरबीली-गोरटी लजीली-अँखियान-वारी
लूटी सी फिरति छूटी सखिआन-संग ते ।
कुंज-पुंज क्यों हूँ लखि पाई गुंज-माल-वारो
जाकी सुघराई है सवाई सौ अनंग ते ।
'हरिऔध' हेरे भई बेसुध बिकी सी बाल
भाव-भंगी ह्वै गई छगूनी भंग-रंग ते ।
तरकत मैन की तरंग ते तनी के बंद
फरकत अंग अंग आनँद-उमंग ते ॥१२६॥

सामान्या अथवा गणिका

केवल धन के निमित्त प्रेम करनेवाली स्त्री सामान्या कहलाती है, इस में प्रवञ्चना की मात्रा अधिक होती है ।

उदाहरण

कवित्त--

मंद मंद मीठे-बैन बोलि मन औरै करै
नैन-सैन ही सों मैन जू को उत्थान दै ।
पीनता दिखावै हाव भाव परिपाटी माँहिं
रमन-प्रनाली मैं प्रवीनता प्रमान दै ।
'हरिऔध' सुधा ही सी स्रवत कहै जो कबौं
प्रान प्यारे मोको मंजु-माल-मुकतान दै ।
मान दै दै सहित सनेह अपनावै प्रान
हरति अपान हूँ को हँसि करपान दै ॥१२७॥

दशविध नायिका

अवस्था के अनुसार नायिकाओं के दश भेद होते हैं। वे ये हैं:—

१ प्रोषितपतिका, २ खण्डिता, ३ कलहन्तरिता, ४ विप्रलब्धा, ५ उत्काण्ठिता, ६ वासकसज्जा, ७ स्वाधीनपतिका, ८ अभिसारिका, ९ प्रवत्स्यत्पतिका १० आगतपतिका।

प्रेम-पथ पर दृष्टि रखकर ये भेद स्वकीया और परकीया में ही माने गये हैं। कुछ लोगों ने गणिका-में भी इन दशाओं को माना है; किन्तु कतिपय विद्वानों के सिद्धान्तानुसार मैं भी इसको रसाभास समझता हूँ।

प्रोषितपतिका

प्रियतम के विदेश-गमन से व्यथित और दुःखदग्ध स्त्री को प्रोषित-पतिका कहते हैं।

उदाहरण

मुग्धा प्रोषितपतिका

दोहा—

सखिअन हूँ ते नहिं कहति पिय-प्रवास की पीर।
नीरज-नयनी-नयन हूँ नाँहिं बिमोचत नीर ॥१२८॥

कोऊ बतरावत नहीं क्यों चित होत अचेत।
पिय बिन ए कारे-जलद क्यों जिय जारे देत ॥१२९॥

मध्या प्रोषितपतिका

दोहा—

बिरह-घरी बीतति नहीं युग सम दिवस सिराहिं।
सखियन को लखि कै रुकत अँखियन को जल नाँहिं ॥१३०॥

असन-बसन की सुधि नहीं साँसत सहत सरीर।
कहति न बिरह-भरे बयन बहत नयन ते नीर ॥१३१॥

प्रौढ़ा प्रोषितपतिका

कबित्त—

चूमि चूमि प्यार ते उचारती बचन ऐसे
जाते प्रेम प्रीतम को तोपै भूरि छावतो।
मोहित ह्वै तेरे चोंच माँहिं चारु-चामीकर
'हरिऔध' होरा हेरि हिय पै लगावतो।
एरे काक बोलत कहा है ककनीन बैठि
मंजुल-मनीन तेरे चरन जरावतो।
नैनन को तारो बाँकी-बड़ी-अँखियान-वारो
प्यारो-प्रान वारो जो हमारो-कंत आवतो ॥१३२॥

पी कहाँ वहाँ हूँ जो पुकारतो पपीहा पापी
प्यारो कैसे प्रानन को धीरज बँधावतो।
क्यों हूँ मन मानतो न उनको मनाये आली
जो पै मोरनी लै सोर मोर हूँ मचावतो।
'हरिऔध' कैसे देस माँहिं निवसत आली
कोऊ तो बिभेद या को हमको बतावतो।
ऐसई जो होतो वाँडरारो बजमारो-घन
कैसे मनवारो नाहमारो कंत आवतो ॥१३३॥

पतिया न आई एक बतिया न साँची भई
प्रीति मैं तिहारी तऊ छतिया पगी रहै।
आज काल ही मैं प्रान चाहत पयान कीने
तिनमैं प्रतीति तेरी तबहूँ खगी रहै।
प्यारे 'हरिऔध' तु मैं नीके ना निहास्यो तऊ
रोइ रोइ जामिनी मैं अँखिया जगी रहै।
मोमन सपने हूँ मैं मगन भयोना तऊ
पगन तिहारे मेरी लगन लगी रहै ॥१३४॥

सवैया—

तजि रावरी साँवरी सूरत साँवरे या हिय और समातो नहीं।
वह मीठी सुधा सों सनी बतियाँ सुनि कानन धीर धरातो नहीं।
हम कैसी करैं 'हरिऔध' कहो अब मोसों कछू तो सिरातो नहीं।
इन आँखिन प्यारे तिहारे बिना जग और तो कोऊ दिखातो नहीं॥१३५॥

दोहा—

दमकति नभ मैं दामिनी घन छाये चहुँ ओर।
चित तरसत है दरस को बरसत है दृग मोर॥१३६॥
नभ धुरवा-धावन लगे बिधत बिरह के तीर।
तनिक धीर नहिं धरि सकत मो चित परम अधीर॥१३७॥

बरवा—

कैसे बसत बिदेसवाँ बलमु-नदान।
तलफत मोर करेजवा कलपत प्रान॥१३८॥
चमकत चपल बिजुरिया अलि चहुँ पास।
काँपत मोर करेजवा उपजत त्रास॥१३९॥

परकीया प्रोषितपतिका

कबित्त—

बावरी ह्वै जाती बार बार कहि बेदन को
बिलखि बिलखि जो बिहार-थल रोती ना।
पीर उठे हियरो हमारो टूक टूक होत
ध्याइ प्रान-नाथ जो कसक निज खोती ना।
'हरिऔध' प्यारे के पधारि गये परदेस
नैन नसि जात जो सपन सँग सोती ना।
तन जरि जातो जो न अँसुआ ढरत आली
प्रान कढ़ि जातो जो प्रतीति उर होती ना॥१४०॥

मरो मुरझायो मन मारिये कहाँ लौं कहो
कठिन-हिये पै कौं लौं पाहन बसाइये।
कोटि काम हूँ ते अभिराम-श्याम-प्यारे-काज
कलपि कलपि कौ लौं बासर बिताइये।
'हरिऔध' अनुछन आँखिन को तारो हुतो
जाके बिना एक पल हूँ ना कल पाइये।
उधो वाही लालन के सुललित-पायन की
धूरि हूँ मिलै ना जो लै लोचन लगाइये ॥१४१॥

सवैया——
क्यों हूँ नहीं सहि जाहिं अरी उर में उपजे दुख-पुंज-अपार ए।
दाह दुगूनियै होत उसासन प्रान रहे 'हरिऔध' अधार ए।
हाय ! न सीतल होत छनौ कबहूँ इन नैनन के जल-धार ए।
डारत छार किये हियरो बिरहागि के बीर अधूम-अँगार ए ॥१४२॥

पीर पराई पछानत हौ परतीत हूँ प्यारे प्रसंसन जोग है।
भाव हूँ को है अभाव नहीं कमनीय-सुभाव हूँ को सहयोग है।
पै 'हरिऔध' न जानि पर्‍यो परदेस में क्यों बिसर्‍यो मो बियोग है।
भाखिये भूल तिहारी कहा मन भावते भाग ही को सबभोग है॥१४३॥

ओट भये हूँ तिहारी बड़ी-अँखियान ते होत रहै बिपरीतै।
माधुरी मंजुल-बैनन की 'हरिऔध' अजौं हमरो मन जीतै।
डोलत बावरी सी बन बीथिन बूझति ना कछु नीत अनीतै।
ना बिसरै वह सूरत-प्यारी बिसूरत ही निसि बासर बीतै ॥१४४॥

खण्डिता

अन्य-नारी-संभोग-चिह्न-चिन्तित प्रातरागत नायक-दर्शन से कुपिता खण्डिता कहलाती है।

मुग्धा

दोहा—

चकित भई अवलोकि कै उलटे पलटे बेख।
मन-रंजन के अधर पै निरखे अंजन-रेख ॥१४५॥
लाल भोर आये कछू बोल न पाई बाल।
गुनन लगी कारन निरखि उरकी बिन-गुन-माल ॥१४६॥

मध्या

कवित्त—

बोलत बनै न वारि बहै बड़ी-आँखिन सों
बिफल बनी है देखि बेख बल-भैया को।
लाली लखि नैनन की रिस सों भई है लाल
भूल्यो सब ख्याल अंक निरखि सुगैया को।
'हरिऔध' हरे हरे आखर हिये के कढ़ि
आवत अधर पै न पावत समैया को।
मदन मजेज मैं बिहाल बावरी सी बनी
बदन बिलोकै बैठी सेज पै कन्हैया को ॥१४७॥

दोहा—

अधर लगो अंजन निरखि चितवति दृग भरि लेति।
उससि कछू चाहति कहन लाज कहन नहिं देति ॥१४८॥

प्रौढ़ा

कवित्त—

मेरे भाग जागत हीं जामिनी बितैबो हुतो
कौन काज आप हैं लखात अलसाने से।

प्यारी पीक लीकहिं अनूठे-अधरान छोरि
कहा लाभ कलित-कपोल पै लगाने से ।
'हरिऔध' प्यारे साँची कहौ छलछंद छोरो
भोर ही कहाँ हो आज फिरत भुलाने से ।
रावरे विसाल दृग-कंज लाल ह्वै रहे हैं
सूरज उगे हूँ क्यों सरोज सकुचाने से ॥१४८॥

परचि गई हौं पेचपाच-वारे बैनन सों
परपंच कीने मोहि मिलत सहारो ना ।
काट-छाँट-वारी-बानि काटत करेजो अजौं
कपट किये हूँ कूट-बचन उचारो ना ।
'हरिऔध' जाहु जागि जामिनी बिताई जितै
जियरो हूँ जावक लिलार लाइ जारो ना ।
ढंग-वारी-साखिन पै ढारो ना हमारो मन
रंग-वारी-आँखिन को मोपै रंग डारो ना ॥१४९॥

परकीया

दोहा—

हौं जागी सारी-निसा बनि बड़-भागिनि-बाल ।
लाल तिहारे ए नयन-युगल भये क्यों लाल ॥१५०॥
भूरि-भाग-वारो भयो काहू के पग सोहि ।
लाल ! भाल-जावक दहत क्यों पावक बनि मोहि ॥१५१॥

कलहन्तरिता

प्रिय से कलह कर अन्तरित पश्चात्तापपरायण स्त्री कलहन्तरिता कहलाती है ।

उदाहरण

मुग्धा

दोहा—

जल छलकत है नयन में भलो लगत नहिं भोर।
पिय ते कलह किये भयो क्यों कलही मन मोर ॥१५२॥

मुख ते कछु कहति नहीं कितनो करति सकोच।
लरिकाई छूटी नहीं कहा लरे को सोच ॥१५३॥

सरस बनावहु जलद-तन चलि करि रस-मय-केलि।
अहै कलह-रवि-कर तई दुलही-उलही-वेलि ॥१५४॥

मध्या

दोहा—

पिय सों लरि लरि तू रही तब तो बहु इतरात।
अब लोयन को जल बनो तेरो कलह दिखात ॥१५५॥

सोचि सोचि अपनी दसा कत सकुचति सुकुमारि।
कलह-कालिमा क्यों धुलति जो न होत दृग-बारि ॥१५६॥

प्रौढ़ा

मान के किये ते मान रहत कहाँ धौं कैसे
मेरे जान मानही की बातैं हैं अमान की।
मन में मसूसि महा-मुरझि रही हौं बीर
नेक-सुधि मोको ना रही है खान-पान की।
हाय! 'हरिऔध' हूँ सों हियरो हरन-वारो
रूसि गयो मोसों जरो बानि अपमान की।
छवि पै लुभाइ को लगै है छतिया सों मोहि
पान को करैहै सुधा मंजु-बतियान की ॥१५७॥

दोहा—

बरबस करुये बयन कहि मो सरबस हरि लीन ।
कैसे नीरस नहिं बनति रसना रस सों हीन ॥१५७॥

परकीया

टूटि सलिल-भाजन गयो छूटि न पायो पंक ।
कलह भयो तासों अली जा हित सह्यो कलंक ॥१५८॥
ता सरसिज को कर सकी कहा सहज सनमान ।
सरसत मोमन अलि अहै करि जाको रस पान ॥१५९॥

विप्रलब्धा

संकेत-स्थल में प्रियतम की अप्राप्ति से आकुल और क्षुब्धनायिका विप्रलब्धा कहलाती है ।

उदाहरण

मुग्धा

दोहा—

पीर उठे पीरी परी पिय ते भई न भेंट ।
दुलही-दुख दूनो भयो सूनो मिले सहेट ॥१६०॥
तिय आई आयो न पिय भई समय की भूल ।
काँटे लौं कसकन लगे कलित-कुंज के फूल ॥१६१॥

मध्या

दोहा—

देखि सेज सूनी परी केलि-भवन भो काल ।
बिचलित अलबेलो भई बिन अलबेले लाल ॥१६२॥

केलि-भवन आई बधू भरी उमंग-उछाह।
बारि-बाह लोयन बने बिना बिलोके नाह ॥१६३॥

प्रौढ़ा

दोहा—

बार बार बहराइ कै तूने कियो अबार।
बादि अहै पिय के बिना उपवन-बिपिन-बहार ॥१६४॥
ललक भरी आई बधू मिले नाँहिं सुख-मूल।
केलि-भवन हूँ नहिं भयो केलि-मयी अनुकूल ॥१६५॥

परकीया

सीतल सलिल-वारे सर सरसावैं नाहिं
कुंत लौं लगे हैं कंज-पुंज गरबीली को।
सुललित-फूलन सों सूल सी उठन लागी
भयो अनुकूल न मयंक अरसीली को।
'हरिऔध' मंद-मंद-मारुत हर्यो अनंद
लूटन लग्यो है मैन चैनहूँ छबीली को।
लाल बिन एरी बीर मंजुल-निकुंज हूँ मैं
नीरस भयो है रस ललना-रसीली को ॥१६६॥

उत्कण्ठिता

आने का निश्चय करके भी जिसका प्रियतम यथासमय विहार-स्थल में न आवे अथवा आवे ही नहीं, उस आकुल और उत्कण्ठित स्त्री को उत्कण्ठिता अथवा उत्का कहते हैं।

उदाहरण

मुग्धा

दोहा—

कहा भयो आये न क्यों मुख ते कहत न बैन ।
चित-चंचलता कहत है चंचल-नयनी नैन ॥१६७॥

कहाँ रुके अरुझे कहा किधौं गये पथ भूल ।
या सोचन चंपक-बरनि बनी कुसुम को फूल ॥१६८॥

मध्या

भई बेर क्यों का भयो यह बिचारि सुकुमारि ।
कबौं बिलोकति पथ कबौं भरति दृगन मैं बारि ॥१६९॥

बैठति उठति बिकल बनति बिलपति लहति न चैन ।
चितवति सखि-मुख दुखित बनि काटे कटति न रैन ॥१७०॥

प्रौढ़ा

दोहा—

बीती निसि आये नहीं अबलौं नयनानंद ।
कहा करौं कैसे गहौं बामन बनिकै चंद ॥१७१॥

सेज-परी सिसकति कबौं कबौं भरति है आह ।
घरी घरी उठि उठि बधू पिय की जोहति राह ॥१७२॥

बरवा—

आवति खिन अँगनैया खिन चलि जाति ।
उठि उठि गिनति तरैया कटति न राति ॥१७३॥

पसरी निरखि जुन्हैया चंदहिं चाहि ।
कामिनि परी सेजरिया उठति कराहि ॥१७४॥

परकीया

पौन मंद बह्यो छाई सेतता दिसन माँहिं
दीपक मलीन भयो अंधकार टरिगो ।
गात सियरानो बोले बृंद चरनायुध के
कलरौ चिरियन को चारो ओर भरिगो ।
हरिऔध आये नाँहि अँखियाँ उनींदी भईं
अहह हमारो भाग आजहूँ बिगरिगो ।
एरी बीर देखु अरुनाई छाई अंबर में
तारन समेत तारापति फीको परिगो ॥१७५॥

वासकसज्जा

प्रिय-समागम का निश्चय करके जो केलि-सामग्री को सज्जित करती अथवा सखियों-द्वारा सुसज्जित होती हो उसे वासकसज्जा कहते हैं ।

उदाहरण

मुग्धा

दोहा—

नवला कत सकुचति इतो सजत सँवारत कुंज ।
दुरे छबीली होत का दुरत नहीं छवि-पुंज ॥१७६॥
काहे सजति न सेज अलि साज मिले अनुकूल ।
बिकच-कमल-कर में फबहिं खिले फबीले फूल ॥१७७॥

मध्या

दोहा—

महल-टहल के समय मन काको हरति न बीर ।
कलरव-रत-कटि-किंकिनी बजत मंजु-मंजीर ॥१७८॥

सकुचति कबौं सकुच तजति तिय सब लेति सहेज ।
अभिमत-साजन ते सजति सखिन-सजाई-सेज ॥१७९॥

प्रौढ़ा

बोलि बोलि सखियान को कहि कहि बैन रसाल ।
केलि-सदन को सुर-सदन सरिस बनावति बाल ॥१८०॥
बासि बासि बर-बास ते सजि सजि केलि-अवास ।
बिलसति रहति बिलासिनी करि करि बिबिध-बिलास ॥१८१॥

परकीया

कबित्त—

बैठी हुती मंदिर मैं कलित-कुरंग-नैनी
जाको लखि काम-कामिनी को मान किलिगो ।
क्यों हूं कढ़्यो तहाँ आइ साँवरो-छबीलो-छैल
जाको गान-तानन ते ताके कान पिलिगो ।
मुख खोलि उझकि झरोखे 'हरिऔध' झाँके
लोक-सुंदरी को मंजु-रूप ऐसो खिलिगो ।
नीलिमा-गगन मैं मगन ह्वै गयो कलंक
आनन-उजास मैं मयंक बिंब मिलिगो ॥१८२॥

अभिसारिका

प्रियतम-समागम-निमित्त संकेत-स्थल में गमन करनेवाली अथवा प्यारे को बुलानेवाली नायिका को अभिसारिका कहते हैं ।

उदाहरण

मुग्धा

दोहा—

परग परग पै बहु अरति खटके पात सकाति।
चली जाति पिय पास तिय सेद-सनी सकुचाति ॥१८३॥

पंथ चलत बिचलित भई कंपित भो सब गात।
भये चौगुने-चपल चख चित भो चल-दल-पात ॥१८४॥

मध्या

दोहा—

पिय पहँ जात लजाति बहु लंक लचे बल खाति।
तजति उतायल भाव तिय जो पायल बज जाति ॥१८५॥

सोच सकोचन करन ते दली मली दिखराति।
लली अली लै गलिन ह्वै केलि-थली में जाति ॥१८६॥

प्रौढ़ा

दोहा—

चली कंत ढिग कामिनी सफल करन अभिसार।
सुर-पुर-तिय मोहति निरखि रति-मोहक सिंगार ॥१८७॥

ललना ललन मिलन चली गति लखि लजत गयंद।
बदन चंद की जोति ते होति चंद-दुति मंद ॥१८८॥

परकीया

सवैया—

मानी-मनोज को मान मरोरत मोहन मोहन को मृग-नैनी।
जीति जतावत जोम भरी जलजात-बरूथन को जग-जैनी।
'औधहरी' अलकावलि सों अलि को अकुलावति आनँद-ऐनी।
भानुजा-कूल पै जात चली कल-कुंजन कूजत कोकिल-बैनी ॥१८९॥

सुंदर-भाव-भरे तन पै बगरी बर-भूखन-जोति भली है।
सोंधे-सनी अलकावलि हूँ चहुँ घेरि लई अलि की अवली है।
मंजुल-गौन पै ए 'हरिऔध' गयंदहूँ की गति जाति छली है।
भानु-लली प्रिय-रंग-रली कल-केलि-थली महँ जाति चली है॥१९०॥

परकीया के भेद

परकीया अभिसारिका के तीन भेद हैं—१ शुक्लाभिसारिका, २ कृष्णाभिसारिका और ३ दिवाभिसारिका।

शुक्लाभिसारिका

चाँदनी रात के अनुकूल वेश धारण करके प्रिय-समागम के लिये जाने वाली स्त्री को शुक्लाभिसारिका कहते हैं।

दोहा—

सेत-बसन हीरक-जटित बिबिध-बिभूखन धारि।
चली चांदनी रात मैं चंदकलासी नारि ॥१९१॥

कृष्णाभिसारिका

अँधियाली रात्रि के अनुकूल वेशधारण करके प्रियसमागम केलिये जानेवाली परकीया स्त्री को कृष्णाभिसारिका कहते हैं ।

कवित्त—

नीले-नीले-नूतन-निचोल नये तन धारि
असित-मिसी मैं पूरि पंगति रदन की ।
भूखन पहिरि नव-नीलम-जटित अंग
दीपति दुराइ खोलि जेहरिपदन की ।
'हरिऔध' अति-अँधियारी-अमा रैन माँहिं
बनि कै मिजाज-वारी-भामिनी-मदन की ।
चलत सहेट चंद-मुखी के चहूँघा चाहि
चाँदनी सी फैली चारु चाँदनी बदन की॥१६२॥

दोहा—

नील-निचोलन के सहित पहिरि नील-मनि-माल ।
चली तमो-मय-रजनि मैं तमो-मयी बनि बाल ॥१६२॥

दिवाभिसारिका

प्रिय-मिलाप के लिये दिन में संकेत-स्थल को जानेवाली अथवा उसको बुलानेवाली परकीया को दिवाभिसारिका कहते हैं ।

दोहा—

दूर करन कामिनि चली मदन-जनित-संताप ।
तप-रितु-तीखे-तपन के ताप को न गिनि ताप ॥१६३॥

प्रवत्सस्यत्पतिका

प्रियतम-प्रवास-गमन से व्याकुल और संतप्त स्त्री को प्रवत्स्यत्पतिका कहते हैं।

मुग्धा

पिय को करत पयान लखि भरि आये युग-नैन।
चाहत कछू कहन बधू पै कछु कहत बनै न ॥१९४॥
ढिग आई प्रिय-गमन सुनि भयो चकित-चित लोल।
आँखि खोलि देखन लगी पै न सकी मुँह खोल ॥१९५॥

मध्या

ठाढ़ी सिंगार कै नारि हुती इतने मैं बिदेस गयो सुनि पी को।
नैन ते नीर झर्यो इतनो अस हाल भो जाते तहाँ तरुनी को।
डूबि गई पहिले कटि लौं 'हरिऔध' उरोज डुब्यो पुनि नीको।
ऐसहीं देखत ही दृग के अँसुआन सों भीज्यो लिलार को टीको॥१९६॥

बरवा—

प्रीतम जात विदेसवां निपट अनेस।
सिसकति खरी गुजरिया बगरे केस ॥१९७॥

प्रौढ़ा

कवित्त—

रावरे निहारे बिना बावरी बनैगी कौन
देखे बिना तुमैं काकी अँखिया सिहायगी।
कौन सूनी-सेज पै चढ़ैगी परतेजि प्रान
दूनी-दाह काके अंग अंगन दिखायगी।

'हरिऔध' प्यारे जो पै करत पयान तो कहोतो
प्रान राखि कौन कौलौं अकुलायगी।
कौन दुख पैहै नैन-नीर बरसैहै कौन
कौन बिलखैहै कौन पीछे पछतायगी ॥१९८॥

परकीया

कवित्त—

चलन चहत प्रान-प्यारो परदेस आली
आकुल ह्वै हियरो हमारो सुधि लेखै ना।
चकि चकि रहत चहूँकित चितै कै चित्त
वेदन-बिवस ह्वै कै सुरति सरेखै ना॥
'हरिऔध' प्यारे-संग करन पयान ही मैं
आपनी भलाई पापी-प्रानहूँ परेखै ना॥
बिलखि बिलखि भरि भरि बार बार बारि
नैनहूँ निगोरो आज नैन भरि देखै ना॥

आगतपतिका

प्रियतम-विदेशागमन से उत्फुल्ल स्त्री को आगतपतिका कहते हैं।

मुग्धा

दोहा—

सुनि मुख ते सखिआन के पिय को आवत ऐन।
पड़े पलक के पाँवड़े ललकन लागे नैन ॥२००॥
आये लाल बिदेस ते ललना भई निहाल।
अनुरंजित-चित-रुचि कहत रोरी-रंजित-भाल ॥२०१॥

मध्या

दोहा—

सुने कंत को आगमन उमड़्यो उमग-पयोद ।
ललना-युगल-नयन लगे बरसन बारि-बिनोद ॥२०२॥
प्रीतम आये पौर पै भई देखि बहु-भीर ।
छकी पै सकी तोरि नहिं लोक-लाज-जंजीर ॥२०३॥

बरवा—

आवत जानि छयलवा पकरि कपाट ।
कामिनि खरी अटरिया जोहति बाट ॥२०४॥

प्रौढ़ा

कबित्त—

बार बार प्यार ते बिलोके चंद-मुख-चारु
फेर मैं परे से अंधकार मेरे ही के हैं ।
छीन लीनो मैन ते अचैन हूँ हमारो सबै
चैन-दैन-वारे-बैन बोरे जे अमी के हैं ।
'हरिऔध' बिरह-हरनवारी-आंखिन सों
करत प्रयोग मोपै मोहक ससी के हैं ।
पी के मिले जटिल अनेसे सबै जी के नसे
अब हम जान्यो कि हमारे भाग नीके हैं ॥२०५॥

सवैया—

छाई रही अबला मन मैं धुरवान को धावन देखि उदासी ।
श्री 'हरिऔध' हूँ आये बिदेस सों आइ कही इतनेहिं मैं दासी ।

आनँद के अँसुआन बहे अकुलाइ कै दौरि चली चपला सी।
लाल के अंग-तमाल सों जाइ रही लपटाइ लवंग-लता सी ॥२०६॥

बरवा—

फरकत बाम-नयनवाँ सजनी मोर।
आवत अयन सजनवाँ सुनत बहोर ॥२०७॥

आवत सदन सजनवाँ अति बड़ भाग।
उड़ि उड़ि आज अँगनवाँ बोलत काग ॥२०८॥

परकीया

दोहा—

सुनि आवन सुख कंद को छोरि सकल छर छंद।
ललकत तिय देखन चली छवि-छलकत-मुख चंद ॥२०९॥
मिले बिदेसी मीत के रह्यो न मान मरोर।
ललना के लोयन बने आनन-चंद-चकोर ॥२१०॥

स्वाधीनपतिका

जिस नायिका का प्रिय उसके सौन्दर्य अथवा सद्गुणों पर मुग्ध हो-कर उसका वशीभूत होता है उसे स्वाधीन पतिका-कहते हैं।

मुग्धा

जकी छकी नवला रहति छिपि छिपि बितवति काल।
तन मैं छवि छहरत निरखि छनौं न छोरत लाल ॥२११॥
छाँह बचावति लाड़िली छोरत ना अलि-वृंद।
तऊ बदन-अरबिंद के लालन भये मिलिंद ॥२१२॥

मध्या

दोहा—

लाल-गरे परि ललित बनि लहि सु-बास सब काल।
फबि फैलावति ही रहति फूल-माल सी बाल ॥२१३॥
सकुच-भरी पति-करन ते सज्जित ह्वै सरसाति।
परी किन्नरी सी रुचिर-सेज परी दरसाति ॥११४॥

प्रौढ़ा

सवैया—

काज परे हूँ न जाय कबौं कहूँ मो पति आपनी आनि अरो रहै।
नेक न मानत औरन की 'हरिऔध' को मेरो ही ध्यान खरो रहै।
साजत साज सँवारत भूखन सुंदर-भावन माँहिं भरो रहै।
भूख औ प्यास बिसारि सदैव अवासमैं मेरे ही पास परो रहै॥२१५॥

परकीया

सवैया—

अरी और तियान ते सौंहैं परे हूँ कबौं अपनो दृग जोरै नहीं।
अनखाय नहीं अपमान किये रसहूँ मैं कबौं बिस घोरै नहीं।
'हरिऔध' हमारो हजारन मैं हमरे हितते मुँह मोरै नहीं।
छकि मो छबि ऊपर छाँह की भाँति छबीलो हमैं छन छोरै नहीं ॥२१॥

नायक
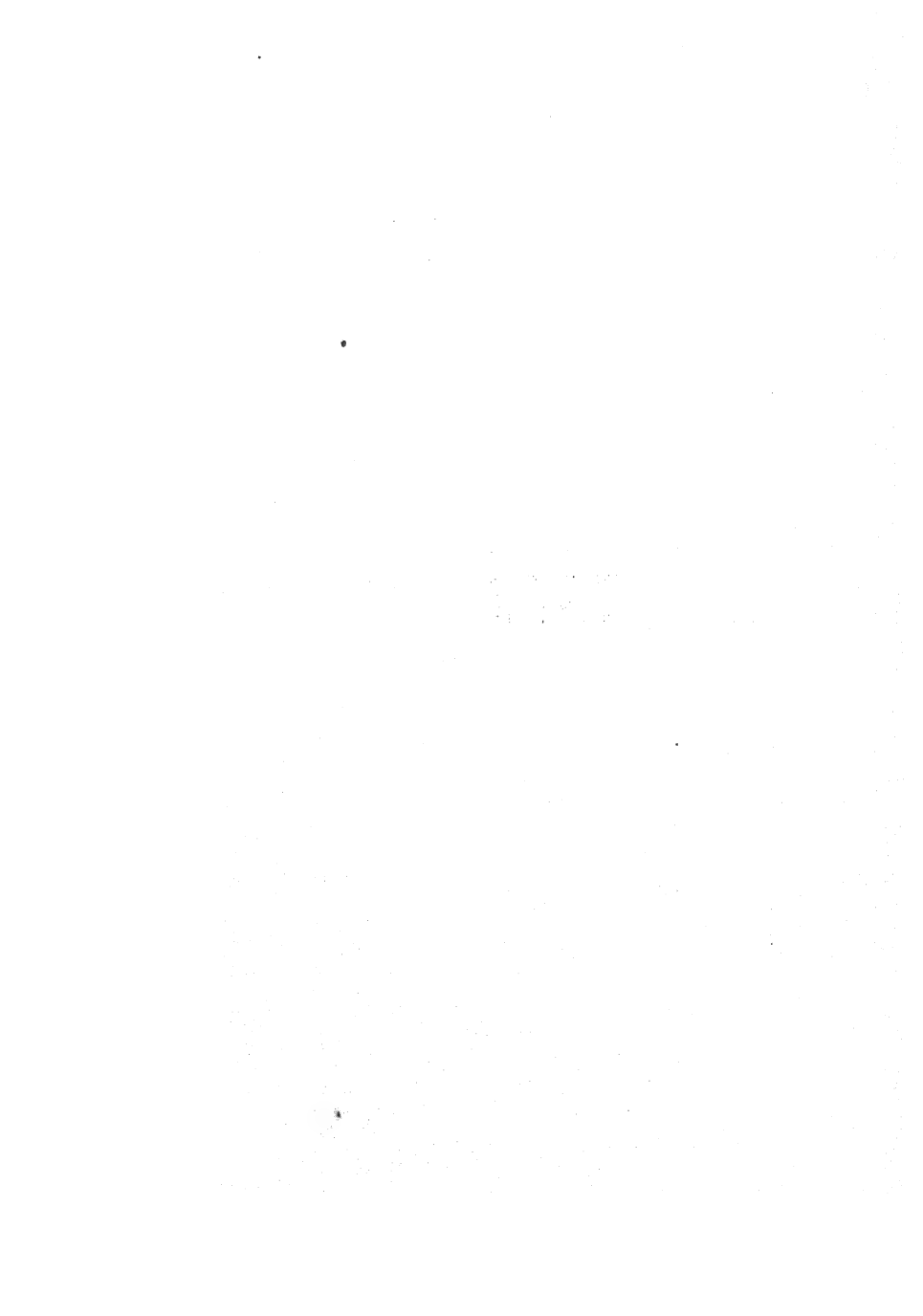
नायक

रूप-यौवन-सम्पन्न, उत्साह-शील, उदार, कुलीन, सुशील, जन-अनुराग-भाजन, चतुर, बुद्धि-मान, तेजस्वी और महान-हृदय-पुरुष नायक कहलाता है। स्वभाव के अनुसार उसके चार भेद माने गये हैं, वे निम्न-लिखित हैं—

१ धीरोदात्त, २ धीरोद्धत, ३ धीरललित और ४ धीरप्रशान्त

१—धीरोदात्त

क्षमावान, धीर-गंभीर, स्थिर-प्रकृति, महान-चेता, हर्ष-शोकादि में अविचल-चित्त, दृढ़व्रत, विनयी और उदारहृदय पुरुष धीरोदात्त कहलाता है।

उदाहरण

कबित्त——

सूधो सधो उदधि-गभीर धीर-वीर है जो
जाकी धी में धरम-धुरीनता है निवसी।
सबल सुसील सत्यसंध साहसी है जौन
सरद-सिता सी जाकी साधना है बिकसी।
'हरिऔध' लोक-हित ललित बनत जाते
बिपुल-बिभूति जाके लोमन ते निकसी।
महि माँहिं परम-महान सोई मानव है
जाके मंजु-मानस में मानवता बिलसी॥ १॥

सवैया——

राखैं दोऊ मरजाद सदा है गभीरता दोहुँन में मन-मानी।
भू में अहैं रतनाकर हूँ दोऊ दीखैं समान दुहूँन में पानी।
ए 'हरिऔध' रहैं रस एक ही दोहुँन की गति जाति न जानी।
एक से भूतल में बिलसैं दोऊ सागर औ गुन-आगर प्रानी॥२॥

दोहा—

सुखित सकल को करि बनत सुर-समान नर कौन ।
बसुधा पै बरसत सुधा सरसत-ससि-सम जौन ॥ ३ ॥

२—धीरोद्धत

अभिमानी, शूर, चपल, मायावी, प्रचण्ड, दुर्दान्त, कोपन-स्वभाव और अपनी प्रशंसा के पुल बाँधनेवाला पुरुष धीरोद्धत कहलाता है ।

उदाहरण

कबित्त——

मैं हौं महा-मानी करि पैहौं का न माया किये,
बाधा-बोध भये दौरि बाँधि दैहौं बिधि को ।
बिगरे बिदारि दैहौं बड़े-बडे-बीरन को
तमके नसैहौं सारी-साधना की सिधि को ।
'हरिऔध' कोप किये लोप कैहौं लोकन को
पावक ते पूरि दैहौं पुहुमी-परिधि को ।
ककुभ के बारन की बोटी बोटी काटि दैहौं
गिरि को उपाटि दैहौं पाटि दैहौं निधि को ॥ ४ ॥

दोहा—

मोहि मुदित दिनमनि करत ससि सेवत सब-भाँति ।
मेरे पद-नख सरिस है नभ-तल-तारक-पाँति ॥ ५ ॥
मायामय हूँ होत है जा माया लखि मौन ।
मो सम जग मैं दूसरो मायावी है कौन ॥ ६ ॥
धनु लै धावत मोहि लखि कौन न होत अधीर ।
धरकत धरनी-धरन-उर धरती धरति न धीर ॥ ७ ॥

काको कलपावत नहीं करि निज लोचन लाल ।
काल काल हूँ को बनत गहि कर मैं करवाल ॥ ८ ॥
परम-प्रबल माया-निपुन धीर-वीर मद-मान ।
को बसुधा-तल मैं भयो वारिद-नाद समान ॥ ६ ॥

३—धीरललित

निश्चिन्त, कोमल-स्वभाव, नृत्य-गीतादि में अनुरक्त, हँसी-खेल में निपुण, काम-कामिनी-प्रेमिक और नाति-गंभीर पुरुष धीरललित कहलाता है ।

उदाहरण

कवित्त—

चिंता ते रहत दूर चारु-चाव भरो चित
सुख-मुख चाहि चाहि चाहना हँसति है ।
धारत कमल-मुख कोमलता मानस की
कामना मैं कमनीय-कामिनी बसति है ।
'हरिऔध' रुचि राग-रंग मैं रहति रमी
मंजु-तान कान मैं सुधा ह्वै निवसति है ।
ललित-कलान ते मगन है रहत मन
लोयन मैं लालिमा लगन की लसति है ॥१०॥

सवैया—

चाव सों है तिनको बहु-चाहत जे अहैं चारुता-चाहक-चेरे ।
घूमत है रस-मंजु-थलीन मैं साथ अलीन के साँझ सबेरे ।
है 'हरिऔध' सनेहिन को धन जीअत है रहि नेहिन नेरे ।
सोहत है कुसुमावलि सों लसि मोहत मोहन-आनन हेरे ॥११॥

दोहा—

कोमल-मुख ते कढ़त है कोमलतामय बैन ।
ललित देखि ललकत रहत धीरललित को नैन ॥१२॥
तन मैं मन मैं नयन मैं बहत रहत रस-सोत ।
चिंतामनि चोरी भये चित चिंतित नहिं होत ॥१३॥
ललकि लुनाई लखन की लोयन को है लाग ।
अंगन मैं छलकत रहत राग-रंग अनुराग ॥१४॥

४–धीरप्रशान्त

नायक के अधिकांश गुणों से युक्त प्रशान्त ब्राह्मणादिक को धीरप्रशान्त कहा जाता है, इनमें त्याग और क्षमाशीलता की विशेषता होती है ।

उदाहरण

कबित्त—

परम-कुलीन है कुलीनता को गौरव है
पै न काहू अकुलीन काँहिं निदरत है ।
बिभव-भरो है पै न अनुभव-हीनता है
भूति-हीन-जन को बिभूति बितरत है ।
'हरिऔध' सूर है पै बनत कबौं ना सूर
सारो-उर-तम सूर सरिस हरत है ।
धीर है पै देखिकै अधीर को अधीर होत
बीर है पै धर्म-बीर-बीरता बरत है ॥१५॥

धीरता गभीरता बिदित बर बीरता मैं
सबल-सरीरता मैं सांति निवसति है ।
तेज ओज साहस अभीति नीति रीति माँहिं
प्रीति-परतीति माँहि सुचिता बसति है ।

'हरिऔध' उदित-उदारता-निकेतन है
चोखी-चातुरी को चित-चारुता कसति है।
मानस-महत्ता ते है महती रहति मति
उर में सतोगुन की सत्ता विलसति है ॥१६॥

दोहा—

निज-गौरव हित नहिं हरत पर के गौरव काँहि।
जनता को हित बसत है सुजन-सुजनता माँहि ॥१७॥
जो जन होत अधीर नहिं परे भीर पर भीर।
हरत रहत पर-पीर जो है सोई बर-बीर ॥१८॥
कौन सुजन ताके सरिस अहै अवनि में आन।
जो अपने सनमान सम समझत पर-सनमान ॥१९॥
निरखे हूँ निरखत नहीं जन-अपराधन काँहि।
छमावान जैसी छमा है छमाहुँ में नाँहि ॥२०॥
बहु-असरस जा मैं परे परम-सरस है होत।
सुजन-तरल-उर में बहत ऐसो रस को सोत ॥२१॥

नायकों के सात्विक गुण

नायकों के सात्विक गुण आठ हैं वे निम्नलिखित हैं—

१ शोभा, २ विलास, ३ माधुर्य, ४ गाम्भीर्य, ५ धैर्य, ६ तेज, ७ ललित और ८ औदार्य।

शोभा

शूरता, चातुरी, सत्य, उत्साह, अनुरागिता, नीच में घृणा, और उच्च में स्पर्द्धा उत्पन्न करनेवाले अन्तःकरण के धर्म को शोभा कहते हैं।

उदाहरण

कबित्त—

सूरता मैं सासन-उदारता है दरसति
साँच माँहि नीति-निपुनाई निवसति है।
भूत की भलाई है उछाह मैं बिराजमान
घिन माँहिं नीच-हित-बासना बसति है।
'हरिऔध' सोभा ही ते सोभावान सोभित है
उच्च-रुचि प्रतियोगिता ते बिकसति है।
अनुरागिता मैं लोक-अनुराग को है रंग
चातुरी मैं चारु-चित चारुता लसति है ॥२२॥

दोहा—

अवनी-तल-अपकार-तम करि निज-कर सों दूर।
लहे सूरता बनत है जन-जीवन-नभ-सूर ॥२३॥

नर-गौरव-गिरि-सिखर को करति बिपुल-छबिमान।
लोक-हितकरी-चातुरी लसि चाँदनी समान ॥२४॥

मानवता बिकसति न तो जो न सचाई होति।
है बह जन-मन-ससि-सुधा नर-तन-दीपक-जोति ॥२५॥

बहु-फल-दायक बनत है छुन छुन करि छबिवंत।
है उछाह नर-बिटप को सरसत-लसत-बसंत ॥२६॥

मानव-मानस-मोहिनी रस-दाइनी-महान।
कौन अहै अनुरंजिनी अनुरागिता समान ॥२७॥

जाते अघ मैं घुन लगै सो घिन ताहि सुहात।
नीचन को सो-जतन सों सुजन सुधारत जात ॥२८॥

जन करि करि प्रतियोगिता कब न जगावत भाग।
कौन लगावत है नहीं भली-लगन की लाग ॥२९॥

विलास

विलासमान की दृष्टि धीर, गति विचित्र और वचनावली मुसकुराहट लिये होती है, तथा भाव में गर्व का विकास होता है।

उदाहरण

कवित्त—

गौरवित-गति ते मृगाधिप को मान हरि
ओज-मंजु-गिरि पै विहरि विलसत है।
भरत दिगंत मैं दिवाकर समान तेज
मुख मैं प्रभाव-पूत-बचन बसत है।
'हरिऔध' सबल-बिलास को बिकास बनि
कंज लौं बिभूति सरसी मैं विकसत है।
धीरता-बलित-चितवन ते चकित करि
मद-भरो-बीर मंद मंद बिहँसत है ॥३०॥

दोहा—

पर-अपकारक उरन मैं उपजावति बहु-पीर।
बीर-धीर-चितवन करति पापिन काँहिं अधीर ॥३१॥

भीर परति है कुजन पै निरखि वदन-गंभीर।
बनति रहति है अगति-गति धीर-बीर-गति-धीर ॥३२॥

लोक-बिजयिनी-बीरता चलति वीर को घेरि।
अरि-कुरंग थहरत रहत केहरि सी गति हेरि ॥३३॥

बिदित करति है बीर की विभुता सबल-सरीर।
प्रकटति चित-गंभीरता गिरा-मेघ-गंभीर ॥३४॥

माधुर्य

आकुल होने के कारणों के उपस्थित होने पर भी आकुल न बनना माधुर्य कहलाता है।

उदाहरण

कबित्त--

तहाँ अरि साहसी मचावत समर-घोर
जहाँ सूरमा हुँ को न पाँव ठहरत है।
तहाँ करवाल लै कमाल कै कै किलकत
महा-काल-केतन जहाँ पै फहरत है।
'हरिऔध' जघन हिलत ना दुवन-दल मैं
घेरे परे घनके समान घहरत है।
पवि-पात भये नाँहिं नेकौ थहरत गात
नाँहिं नर-केहरि निहारि हहरत है ॥३५॥

दुख को समूह देखि सामुहें सकात नाँहिं
साहस-सहित सारी-आपदा सहत है।
प्रतिकूल-वायु बहे आकुल न नेकौ होत
आँच सहे कंचन सी मंजुता लहत है।
'हरिऔध' बार बार तंग जंग माँहिं भये
अंग-अंग भरित उमंगते रहत है।
खर-तीर-पीर हूँ ते बनत अधीर नाँहिं
भीर परे बीर बीरता कै निबहत है ॥ ३६ ॥

दोहा —

भव-दुख-पारावार को है सो अनुपम-पोत।
बिचलितकर-साधन लहे जो चित चलित न होत ॥३७॥
नर-पुंगव थहरत नहीं कठिन-काल अवलोक।
आकुल करत न तासु चित आकुलतामय-ओक ॥३८॥
दुख-दिवस हुँ मैं दुख सकत सबल-मनन को छू न।
कंटक मैं ही रहत है बिकच गुलाब-प्रसून ॥३९॥

गाम्भीर्य

भय, शोक, क्रोध और हर्ष आदि के कारण उपस्थित होने पर भी निर्विकार रहना गाम्भीर्य कहलाता है ।

उदाहरण

कबित्त—

उदधि-गभीर-उर छुभित कबौं ना होत
वामैं छवि अछवि समान ही है छहरति ।
सकल-बिकार-हीन-बहु-बिध-भावन में
छोभमयी-भावना छनेक नाँहिं ठहरति ।
'हरिऔध' मानस विमोहित तहौं ना होत
जहाँ महा-मोह की पताका-मंजु फहरति ।
चित माँहिं नाना-लालसान ते ललित-भूत
लोभनीय-लोभ की लहर नाँहि लहरति ॥४१॥

दोहा—

कामिनि की कमनीयता कामुक करति न ताहि ।
जासु कामना मैं बसति काम-वासना नाहिं ॥४२॥

सदा एक-रस रहत बुध भये बिवेक उदोत ।
सुख में सुखित बनत नहीं दुख में दुखित न होत ॥४३॥

सुरपति-अनुपम-पद लहे होत न बिपुल-निहाल ।
निरखि उठत करवाल हूँ बनत न लोचन लाल ॥४४॥

हारि परेहूँ हरन हित पर-धन हेरत है न ।
बहु-रिसहूँ मैं नहिं कहत बिबुध अनैसे बैन ॥४५॥

बेधत नाँहिं गभीर-उर मारि कुसुम-सर मैन ।
चोरि सकति चिता नहीं वाके चित को चैन ॥४६॥

धैर्य

बड़े से बड़ा विघ्न उपस्थित होने पर भी अपने काम पर डटे रहने का नाम धैर्य है।

उदाहरण

कवित्त—

धरि धरि धूरि में मिलैहै ऊधमिन काँहिं
अंधाधुंध हूँ को अंधपन-सारो खोवैगो।
साधि साधि सब साधनान काँहिं पैहै सिधि
उचित-बिधान कै अविधि को बिगोवैगो।
'हरिऔध' धीर काम छोरैगो अधूरो नाँहिं
धुन-बारि द्वारा धाक धब्बन को धोवैगो।
बाधक के बंधन बिधिन मैं बँधैगो नाँहिं
बाधा पर बाधा परे बाधित न होवैगो ॥४७॥

बिबिध-बिपुल-बिघ्न बारिवाह को समीर
बहु-बिध-बाधक-बिधान-तम-रवि है।
सकल-बिफलता-सरोजिनी को हिम-पात
अगति-गहनता-तृनावलि को गवि है।
'हरिऔध' निज-काज-साधन-निरत-धीर
नाना-प्रतिबंध-पुंज-पावक को हवि है।
आपद्-अगाध-अंबुनिधि को है कुंभजात
पुंजी-भूत-बिपद्-पहारन को पवि है ॥४८॥

दोहा—

सारत अपनो काज सब भभरत देखि न भीर।
पीर न पीरन को गनत बनत अधीर न धीर ॥४९॥

छुटी समाधि न संभु की भयो न तप-अवसान।
लगे सरग-तिय-नयन-सर चले पंचसर-बान ॥५०॥
तीखे सहसन बिसिख ते बिधि-बिधि कै बहु ठाँव।
तजत धीरता धीर नहिं धरत न पीछे पाँव ॥५१॥

तेज

अन्य के किये गये आक्षेप और अपमानादि को प्राण जाने की सम्भावना होने पर भी सहन न करना तेज कहलाता है।

उदाहरण

कवित्त—

रोम रोम बिधे बाधा बाधा को न मानि लेहिं
बिबिध-बिरोधन निवारि निबहत हैं।
अपमान भये पै अपान हूँ बिसरि जाहिं
मान गये प्रान-दान करि उमहत हैं।
'हरिऔध' बाद भये बदत न काल हूँ को
खीजे बैर बामदेव हूँ ते बेसहत हैं।
होत हैं तिरोहित सकारे के सितारे सम
औरन को तेज तेज-वारे ना सहत हैं ॥५२॥

बंक-भौंह अवलोकि बंकता गहत भूरि
नेसुक-कलंक लगे भूलत अपान है।
बात बढ़े बात बात माँहि रिस बस होत
साँस के गये हूँ नासहत अपमान है।
'हरिऔध' तीखी-अँखियान हेरि तीखो होत
आन पर आन बने गहत कृपान है।
तेज-मान-जन-अभिमान-तम को है भानु
दुअन-गुमान-बन-दहन समान है ॥५३॥

दोहा—

तजत आनवारो नहीं कबहूँ अपनो आन।
बचन-बान नहिं सहि सकत सहत बान पै बान ॥५४॥

दहत रहत है तूल सम दंभिन-दल-अभिमान।
तेजमान को तेज है पावक-पुंज-समान ॥५५॥

प्रकृति-पुस्तिका को अहै परम-प्रभा-मय-पेज।
दानव-मानस-तम हरत मानव-मन-रवि-तेज ॥५६॥

तेजमान नहिं सहि सकत काहू की ललकार।
वार करन हित कर गहत तुरत कौन तरवार ॥५७॥

तेजमान-कर मैं अहै वह कराल-करवाल।
जासु सहचरी-कालिका है जेहि सहचर काल ॥५८॥

ललित

वाणी, वेश और श्रृंगार की चेष्टाओं की मधुरता की ललित संज्ञा है।

उदाहरण

कवित्त—

मधुर युगल-पद-तल-मंजु-लालिमा है
नूपुर-मधुर-ध्वनि मोहक-मदन है।
मधुर कपोल-बिलसित-अलकावलि है
मधुर अधर-राग-रंजित-रदन है।
'हरिऔध' परम-मधुर युग-लोचन है
परम-मधुर बिधु बिमल-बदन है।
मधु बरसावत है मधुर मधुर बोलि
मधु के समान लाल माधुरी-सदन है ५९॥

बेस बसनादि माँहिं बिलसति माधुरी है
बिबिध-बिलास में बिकास दरसत है।
रमनीय-तन कामिनीन-मन मोहत है
कमनीय-कांति देखि काम तरसत है।
'हरिऔध' मुख मनोहरता-निकेतन है
सुधा के समान मंजु-हास सरसत है।
भाव-भरे-कोयन में लसति ललामता है
बड़े बड़े-लोयन ते रस बरसत है॥६०॥

सवैया—

सुंदर-बेस सुहावन-बानक पाग-सजी-सित सीस पै सोहति।
मंजु बनी अलकावलि काँहि न कौनसी कामिनी है जकि जोहति।
दीठि के तारन में कमनीयता है छवि की मुकुतावलि पोहति।
बैन की माधुरी है चित चोरति नैन को माधुरी है मन मोहति॥६१॥

दोहा—

मंद मंद हँसि मधुर बनि मोहत है मन मोर।
काको चित चोरत नहीं चितवन ते चित-चोर॥६२॥

कस मैं रहत न मन निरखि कारो कुंचित-केस।
काको बस में नहिं करत बहु-सुहावनो-बेस॥६३॥

मो मन मोहत बर-बसन बदन-मंजु-अवदात।
लोनो-नयन ललित-बयन परम-सलोनो गात॥६४॥

मोहन के ही कथन में है मोहन की बान।
काके मधुर-बयन सुने कान करत मधु-पान॥६५॥

मुरली-बादन में करत काको बदन कमाल।
काकी बानक है बनी अंक-लसे बन-माल॥६६॥

दानिन को चित होत है दीन-जनन अनुकूल।
कर सुबरन बरसत रहत झरत बदन ते फूल ॥७५॥
तजि उदार जन को हरत दीनन को-धन-प्यास।
है काके कर-कमल मैं कमला-मंजु-मवास ॥७६॥

नायक के और भेद

रूप-यौवन-सम्पन्न, गुण-मान, राग-रस-ज्ञाता, सुरसिक, सहृदय और नाना-कला-कुशल नायक के धर्मानुसार तीन भेद-१ पति, २ उपपति और ३ वैसिक तथा अवस्था के अनुसार दो भेद १ मानी और २ प्रोषितपति माने गये हैं।

उदाहरण

कबित्त--

चोज-वारी बातन सों मोहत मनोज हूँ को
मंजु-मुख-लुरित-अलक लोक-फंद है।
साँवरो-सलोनो मंद-मंद-हँसि टोनो करै
गौरवित-गमन बिमोहक गयंद है।
'हरिऔध' बैन कैसे ताकी सुखमा को कहै
जाको हेरि नैनहूँ को नाको होत बंद है।
आँखिन को तारो लोक-हियरो-हरन-वारो
जीवन-सहारो प्यारो ब्रज-नभ-चंद है ॥१॥

मगन भयो है मन लालिमा-पगन पेखि
ढर्‍यो पींडुरी की या सुढार-ढलकन पै।
सुगठन जोहि जक्यो युगल-जघनहूँ को
छक्यो काछनी हूँ की सुछबि छलकन पै।

'हरिऔध' राजी भयो नव-रोम-राजी हेरि
मोहि सो गयो है मंजु-माल-हलकन पै।
गोल-गोल-अमल-कपोल पै मचलि अर्यो
बाँकुरे-बिहारी की अमोल-अलकन पै॥ २॥

कंज से नयन बैन अमिय-सने से अहैं
अलकन हूँ पै आभा नौगुनी लखाई है।
चितवन-चारु चाल मंजुल-मराल की सी
छलकति रोम रोम छबि-सुखदाई है।
'हरिऔध' हेरि हेरि लोक-कामिनीन हूँ की
देव-भामिनीन हूँ की मति भरमाई है।
नैन-अभिराम सुख-धाम घन-श्यामजू की
सुंदरता काम हूँ ते सौगुनी सवाई है॥३॥

सवैया——

छलकी सी चहूँ घा छई सी परै छबि अंगन माँहिं समाती नहीं।
सुकुमारता जैसी लसै तन मैं कहूँ तैसियै और दिखाती नहीं।
'हरिऔध' बिलोकत ही बनि आवै लखे अँखिया हूँ अघाती नहीं।
मन-भावती-साँवरी-सूरत रावरी बावरी काहि बनाती नहीं॥४॥

१—पति

शास्त्र-विधि से विवाहित कुल-मर्यादाशील सुपुरुष को पति कहते हैं।

सवैया——

धीर गँभीर गुनी गरुओ जेहि गौरव की गरिमा नित गैयत।
सील सकोच सनेह सनो सुखमा लखि जाकी हियो सरसैयत।
मोद-भरो 'हरिऔध' मनोहर मैन की मूरत जाहि बतैयत।
री बड़भागिनि भाखे कहा बड़े भागन प्यारो-पती जग पैयत॥५॥

पति के भेद

पति पाँच प्रकार के होते हैं—१ अनुकूल, २ दक्षिण, ३ धृष्ट, ४ शठ, और ५ अनभिज्ञ।

अनुकूल

जो पुरुष एक ही विवाहिता पत्नी में अनुराग रखकर दूसरी की कामना नहीं रखता उसको अनूकुल कहते हैं।

सवैया—

लखि प्यारी तिहारी मनोहरता सुर की बनिता हुँ सराहैं नहीं।
मन-मोहनी आनि मिलेहूँ कबौं अपने मन माँहिं उमाहैं नहीं।
'हरिऔध' बिहाइकै प्रेम तिहारो कछू हम और बिसाहैं नहीं।
तव आनन छोरिकै आन कछू अँखिआन बिलोकन चाहैं नहीं॥६॥

दक्षिण

अनेक स्त्रियों पर समान स्नेह रखनेवाले पति को दक्षिण कहते हैं।

सवैया—

हम ऐसे अजौं अवलोके नहीं अलकावलि-पेच परे जे नहीं।
जग मैं जनमे जन ऐसे कहाँ या उरोजन ओर ढरे जे नहीं।
'हरिऔध' न ऐसे सुने छिति मैं छबि नीकी निहारि छरे जे नहीं।
ए बड़ी बड़ी आँखैं बधूटिन की गड़ि जात हैं काके करेजे नहीं॥७॥

धृष्ट

बहुत अपमानित होकर भी जो लज्जित नहीं होता और चाटुकारी करता है उस अधम पति को धृष्ट कहते हैं।

कवित्त——

कैसहूँ जो आपनो कियो है मन मेरी आली
नीकी करै ताको जो सँवाचि अब फेरै ना ।
रार जो मची है मेरे नैन हिय प्रानन मैं
भलो अहै ताको जो विवेचि तू निवेरै ना ॥
'हरिऔध' याहू को न मन मैं कछू है आनि
मोको कवौं प्यारे प्राननाथ कहि टेरै ना ।
साँची कहै होत बार बार बलिहारी अरी
बाँके-नैन-वारी क्यों हमारी ओर हेरै ना ॥ ८ ॥

शठ

छल-पूर्वक अपराध गोपन करने में निपुण पति को शठ कहते हैं ।

कवित्त——

भौंहैं जनि तानै रोस मन मैं न आनै
हौं कियो न मनमानी मेरी बातन मैं कान दै ।
अँखियाँ ललौहैं नाँहिं नीर बरसौहैं भईं
कहौं करि सौंहैं मेरी पति तू न जान दै ॥
'हरिऔध' बापुरो न जानै छल छंदै ताहि
क्यों न सनमानै निज अंक माँहि थान दै ।
मति कलपावै मेरे प्रान कही मेरी मान
एरी प्रानप्यारी मोको हँसिकर पान दै ॥ ६ ॥

अनभिज्ञ

जिसको शृंगार रस की सरस क्रियाओं का यथार्थ ज्ञान नहीं होता ऐसे असमर्थ पुरुष को अनभिज्ञ कहते हैं ।

सवैया--

अकुलाये बनै न बिलोकतहूँ कत लोक की लीकन डाँकती हो।
अनजान बनी सी कहा जल पै नख ते अखरान को आँकती हो।
'हरिऔध' अबूझ अजौं है कहा बिन बूझे झरोखन झाँकती हो।
तरुनी तुम कौन को आन-भरी तिरछी अँखिआन ते ताकती हो ॥१०॥

२—उपपति

परदारानुरागी पुरुष को उपपति कहते हैं। इसके दो भेद हैं—वचन-चतुर और क्रियाचतुर।

सवैया—

मैन जगावती हैं तन मैं अपने बस मैं मनहूँ करि राखैं।
बोले बिना हूँ भुरावति सी बतिआनहूँ भाव-भरी बहु भाखैं॥
नेसुक सैनन ही 'हरिऔध' की पूरी करैं कितनी अभिलाखैं।
ढारहिं धार सुधा की हिये बहु-प्यार-भरी परतीन की आँखैं ॥११॥

बरवा--

चोरति करि चतुरैया चित को चैन।
ताकति तरुन तिरियवा तिरछे नैन ॥ ११ ॥

वचनचतुर

वचनचातुरी द्वारा पर-स्त्री-सम्बन्धी प्रीति-कार्य्य-साधन-तत्पर पुरुष को वचनचतुर कहते हैं।

कबित्त—

मोती-माल-गंग-तीर-बासी मन मेरो
कुच-संभु को उपासी तापै रोस धारियत है।
तानि तानि बाँकी दोऊ भौंहन-कमानन
बिखीले नैन-बानन सों बेधि डारियत है॥

'हरिऔध' राखै नाँहिं नेक ध्यान धर्महूँ को
वेद औ पुरान हूँ की लीक टारियत है।
एरी नैन-तीर-वारी कहा तीर-बासिन की
तीरथ के तीर काहू तीर मारियत है ॥१२॥

चंचलता चौगुनी ठनैगी चंद-मुख चाही
चाव-भरे चटुल-चकोरन की चारी मैं।
भीरु-भूरि-ह्वैहै भटू भभरि सुगंध-अंध
ठौर ठौर भौंर-वारी-भौंर-भीर-भारी मैं ॥
'हरिऔध' मोर मंजु-बेनो हूँ बिथोरि दैहै
बृंदावन-छोर की बिलास-वारी-बारी मैं।
सारीजर तारी पैन्हि भूलि जनि जारी उतै
आरी प्रान-प्यारी तू हमारी फुलवारी मैं ॥१३॥

क्रियाचतुर

क्रियाचातुरी से पर-स्त्री-सम्बन्धी प्रीति-कार्य-साधन-तत्पर पुरुष को क्रियाचतुर कहते हैं।

सवैया—

क्यारिन कूल कछारन मैं कल-कुंजन-पुंजन गाजन लागी।
बिस्व-बिमोहन-वारी-कला बगरी चहुँ ओर बिराजन लागी।
ए 'हरिऔध' बिहाइ कै लाज हूँ लाजवतीन को भाजन लागी।
बावरी कै ब्रज की बनितान को बाँसुरिया बन बाजन लागी ॥१४॥

३—वैसिक

बेश्यानुरक्त पुरुष को वैसिक कहते हैं।

सवैया—

क्यों हूँ न याम जनात है जात रिझावत ऐसी रहैं रतिआन मैं।
देखत ही मन टूटि परै कछु राखहिं ऐसी छटा छतिआन मैं ॥

ए 'हरिऔध' करो कितनो हूँ बिलंब पै होत नहीं पतिआन मैं।
बीस-गुनी मिसिरी ते मिठास है बार-बिलासिनी की बतिआन मैं१५

१—मानी

प्रिया से रुष्ट होकर मान करनेवाला पुरुष मानी कहलाता है।

कबित्त—

झरसति पूखन प्रकोप की प्रखरता ते
रूखे-रुख तीखन-मरीचिन ते कुम्हिलात।
कुबचन-प्रबल-पवन की झकोर लागे
प्रति-पल वाको वा मृदुल-तन थहरात।
'हरिऔध' बिरह-दवारि की दपट लागे
महमही-मंजुल-प्रमोद-वारी मुरझात।
तेरे प्रेम-बारि ही ते एरे बारि-धर श्याम
बाल-अलबेली नेह-बेली ज्यों लहलहात॥१६॥

२—प्रोषितपति

विदेश में प्रिया-विरह से विकल और संतप्त-पुरुष प्रोषित-पति कहलाता है।

सवैया—

घोर मचाइ कै सोर घरी घरी घेरि करै घनहूँ बिपरीतै।
दौरि दिसान महा-भयदाइनि-दामिनि हूँ करै दीह-अनीतै।
कैसी करैं 'हरिऔध' कहो कै कछु है बिदेस की ऐसियै रीतै।
प्यारी बिना बहु-भारी भई यह कारी-डरारी-निसा नहिं बीतै॥१७॥

कैसहूँ मोहि न भूलत है सो पयान-समै को बिसूरिबो भारी।
होत है दाह घनी उर मैं तुमरी गति याद परै जब प्यारी।
बावरो सो 'हरिऔध' भयो वह क्यों बिसरै नटि जान अगारी।
सालती हैं अजहूँ उर मैं अँसुआन भरी अँखियान तिहारी॥१८॥

उद्दीपन-विभाव

उद्दीपन-विभाव

जो रस को उद्दीपित करते हैं उन्हें उद्दीपन-विभाव कहते हैं। सखा, सखी, दूती, ऋतु, पवन, वन, उपवन, चन्द्र, चाँदनी, पुष्प और परागादि उनके अन्तर्गत हैं।

उदाहरण

कबित्त——

कुंज-पुंज में है मंजु गुंजत मिलिंद-वृंद
छबि-पुंजता है कंज-पुंज में कलोलती।
भारवती सौरभ के भार ते बिपुल बनि
वैहर-बसंत की है मंद मंद डोलती॥
'हरिऔध' लालिमा अनार कचनारन की
ललकि ललकि है लुनाई-मुख खोलती।
मानव-अबौरो-मन बार बार बौरो करि
बौरी-कोकिला है बौरे-आमन पै बोलती॥ १॥

कौमुदी कुमोदिनी की परम-प्रमोदिनी है
कमनीय-मेदिनी है कुमुद-निकर ते।
राजित रजत-दुति ते है तरु-राजि-दल
रुचिर बनी है बेलि रुचि-रुचिकर ते॥
'हरिऔध' राका-रजनी हूँ लोक-रंजिनी है
बहु-अनुरंजिता हो कांति-कांतकर ते।
सुधा-छाप बार बार करि बसुधा-तल को
सुधा-बिंदु चुवत सुधाकर के कर ते॥ २॥

दोऊ हैं जलधि-जात सरसात सीकरन
दोऊ हैं बसीकरन-पथ अनुसरते।
दोऊ हैं सुखद ताप-कदन मदन-धाम
सीतलता-सदन सरस-रसधर ते॥
'हरिऔध' दोऊ हैं सजीवन स-जीवन के
आजीवन जीवन को मोद हैं बितरते।
सुधा-धार स्रवत धरा पर सुधाधर ते
सुधा-बिंदु चुवत सुधाकर के कर ते॥ ३॥

पुलकित-कोमल-कलित-किसलै समान
सु-ललित-पानि औ मृदुल-पग दरसात।
बिकसित-सरस-प्रसून लौं प्रमोद-वारे
प्यारे प्यारे अधर सुगंधन-सने लखात॥
'हरिऔध' जाकी हरियाली लाली जोबन की
लगे-नेह-बायु मंद मंद मंजु लहरात।
लपटी नव-तनु-तमाल अलबेले-लाल
बाल-अलबेली नेह-बेली ज्यों लहलहात॥ ४॥

कंत जो न आयो कत आयो तो बसंत-पापी
पावक लगावति पलासन की पाँति है।
कल-कंठ-कूक बहु-बिकल बनावति है
बौरे-बौरे-आमन बिलोकि बिलखाति है॥
'हरिऔध' बैहर ते बिहरि करेजो जात
अवलोकि कुसुम-अवलि अकुलाति है।
पीरे-पीरे-पातन ते पीरी परी जाति बाल
सीरे उपचारन ते सीरी परी जाति है॥ ५॥

दोहा—

अमल-धवल-नभ-तल भयो नवल-प्रभा को पाय।
खिले-कमल जल मैं लसत पल पल नव-छवि छाय ॥ ६ ॥

निकरत नभ मैं निरखियत रस-मय-किरिन पसारि।
रतनाकर-अंकम-रतन नव-रतनन-छवि धारि ॥ ७ ॥

मधुर-तान गूंजत गगन तजत तेज गुन भान।
रस-मय करत वसुंधरा समय-सुरन को गान ॥ ८ ॥

निर्मल-नीले-नभ दिपत नव-द्युतिवंत-कलिंद।
फूले-फूले-कमल पै भूले फिरत मिलिन्द ॥ ९ ॥
हरे लेत काको न मन खिले-फूल ए लाल।
हरी हरी ए पत्तियाँ हरी भरी ए डाल ॥१०॥

बरवा—

बन बागन मैं मोरवा करत पुकार।
इत उत होत झिंगुरवा घन-झनकार ॥११॥

सखा

समान-शील-व्यसन, सुख-दुःखादि में नायक का सच्चा सहायक पुरुष सखा कहलाता है।

उदाहरण

दोहा—

सुख मैं सुखित सदा रहत दुख में दुखित दिखात।
सहज-सखा सब दिवस रस बरसत सरसत जात ॥१२॥

सखा के भेद

सखा चार प्रकार के होते हैं—१ पीठमर्द, २ विट, ३ चेट और ४ विदूषक

१—पीठमर्द

मानवती नायिकाओं के प्रसन्न करने में समर्थ सखा पीठमर्द कहलाता है।

उदाहरण

दोहा—

घूमि घूमि घिरि घिरि लगे नभ मैं घन घहरान।
मान छोरिदै मानिनी कही हमारी मान ॥१३॥
सरस-देह पादप भये नेह-पाठ करु कंठ।
कोकिल-कंठी मान तजु कूकि उठे कल-कंठ ॥१४॥

२—विट

जो सखा सब प्रकार की कलाओं में कुशल होवे उसको विट कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

मोहत ललना-लाल-उर बिलसि लालसा माँहिं।
सकल-कला-कोविद सकत कौन कला करि नाँहिं ॥१५॥
बिविध-भाव प्रकटत रहत सरस एक ते एक।
तिय-पिय-सुख-तन-छाँह बनि छोरत नाँहिं छनेक ॥१६॥

३—चेट

नायक-नायिका को यथावसर चातुरी से मिला देने में निपुण सखा चेट कहलाता है।

उदाहरण

दोहा—

कबौं मिलावत कुंज में कबौं कालिंदी-कूल।
चेट करत चेटक रहत काल मिले अनुकूल ॥१७॥

मुक्तामय कत करत नहिं सींचि वारिधर-गात।
लखेउ मालती-कुंज मैं कनक-बेलि लहरात ॥१८॥
क्यों न मयूरी करति है सफल नयन-जलजात।
कालिंदी के कूल पै विलसत बारिद-गात ॥१९॥

४—विदूषक

विवध कौतुक, स्वांग और हास-विलास द्वारा जो नायक और नायिका को आनन्दित करता रहता है उसे विदूषक कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

हँसत हँसावत ही रहत रिझवत सहित विवेक।
सौतुक ललना लाल के कौतुक करत कितेक ॥२०॥
करत रसिकता ही रहत बसि रसिकन मन माँहिं।
हरि वनि राधा को छलत वनि राधा हरि काँहिं ॥२१॥

सखी

जिस सहचरी से नायक-नायिका कोई भेद नहीं छिपाते तथा जो सुख-दुःख में सच्ची हितकारिणी और सहायिका होती है उसे सखी कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

चित-कलिका हित जो वनति प्रातकाल की पौन।
सखी सरिस सुखदाइनी सरसमना है कौन ॥२२॥

सखी के भेद

हित-दृष्टि से सखी चार प्रकार की होती है-१ हितकारिणी, २ व्यंग-विदग्धा, ३ अन्तरंगिणी और ४ बहिरंगिणी। कर्म उसके चार होते हैं-१ मण्डन, २ शिक्षा, ३ उपालम्भ और ४ परिहास।

१—हितकारिणी

जो नायिका का कार्य शुद्ध हृदय और निष्कपट भाव से करती है वह सखी हितकारिणी कहाती है ।

दोहा——

हित ही मैं रत रहति है हितू-सखो दिन-राति ।
सुखित सुख बिलोके बनति दुख मैं दुखित दिखाति ॥२३॥
तन मन वारत ही रहति धरति न धन को ध्यान ।
सखी निबाहति नेह है हित पै ह्वै बलिदान ॥२४॥

२—व्यंग्यविदग्धा

उचित अवसर पर जो व्यंग वचन द्वारा अपना कार्य साधन करती अथवा निज अभिप्राय प्रकट करती है, उसे व्यंगविदग्धा सखी कहते हैं ।

उदाहरण

दोहा——

कत अँगिराति जम्हाति बहु भयो कौन सो तंत ।
कत धरकत उर अधर कत अरी भयो छतवंत ॥२५॥
बाल कहा तेरे भये लोचन इतने लाल ।
वामैं विलसत लाल हैं परिगो किधौं गुलाल ॥२६॥

३—अन्तरंगिणी

सर्वभेदज्ञ और प्रत्येक रहस्य की बात जाननेवाली सखी अंतरंगिणी कहाती है । यह सखी जो कार्य जिसके निमित्त करती है उसका ज्ञाता उसको छोड़ अन्य नहीं हो सकता ।

उदाहरण

दोहा——

सब मम मनहो की करति मान-भरी रहि मौन ।
अंतरंगिनी के बिना अंतर जानति कौन ॥२७॥

जासु बचाये पति रही क्यों न ताहि पतियाहिं।
तासों अंतर कौन जो अंतर राखत नाँहिं ॥२८॥

४—बहिरंगिनी

बाहर की जो अनेक बातों से अभिज्ञ होती है और अपना कार्य स्पष्ट बातें कहकर करती है उसको बहिरंगिनी सखी कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

रीझि रिझावति ही रहति मंद-मंद-मुसुकाति।
बतिया कहि कहि रस-भरी रस बरसत ही जाति ॥२९॥
साध पुजावति सुख लहति बिलसति भरे-उमंग।
गरब गहेली ह्वै सधति सधी सहेली संग ॥३०॥

मण्डन

नायिका को वसन-आभूषणों से सजाना उसके बालों को गूँथ देना इत्यादि मण्डन कहलाता है।

दोहा—

सोहत तव गर मैं रहै मो मन बनै निहाल।
मोहन को मोहत रहै मंजु महमही माल ॥३१॥
पहिराई चुनि चूनरी सजे सुहावन-साज।
अंजन-रंजित दृग किये पिय-मन-रंजन काज ॥३२॥

शिक्षा

सखी शिक्षा-सम्बन्धिनी जो बात कहती है उसे शिक्षा कहते हैं।

कवित्त—

दीपक-सिखासी-दुति-खासी देहकी दिखाय
सौतिन को दुसह-दवा सी दहिबो करो।
भाव-भरी इन अँखिआन सों चितैकै
मनमोहन-चितै को चोरि लीबो चहिबो करो।

पाइ परजंक पै पियारे 'हरिऔध' काँहि
अंक भरि भावती मयंक गहिबो करो।
दाख लौं रसीले रस-बरसीले-बैन बोलि
निज-अभिलाख लाख-लाख कहिबो करो ॥३३॥

उपालम्भ

नायक एवं नायिका को उलाहना देना उपालम्भ कहलाता है।

दोहा—

जा रस ते सरसत रहत मनसिज-मंजुल-बान।
तरुनी तू तानति कहा तापै भौंह-कमान ॥३४॥
जाते असरसता लहति परम-सरस-दृग-कोर।
भली भामिनी होति नहिं ऐसी भौंह-मरोर ॥३५॥
वाके छुत ते अछुत-उर, छरछरात दिनरात।
क्यों तेरे तिरछे-नयन बरछी हैं बनि जात ॥३६॥

परिहास

नायिका को हँसाने, छेड़ने अथवा आनन्दित करने के लिये सखी जो बात कहती है उसे परिहास कहते हैं।

दोहा—

चख ते चिनगारी कढ़ी चितवत पिय की ओर।
तजि चिनगी चुगिहै कहा आनन-चंद-चकोर ॥३७॥
उचित-मिलन हीं मिलन है भलो न अनमिल-संग।
गोरो-तन कारो बनत परसे कारो-रंग ॥३८॥
है सुंदर भोरी-हँसी गोरी-गोरी-देह।
नेहनिबाहत कौन है करि नेहिन सों नेह ॥३९॥

दूती

सन्देश ले जानेवाली, नायक-नायिका में संयोग करानेवाली और समयोपयोगी वचन-रचना में निपुण स्त्री को दूती कहते हैं। वह तीन प्रकार की होती है-उत्तमा, मध्यमा और अधमा। उसके कर्म छः हैं, १ विनय, २ स्तुति, ३ निन्दा, ४ प्रबोध, ५ संघट्टन, ६ विरहनिवेदन। कभी नायका स्वयं भी दूतत्व करती है उसे स्वयंदूती कहते हैं।

उदाहरण

कवित्त—

छवि अवलोके मैलो लगत छपाकर है
लोल-लोल-लोचन विलोके ललचाति है।
मधुमयी मंजु-मुसुकान चित चोरति है
मोहनी पै मोहि मोहि मोहित दिखाति है।
'हरिऔध' कमनीय-काम सम तन हेरि
कामिनी की सारी-मान-कामना हेराति है।
रिस-भरी रस-भरे सैनन ते सरसाति
सोरे-सीरे-बैनन ते सीरी परि जाति है ॥४०॥

सवैया—

आनन-चंद की जो है चकोरिका चित्त ते ताहि उतारत लाजैं।
चातकी जो घन से तन की अहै तापै न गाज गिराइ कै गाजैं।
जो 'हरिऔध' सुधा न पिआवत तो वसुधा मैं बसेहुँ न भाजैं।
जो सुख-साजन ते न सजावत साजन तो दुख-साज न साजैं ॥४१॥

दूती-प्रकार

मधुर और प्रिय वचनों द्वारा अपना कार्य साधन करनेवाली को उत्तमा, कुछ मधुर कुछ तीखी बातों से काम लेनेवाली को मध्यमा और उग्रस्वभावा और मधुर-कटुवादिनी को अधमा दूती कहते हैं।

विनय

स्त्री अथवा पुरुष से विनय करके जब दूती कार्य साधन करती है तब उसे विनय कहते हैं।

उदाहरण

उत्तमा दूती

दोहा—

सुधि लीजै मो विनय सुनि गहत पिपासित पाय।
सुधा-पियासे को सकति तू ही सुधा पिआय ॥४२॥

मध्यमा

मोहहु मोहित रसिक पै रस बरसहु दै मान।
नय न तजहु नीरज-नयनि करहु विनय मम कान ॥४३॥

अधमा

दोहा—

कर जोरे हूँ नहिं तजति बरजोरी की बान।
गिनती के हैं सुख-दिवस करु विनती को ध्यान ॥४४॥
काँटे लौं कसकत रहत अस कत बोलत बैन।
अकरुन किये कहा फिरति करु सकरुन ए नैन ॥४५॥

स्तुति

जब दूती स्तुति अथवा प्रशंसा द्वारा अपना कार्य साधन करती है तब उसे स्तुति कहते हैं।

उदाहरण

उत्तमा

दोहा—

तेरे जैसे नहिं सुने मधुर-रस-भरे बैन।
ऐसे काके कमल से बड़े बड़े हैं नैन ॥४६॥

कवित्त—

बिबस बनाइ वारनादिक विहंगहूँ को
बनचर बानरादि हूँ को बहरावै है।
बिटप औ बल्ली हूँ बिमोहि बिलमावै बारि
बहत बयार हूँ की गति बिरुझावै है।
'हरिऔध' बूझि देखै बैगुन बिलोकै कहा
बावरी जो ब्रज बनितान को बनावै है।
बिबुध बरूथ बिबुधेस बिधि हूँ को बेधि
बीर बनमाली बन बाँसुरी बजावै है ॥४७॥

मध्यमा

दोहा—

कामैं ऐसी सरसता कामैं ऐसो भाव।
कहूँ मिल्यो नहिं भावती तो सम मृदुल-स्वभाव ॥४८॥

अधमा

दोहा—

अपनावत ही रहत हैं मोहि लेत हैं मोल।
मेरे लोयन मैं बसे तेरे लोयन लोल ॥४९॥

निन्दा

नायक अथवा नायिका की निन्दा करके दूती का कार्य साधन करना निन्दा कहलाता है।

उदाहरण

उत्तमा

दोहा—

सुरसरि-धारा मैं परति बैतरनी को बारि।
कबहूँ निंदित जो बनति परम अनिंदित नारि ॥५०॥

मध्यमा

कबित्त—

कहा कलपाये ऐसी कलप-लता सी हूँ को
जीवन-स्वरूप जाके जग मैं जिये के हो।
भलो कौन भाखिहै रखे ते भेद तासों तुम
एक-फल जाके नाना-साधन किये के हो।
'हरिऔध' कहत बनै ना पै कहे ई बनै
खीन लखि ताको जाके जनम लिये के हो।
कूटि कूटि कपट तिहारे पोर पोर भरी
निपट कठोर तुम साँवरे हिये के हो ॥५१॥

दोहा—

हौं निंदत भूले नहीं है निंदित तव चाल।
क्यों एनी-नैनी कहे परति तनैनी बाल ॥५२॥

अधमा

दोहा—

भाल-अंक को कहि बुरो भौंह करति कत बंक।
तू है नाँहि कलंकिनी तो कत लग्यो कलंक ॥५३॥

प्रबोध

स्त्री अथवा पुरुष का प्रबोध करके अर्थात् उन्हें समझा बुझाकर जब दूती अपना कार्य साधन करती है तब वह प्रबोध कहलाता है।

उदाहरण

उत्तमा

सुख-रजनी ऐहै बहुरि नसि जैहैं सब संक।
बिकसित ह्वैहै उर-कुमुद लखि पिय-बदन-मयंक ॥५४॥

मध्यमा

परी जाति कत दूबरी कत तव तन पियरात।
धीर धरे ही भावती दुख के दिवस सिरात ॥५५॥

अधमा

वे सोअत सुख-नींद हैं तू रोअति दिन-राति।
वे उत आकुल हैं न तो तू इत कत अकुलाति ॥५६॥

संघट्टन

नायक और नायिका के परस्पर सम्मिलन का साधन दूती की जिस क्रिया द्वारा होता है उसे संघट्टन कहते हैं।

उदाहरण

उत्तमा

गति-मति मान-अपमान की कथान भूलि
तेरे गुन-गान ही की बिरद लियो है री।
दिन-रैन तेरे नैन-बैन ही की बातैं कहै
तेरी तीखी-सैनन पै मनहूँ दियो है री।
रटनि लगी है आठो-जाम तेरे नाम ही की
तेरो ही भयो सो 'हरिऔध' को हियो है री।
आली तूने लोनो लोनो सोनो सों सरीर लहि
सहज-सलोनो हूँ पै टोनो सो कियो है री ॥५७॥

कलित-कपोलन पै अलकैं लुरी हैं मंजु
सुललित-आभा लसी अधर-तमोर की।
हियरो हरनवारे हिय पै फबे हैं हार
अंगन-प्रभा है आछे-भूखन-अथोर की।
'हरिऔध' वेस-बसनादिक बखाने बनै
आने बनै उर मैं निकाई नैन-कोर की।
एरी बीर काकी मति बावरी बनी है नाँहिं
सु-छवि बिलोकि बाँकी नवल-किसोर की ॥५८॥

मध्यमा

सवैया--

जीवन है सिगरे जग को लखि जीवत तेरे ही आनन-ओर है।
प्रान है कामिनि को 'हरिऔध' पै हेर्‌यो करै तव-आँखिन-कोर है ॥
भाग है ऐसो तिहारो भटू इतनो कत कीजत मान-मरोर है।
"है घन-श्याम पै तेरो पपीहरा है ब्रज-चंद पै तेरो चकोर है" ॥५९॥

अधमा

सवैया—

मैनमयी लखि मूरति श्याम की बीर न कैसहूँ धीर धरैगी।
नैन परी जो कहूँ मुसुकान तो फेर न ऐसो गुमान करैगी॥
साँची कहौं 'हरिऔध' मिले सबही अठिलानि की बानि टरैगी।
का न करैगी अरी तू अबै यह बाँसुरी-तान जो कान परैगी॥६०॥

विरहनिवेदन

नायक-नायिका दोनों का विरह दूती एक दूसरे पर जिस कार्य द्वारा प्रकट करती है उसे विरह-निवेदन कहते हैं।

उदाहरण

उत्तमा

कवित्त—

छिन छिन छीजत है परम-छबीलो-अंग
बिपुल-बिलासवती हिम सी बिलाति है।
रस-हीन सहज-सरलता-सरसि होति
सूखति सनेहमयी-सरिता लखाति है।
'हरिऔध' आये तो तुरंत अवलोको चलि
बिधुरा बियोग-बारिनिधि मैं समाति है।
सुधि आये सिहरि सिहरि बहु सिसकति
गात सियराये बाल सीरी परी जाति है॥६१॥

दोहा—

नेह-स्वातिजल-दान कै सरसहु घन-अभिराम।
पीपी कहि प्यारी रटति पपिहा लौं तव नाम॥६२॥

चलहु बहुसरस बनि हरहु पिय असरस-दुख-पुंज ।
कंज-नयनि तो बिन भई अललित ललित-निकुंज ॥६३॥

मध्यमा

दोहा—

सरसिज है सोई सरस जो सब दिन सरसात ।
सूखे-मुँह ते कत कहति तू सखि सूखी-बात ॥६४॥
बिकसित ह्वै ह्वै करति है भँवर काँहिं रस-लीन ।
कबौं कमलिनी ना बनति कोमलता ते हीन ॥६५॥

अधमा

कहिहै बतिया बहँकि तो कछू न रहिहै हाथ ।
कितनी रहति कुरंगिनी एक कुरंगम साथ ॥६६॥
देखी कितनी सुंदरी सुने बहुमधुर-बैन ।
तेरे ही कामिनि नहीं अहैं कमल से नैन ॥६७॥

स्वयंदूती

जो नायिका दूती का कार्य्य स्वयं करती है उसे स्वयं-दूती कहते हैं ।

उदाहरण

सवैया—

कौन सों सोग भये जलजात लौं कोमल-आनन है कुम्हलायो ।
कौन सी पीर भई उर मैं अहै आँखिन जाते अजौं जल छायो ॥
साँची कहो 'हरिऔध' कहा भयो जो इतनो मन है मुरझायो ।
काके बियोग-बिभूति मली तन-गोरो गुलाब सों क्यों पियरायो ॥६८

कवित्त—

दूनी आब-ताब है गुलाब गुलदाउदी मैं
आभा उफनाति सी लखाति है निवारी मैं।
चंपा चारु-चाँदनी पै चौगुनी चढ़ी है विभा
सौगुनी-प्रभा है सेत-सेवती सँवारी मैं।
'हरिऔध' जैयै कत कलित-कुसुम काज
कूल कालिंदी की वा अलीनवारी-बारी मैं।
न्यारी-न्यारी छबि के सुगंध-वारे प्यारे-फूल
क्यारी-क्यारी फूले हैं हमारी फुलवारी मैं॥६८॥

अन्य उद्दीपन-विभाव

पवन

दोहा—

परसि परसि काको नहीं पुलकित करत सरीर।
सहज-सुवासन ते सनो सीतल-मंद-समीर॥६९॥

वन

दोहा—

अलका को मोहत रहति वाकी ललित-निकुंज।
नंदन-अभिनंदन अहै छिति-तल-बन छबि-पुंज॥७०॥
पादप-पुंज-प्रधान-थल खग-मृग-निकर-निवास।
बहु-बिलसति बन-भूमि है बनि मधु-मंजु-मवास॥७१॥

उपवन

दोहा—

कलित-पादपावलि-लसित ललित-लतान-निकेत ।
मंजुल-कुसुमावलि-बलित उपबन है छवि देत ॥७२॥

पुष्प

दोहा—

ललकित-लोयन मैं बिलसि बनि छिति-छबि-अनुकूल ।
फूले हैं क्यारीन मैं रंग रंग के फूल ॥७३॥

पराग

दोहा—

क्यारिन मैं महमह महँकि लहि अलिगन-अनुराग ।
बन-बागन बिहरत रहत सरस-प्रसून-पराग ॥७४॥

चन्द्र

दोहा—

स्याम स्याम-छबि अंक से अंकित करि निज-अंक ।
मोहि मोहि काको नहीं मोहित करत मयंक ॥७५॥

नभ मैं कम तारे नहीं काम-रूप अ-कलंक ।
बरसत बसुधा मैं सुधा सुधा-निवास-मयंक ॥७६॥

कैसे छिटकति चाँदनी करि छबिमय छिति-अंक ।
क्यों होती रंजित रजनि होतो जो न मयंक ॥७७॥

चोर-चैन-हर चारुता-चोर रुचिर-रुचि-रंक ।
है चकोर-चित-चोर जग-लोचन-चोर-मयंक ॥७८॥

केहि आनंदित नहिं करत हँसि हँसि बनि सुख-अंक।
प्रकृति-भाल-चंदन-तिलक गगन प्रसून मयंक ॥७९॥

चाँदनी

काहू की कीरति-बिमल फैली है मन मोहि।
कै चमकति है चाँदनी चारु-धरा पै सोहि ॥८०॥

चारु-चंद की चाँदनी बिलसी भू-तल माँहिं।
सुधा-धार धोवति अहै कैधों बसुधा काहिं ॥८१॥

काको है सुख होत नहिं काहि न होत हुलास।
लखे चाँदनी-अंक मैं गुल-चाँदनी-बिलास ॥८२॥

कै छिटको है चाँदनी लहे समय अनुकूल।
राका-रजनी को अहै कैधों कांत-दुकूल ॥८३॥

किधौं बिछी है चाँदनी किधौं प्रकृति को हास।
किधौं खिली है चाँदनी कैधौं चंद-बिकास ॥८४॥

षट ऋतु

वसंत

कबित्त—

पादप को पुंज पूरि गयो पीरे-पातन ते
पाटल-प्रसून हूँ परागन पगंत है।
कुहू कुहू क्वैलिया कदंबन पै कूकै लगी
कुंज कुंज काम की कलाहू प्रगटंत है।
एहो 'हरिऔध' कुंद कंज कचनारन मैं
बगर बज़ारन बिनोद बगरंत है।
ठौर ठौर झौंरन लग्यो है भौंर-भौंर-वारो
बागन मैं बौर-वारो बगर्यो बसंत है ॥८५॥

नये-नये-कोंपल मैं मंजरी लसी है मंजु
न्यारी ही भई है छटा दिपत-दिगंत की।
चहूँ ओर चंचरीक-पटली करति गान
आभा भई गगन अनोखे निसिकंत की।
'हरिऔध' छिति पर छाई है छगूनी छटा
चारों ओर सुछबि बनी है छविवंत की।
पौन के लगे ते कैसो डोलत है तरु-वृंद
कैसी आज फूली फुलवारी है बसंत की ॥८६॥

कम कमनीय हैं न जग-अनुरंजिनी हैं
बिलसति कोंपलें बिटप-अंक जेती हैं
फूले फूले फूलन पै गुंजत मधुप-पुंज
चिरिया हूँ चहकि चहकि चित चेती हैं।
'हरिऔध' लतिकाएँ बिपुल ललित बनि
ललकित-लोचन मैं लोच भरि देती हैं।
करि अठखेलियाँ ललामता की लाली रखि
लाल-लाल-बेलियाँ निहाल करि लेती हैं ॥८७॥

मधु-मोह बनि है मधुप मैं बिराजमान
काकली ह्वै कोकिल-कलाप मैं बसत है।
चौगुनी-चमक बनि राजत मयंक मैं है
चारु-चाँदनी मैं चारुता मिस हँसत है।
'हरिऔध' हरे-हरे-तरु मैं हरीतिमा है
छवि-ब्याज बारिज-बरूथ मैं बसत है।
सरस-सुमन पै बरसि रस सरसत
बेलिन-बिलास मैं बसंत बिलसत है ॥८८॥

फूले हैं पलास कैधौं दहकि दवारि लागी
कूकैं पिक कैधौं कंठ बधिक-प्रवीन को।
उलही धरा पै लसी लतिका-ललित कैधौं
जोहि जोहि जालन सों जकस्यो जमीन को।
'हरिऔध' बाहत बिखीले-बाँके बानन को
कैधौं बिकस्यो है जूह कुसुम-कलीन को।
एरो बन बागन में बगस्यो बसंत कैधौं
पंचबान खेलत सिकार बिरहीन को ॥८९॥

काढ़ि लैहै क्वैलिया करेजो कूकि कुंजन में
बावरी बनैहैं मौरि आम-अमराई मैं।
गूँजि गूँजि भौंरन की भीर हूँ अधीर कै है
पीर हूँ उठैगी पीरे-पात की पराई मैं।
एहो 'हरिऔध' मेरे हिय ना हुलास रैहै
बारिज-बिकास हेरे पास की तराई मैं।
अंतकलौं अंत ए करैंगे काम-तंत-वारे
कंत जो न आयो या बसंत की अवाई मैं ॥९०॥

मोरि मान परम गुमान अभिमान हूँ को
मरदि गयो है मेरे मन हूँ मलीन को।
चूर चूर करिकै चपल-चित-चैन हूँ को
चोरि लै गयो है चाव-कुसुम-कलीन को।
प्रीतम हमारे 'हरिऔध' प्रान-प्यारे बिना
करिकै उजार मंजु केलि की थलीन को।
पारिकै अनन्त-सोक-सागर में अंत आली
मारिकै चल्यो है री बसंत बिरहीन को ॥९१॥

सवैया--

कै कुसुमावलि है बिकसी अथवा कुसुमाकरता उमही है।
पा मलयानिल मोहकता मलयाचल सी बनी मंजु मही है।
नंदन के बन सी कमनीयता पादप-पुंज में पूरि रही है।
चैत-सुधाकर के कर सों कढ़ि चारु-सुधा बसुधा पै बही है ॥९२॥

फूलि कै फूलन मैं तन को तरु-किंसुक को तनिकौ लरजै ना।
आमहूँ बौरि कै बाग मैं बूझत बौरी बनावन मैं हरजै ना।
गूँजिबो त्यागि कै भृंग न ताइबे की 'हरिऔध' रखै गरजैना।
कूकि कै काढ़त प्रान क्यों कोऊ कसाइनी क्वैलिया को बरजै ना॥९३॥

दोहा—

कुसुमित करि उपवन बिपिन बनि बनि बहु छविवंत।
बरबस लोयन मैं बसत विलसत-सरस-बसंत ॥९४॥

बसि बसि जन-लोयनन मैं ललकित-चित हरि लेति।
सेमल-सुमन-ललामता लालायित करि देति ॥९५॥

काको मन मोहत नहीं कासों लहत न प्यार।
चैत-सित-सिता मैं बिलसि सेत-सुमन-कचनार ॥९६॥

को नहिं ललकत बहु-लसित हेरि पलासन-पाँति।
कौन लालसा कुसुम-कुल-लाली लखि न ललाति ॥९७॥

आकर होतो कुसुम को जो कुसुमाकर नाँहिं।
कैसे सुंदर-कुसुम-सर मिलत कुसुम-सर काँहिं ॥९८॥

कैसे बनि बिकसित-बिपुल बिकसत सुमन-अनंत।
कैसे रस-बरसत रहत सरसत जो न बसंत ॥९९॥

ग्रीष्म

कवित्त—

सूख्यो कंठ तालु साथ रसना दहन लागी
पूखन बिखै मैं ओठ अजहूँ न डोले हैं।
बानी जू सिधानीं त्रास मानि बहु-ताप केरो
आतप-प्रताप के न बैन जऊ बोले हैं।
'हरिऔध' बापुरो कहै तो कछु कैसे कहै
तन ते बिचार के किये ही कढ़े सोले हैं।
दावा किये उर मैं निदाघ-दाघ आँकन कौ
अनुमान-पग हूँ मैं परत फफोले हैं ॥१००॥

तजिकै तमोल तिल-तेल तहखानन कौ
तरुनी-तियान ते बिदूरता गहत है।
बरफ बनाई बारुनी ते ह्वै बिरत बीर
ब्यजन-बयार ते बिनोद न लहत है।
'हरिऔध' सीरे-सीरे-ब्यंजन बिहाय सारे
बसन-बिभूखनादि हूँ को ना चहत है।
जोर भये जगत मैं जरत-जलाकन के
जीवन को जीवन मैं जीवन रहत है ॥१०१॥

लपट औ बिदहत लूकन को कावा होत
बायु दहि दावा होत दिनकर-चंड ते।
'हरिऔध' अगनित-आयत अलावा होत
रज-कन लावा होत तपन-अखंड ते।
दिसि दिसि दगधित-धूरन को धावा होत
ग्रीखम-छलावा होत दीधित-उदंड ते।

जगत पजावा होत तीन-लोक आवा होत
भूमि तपि तावा होत आतप-प्रचंडते ॥१०२॥

कहा इत ठाढ़ी करै लखै कि न कैसो दव
देहिन दिसान को दहत दरसत है।
तरुन के पातन को तन तचि कारो भयो
तोय तविताप सों तपन परसत है।
'हरिऔध' गिरिन को गात गरमानो घनो
जरि जरि रज को समूह झरसत है।
भागि चलु एरी भौन माँहिं भोरही ते आज
आतप-अगार ते अँगार बरसत है ॥१०३॥

अमित-उमंड सों बिहंडित ह्वै बार बार
ठंडता अठंडता भई है खंड खंड की।
अंड बंड बाँकी बरिवंडता हूं होन लागी
बीर! घनसार-खंड हूँ से बरिवंड की।
ग्रीखम-प्रचंड की प्रचंडता मैं 'हरिऔध'
खंडित उदंडता भई है ब्रहमंड की।
दंडहिं उदंड ह्वै अखंड-महि-मंडल को
दावा-दंड-मंडित-मरीचैं मारतंड की ॥१०४॥

आतप मैं पूखन की प्रखर-मरीचिन ते
थर थर रूखन की पाँतिहूँ कँपति है।
जीवन की भाखै कौन जीवन बिना हूँ जरि
रज की जमाति नाम-जीवन जपति है।
'हरिऔध' भभरि भभूकन औ लूकन ते
छायावान-कुंजन मैं छाया हूँ छपति है।
जोम ते जलाकन के जगत पजावा भयो
भौन भये आवा भूमितावा सो तपति है ॥१०५॥

सूखे जात तपरितु-त्रास ते सरित सर
कूपन मैं आप दुरि ताप ते बचत है।
पानिप-विहीनता बिलोकि बारि-बारन की
बारिधि के पेट माँहिं पानी ना पचत है।
'हरिऔध' भीखनता हेरिकै भभूकन की
भूरि-भय-अभिभूत भूतल जँचत है।
पल पल बहु-हिम-जल ते सिंचत तऊ
तवा लौं स-अंचल हिमाचल तपत है ॥१०५॥

बार बार बरि बरि उठहिं बिपुल-बन
पावक मैं पादपता पादप की पगी है।
तपरितु-ताप ते तवा सम तपति महि
बारि हूँ की सीतलता आतप ते भगी है।
'हरिऔध' भरे से अगार हैं अँगारन सों
आग सी बगर औ बजारन मैं लगी है।
ज्वाल उगिलत ज्वालामुखी के समान रवि
ज्वालमाला सारे जगती-तल मैं जगी है ॥१०६॥

प्रतपित तपरितु-ताप ते वसुंधरा है
प्रलय-प्रकोप ते तिहूँ पुर किधौं तये।
पावक-दुरंत ते दिगंत है दहत किधौं
दावा-मय सेस के सहस-फन ह्वै गये।
'हरिऔध' कोऊ दव-गिरि है बमत दव
नरक-अँगार कैधौं छिति-तल पै छये।
खुलिगो तिलोचन को तीसरो बिलोचन कै
दिव माँहिं द्वादसो दिवाकर उदै भये ॥१०७॥

दावामय बने सीरे सीरे सारे-उपचार
सेस-फन साँस भई सरस-समीरता।
पावक ते पूरि गये सरित सरोवरादि
नभ छाई धूरि बनि धरती-अधीरता।
'हरिऔध' तपरितु-तीखन-तपन तपे
तात भो तुहिन लोप भई नीर-नीरता।
चंदनता चूर चूर भई चारु-चंदन की
दूर भई सिगरी उसीर की उसीरता ॥१०८॥

सवैया——

लेप उसीर को है सरसावत भावत चंदन-चूर बगारो।
सेद-सनो-तन है सुख पावत सीरे-समीर को पाइ सहारो॥
ही अनुरागत है अवलोकत सीतल-बारि है लागत प्यारो।
तावन-वारो उपावन हूँ किये आयो निदाघ सतावन-वारो ॥१०९॥

भीखन भोर ही ते बनि पूखन है जन के तन को बहु तावत।
आग लगाइ अगारन माँहि अँगार धरातल पै बगरावत॥
का 'हरिऔध' करै कित जाय अहै तप-ताप अपार तपावत।
ना तहखानन में कल आवति ना खसखानन मैं सुख पावत ॥११०॥

दोहा—

निज-जननी को देखि दुख उठति ताप लहि भूरि।
धधकत दव लखि धरनि मैं रवि-दिसि धावति धूरि ॥१११॥

दहन बने रवि-करन के 'दाह' न सकत निवारि।
कैसेहूँ उबरत नहीं जो न बरत जन बारि ॥११२॥

काहि बहु तपावत नहीं तपरितु-आतप-ताप।
तपन आपहूँ करन ते पिअत सरित सर आप ॥११३॥

का अचरज जो बहु जगी जग-जीवन की प्यास।
बन को नाम जपति अहै जरि जरि बन की घास ॥११४॥

पावस

कबित्त—

प्यारे-प्यारे कारे-घन घूमन चहूँघा लगे
तन मन बापुरे बिदेसिन के लरजे।
उलही ललित लतिकाहूँ लहरान लागी
सलिल-सने से भये सूखे रहे थर जे।
'हरिऔध' धूँधरित धुरवा दिसान कीने
फोरैं कान केकी ए न मानैं बीर बरजे।
पीरद-बियोगिनी के धीरद सँयोगिनी के
नीरद के गगन नगारे आनि गरजे॥११५॥

कुंजन मैं बार बार कूकत कलापी-कुल
पपिहा पुकार बार बार प्रीति परखत।
घूमि घूमि घेरि बार बार घन घहरत
हिलि हिलि तरु बार बार चित करखत।
'हरिऔध' बार बार झिल्ली-झनकार होति
तिय-हिय लागि बार बार पिय हरखत।
बीजुरी बिकासित करत ब्योम बार बार
बारिधर बार बार बारि-धारा बरखत॥११६॥

बनी ठनी बिबिध-बिलासवती-बाल होय
बास बँगलान होय बसन बसा रहै।
बार बार बीजुरी को बिपुल-बिकास होय
बरखत बारि होय बारिद घिरा रहै॥
'हरिऔध' बीना बेनु बजत स-मोद होय
बाँदी होय बेना होय बढ़त बिभा रहै।
बीरा होय बीरी होय बारुनी बयार होय
बारी बैस होय तबै बरखा-बहार है॥३॥

कारी कारी घटा नभ घूमि घहरान लागी
बावरी हमारी तऊ बतिया बनी कहाँ।
'हरिऔध' प्यारी-छबि छाई अवनी-तल पै
पावै मोद सीतल ह्वै तबौ मेरो ही कहाँ॥
लाग करि आई बाग बिरह दबाइबे कौ
एरी पै अभाग-वारी पावै सुघरी कहाँ।
जौ लौं या हमारो जी हरा न नेको होन पायो
पातकी-पपीहरा पुकार्‌यो तौलौं पी कहाँ॥११८॥

भूखन बिना ही भूरि भूखित भई सी लसै
भावुकता दीखै भामिनी के भाव भोरे मैं।
चंचल-चितौन चित माँहिं चुभि चुभि जाति
चारुताई-चौगुनी लखाति चारु-डोरे मैं॥
पन्नगी सी पेंग पारि पारि कै पलटि जात
लपकि लपटि जात 'हरिऔध'-कोरे मैं।
ऊँची-ऊँची-तानन ते कानन सुधा बगारि
गोरे-गोरे-आनन की झूलति हिंडोरे मैं॥११६॥

सवैया--

या कजरारी घटान-छटान को बैठी अटान बिलोकत जाति है।
मोद मयूरिन को लखि कै मनही मन मोद-भरी मुसकाति है॥
प्रात परी सी घरी ही घरी 'हरिऔध' के अंक परी अलसाति है।
बाल बिलासवतीन को बीर बिलासमयी बरसात की रातिहै॥१२०॥

चहुँ-कोद पयोद बिलोकन मैं निज मोद-भरो मन दीबो करो।
करि कौतुक हूँ कल-कुंजन मैं हियरा हमरो हरि लीबो करो।
'हरिऔध' मयूरिन सो मिलिकै नव-प्रेम-सुधा नित पीबो करो।
चोरवा चित को हित कीनो भटू मोरवा सोरवा अब कीबो करो॥१२१॥

दोहा—

बीर धीर कैसे धरहुँ रहत न चित मैं चेत।
परम अधीर-पपीहरा पी पी कहि जिय लेत ॥१२२॥

अरुन पीत सित कत करत स्याम सलोनो अंग।
कत बादर बद बनत हैं बदलि बदलिकै रंग ॥१२३॥

मो मन ही मानत नहीं कहा करैगो मैन।
बादर के बरसे कहा जब जल बरसत नैन ॥१२४॥

शरद

कवित्त—

मंद-मंद-हसन गगन बिच चंद लाग्यो
करतूति दामिनी भई है कला-नट सी।
निरमल-जल-वारे सरन खिले हैं कंज
जिन पै लगी है भौंर भौरन को ठट सी ॥
'हरिऔध' चहूँ ओर सरद बिकास पायो
पावस-प्रतापी की गई है आयु घट सी।
चटकोली चाँदनी ते रंजित भई है भूमि
कढ़ति दिसान सों सुगंध की लपट सी ॥१२५॥

बिना कीच कैसी स्वच्छ राजति बसुंधरा है
कैसी मंजु-नीलिमा अकास मैं बसति है।
गंध लै समीर हूँ बहत मंद मंद कैसो
कैसी यह बिमल-दिसा हूँ बिहँसति है ॥
'हरिऔध' दीसत हैं सर मैं सरोज कैसे
धीर बहि कैसी सरिता हूँ सरसति है।
सोहत है सीतल मयंक कैसो नभ माँहि
कैसी अवनी-तल पै चाँदनि लसति है ॥१२६॥

नीर-वारे कारे कारे घन की निकाई नसी
नीलिमा अनंत-नभ-मंडल की नीकी है।
केका-रव केकिन-कदंब ते अनाकुल ह्वै
बहु सोभा हंस-अवली ते अवनी की है॥
'हरिऔध' घोर अंधकार हूँ न दीखै कहूँ
आभा चहूँ ओर चंद-वारी रजनी की है।
चपलाई चपला की अब ना लखाई परै
छिति पर छाई चारुताई चाँदनी की है॥१२७॥

बिकसित-बारिज-बरूथ मैं बढ़ी है बिभा
छवि अधिकाई भूरि-भृंग-लपटान की।
घेरि घेरि घूमत दिखात हैं न कारे-घन
घरी घरी होति नाँहिं घहर घटान की॥
'हरिऔध' अनुपम-सरद-अवाई देखि
आभा भई औरै आज आँगन अटान की।
छन छन चाँदनी ते बनति छबीली छिति
छूटे चंद-मंडल ते छहर छटान की॥१२८॥

बिमल-बिकास ते गगन बिकसित भयो
परम-प्रकास-पुंज पसर्‌यो धरा पै है।
दीपति-दुगूनी सों दिखाति है दिसाहूँ दिव्य
राजत रजत द्रुम-दलन-प्रभा पै है॥
'हरिऔध'बिपुल बिकासिनी-बिभा की बात
पूनों की बिभावरी की भाखी जात कापै है।
छीर-धार जैसी चारु-चाँदनी चहूँघा लसै
स्रवत सुधा सों आज चंद बसुधा पै है॥१२९॥

छीरनिधि कैधों आज छहरत भूतल पै
छायानाथ कैधों छपानाथ मिस ऊगा है।
सुभ्रता सतोगुन की राजत दिगंत मैं कै
समवेत-सेतता तिलोक की अजूवा है॥
'हरिऔध' सरद मैं कैधौं सुर-मंडल ने
रजत-मयी कै मंजु-मेदिनी को पूजा है।
कोऊ नट-कीली जोति कैधौं अटकीली भई
चटकीली-चाँदनी कै बगरी चहूँघा है॥१३०॥

कैधों महा तीव्र-तेज-वारो वड़ो-तारो कोऊ
तजिकै अनंत या धरा की ओर छूट्यो है।
कैधों ओप-वारे असुरारि को अपार जूह
मोद मानि सृंग पै हिमाचल के जूट्यो है॥
'हरिऔध' कैधों चारु-सरद-सिता है लसी
कैधों भू पै हीरा की कनीन कोऊ कूट्यो है।
छीरनिधि कैधों आज फूट्यो है वसुंधरा पै
छिति पै छपाकर कै नभ छोरि टूट्यो है॥१३१॥

अंतक लौं दिव मैं दिपत निसिकंत
कै प्रकास प्रलै काल के दुरंत-दिनपत को।
महा-ताप-वारो चलै मारुत चहूँघा किधौं
स्वास बिख-वारो है फनीस फुंकरत को॥
'हरिऔध' किधौं तीव्र-तारक-पतन होत
पावक बमत कै त्रिसूल पसुपत को।
पसरी कराल-काल-सरद-जुन्हैया किधौं
ज्वालमाल आवत है जारत जगत को॥१३२॥

हित तू हमारो नाथ कीनो ना हिमंत माँहिं
कैसहूँ सिसिर मैं न मानस सम्हारयो तू।
आवन को तंत तेरो भयो ना बसंत माँहिं
मेरो जिय ग्रीखम-जलाकन मैं जारयो तू।
'हरिऔध' का भो जो न पावस-प्रताप माँहिं
मेरे तन-तापन को तामस निवारयो तू।
जरद भई हूँ मारो करद करेजे काम
कैसे मेरो दरद स्नरद मैं बिसारयो तू ॥१३३॥

सवैया—

मूरतिमान कै मोद लसै कै बिनोद-भरो रजनी-मुख राजै।
भाग-भरी जग को जननी के सु-भाल को कै यह भूखन भ्राजै॥
कै 'हरिऔध' सतोगुन को यह सीतलता भरी सूरति छाजै।
पारद-पुंज कै रूप धरे फबै कै नभ सारद-चंद बिराजै ॥१३४॥

नव-नीलिमा या नभ की हमरो यह भाव-भरो मन बेधत है।
बहि बासमयी यह सीरी-बयार बिनोदन हूँ को बगेदत है॥
'हरिऔध' बिना सब सारद-सुंदर-साज करेजो कुरेदत है।
छुटै छोभहूँ ना रतिया को छनो छतिया को छपाकर छेदत है॥१३५॥

दोहा—

सारद-ससि सोहत गगन बरसत सुरस-अथोर।
दूनी भू-आभा भई छई छटा चहुँ ओर ॥१३६॥
औरै आभा नभ बसी बिभा लसी ससि माँहिं।
बसुधा भयी सुधामयी तारे तरनि लखाहिं ॥१३७॥

हेमन्त

कवित्त—

तीखी-जोति जाल हूँ मैं जरत-मसाल हूँ मैं
जगी-ज्वालमाल हूँ मैं लपट्यो लसंत है।

कूलन कछार हूँ मैं सरित सेवार हूँ मैं
बन मैं बयार हूँ मैं बहु बिहरंत है ॥
'हरिऔध' ब्योमहूँ मैं तारन के तोमहूँ मैं
सूरज मैं सोमहूँ मैं दरस्यो सतंत है।
हंसन--अहार हूँ मैं हिम के पहार हूँ मैं
हीरा हीर-हार हूँ मैं राजत हेमंत है ॥१३८॥

पोर पोर आँगुरी की बारि ते गरन लागी
सीकर मलीन या दिगंतन करै लगो।
कोमल मरीचैं ह्वै गई हैं मारतंड हूँ की
आतप मैं प्रानिन को प्रेमहूँ अरै लगो
'हरिऔध' भू पर लखात है हेमंत छायो
दिन दिन बासर को गातहूँ गरै लगो।
या तन को सो‌ी-पौन परसे कसाला होत
पादप के पातन पै पाला हूँ परै लग्गे ॥१३९॥

बदन दुराये ही रहत रैन मैं मयंक
त्रासै ते समीर वीर सरद भयो सो है।
भू तजि लखात नभ-जात बारि सीकर ह्वै
गात सेत गगन गिरीन ह्वै गयो सो है ॥
'हरिऔध' महा उतपात ते हेमंत ही के
धूसरित बरन दिगंतन लयो सो है।
दबक्यो दिवाकर दिखात अति भीत ही ते
सीतहां ते संकुचित बासर भयो सो है ॥१४०॥

सिसकत रहत तमीपति रजनि माँहिं
तमरिपु हूँ को होत कुढ़त कसाला है।

सी सी करि घरी घरी घूमत चहूँघा रहै
सोरी-पौन हूँ को गरमी को पर्यो लाला है।
'हरिऔध' आकुल ह्वै अरो खरो रूख हूँ है
ठरो सीत-भरो वाको ठौर हूँ को ठाला है।
बूझि परै बाला हिम-गाला सी दुसाला माँहि
पाये सीतकाल ज्वालमाला भई पाला है ॥१४१॥

दीखै सीकरन माँहि सपरि गयो सो ससी
दिवानाथ लंका ओर आकुल अरे अहैं।
सीरी साँस भरत अधीर ह्वै समीरन हूँ
सरित सरोवर हूँ हिम मैं गरे अहैं।
'हरिऔध' पावक हूँ पाहन मैं पैठ्यो जात
दलन दुराये गात पादप खरे अहैं।
पाला नाँहि पर्यो सीत प्रबल-प्रमाद ही ते
प्रान बिन तारे आइ पातन परे अहैं ॥१४२॥

सीतल हिमाचल-दरी सी सब साला लगैं
संगिनी प्रतीति होति सुधा सीरे-पंक की।
माला लगै मोती की हिमोपल-जमाति जैसो
कामिनी जनाति है बिभूति हिम-अंक की।
'हरिऔध' हेरत हिमंत करतूति ऐसी
तुहिन-सनी सी है सुपेती परजंक की।
पाला लगै पावक दुसाला लगै कंज-पात
रवि को मरीचि लागैं किरनैं मयंक की ॥१४३॥

पाला को कसाला ताहि कंपित न करि पैहै
जाके कंठ माँहि मृग-नाभि मंजु-माला है।

बहि बहि सीतल-समीर क्यों सतैहै ताहि
सकल-बिभूतिमयी जाकी सुख-साला है।
'हरिऔध' ताको हिम-पात को कहा है त्रास
जाके पास परम-मधुर-मधु-प्याला है।
जगी ज्वाल-माला है बसन तूल-वाला अहै
बाला है दुसाला है हेमंत को मसाला है॥१४४॥

धाई चली आवति है कैधों ध्रुव-धाम ही ते
कैधों गिरी भू पै चंद्-मंडल के फोरे ते।
कैधों याहि काढ़यो कोऊ उद्क-सरीर गारि
कैधों बनी सीतलता जग की निचोरे ते।
'हरिऔध' कहै ऐसी दुसह-हिमंत-बात
कैधों भई सीरी बार बार हिम बोरे ते।
कैधों चली चंदन परसि मलयाचल को
कैधों कढ़ि आवति हिमाचल के कोरे ते॥१४५॥

बात ना चलैये नाथ सिसिर बितावन की
सुरति बसंत मैं बिसारिकै न फूलै तू।
गरब न कीजै भूलि ग्रीखम गँवावन को
पावस न आवन उमंग मैं न भूलै तू।
'हरिऔध' कैसो तेरो कठिन करेजो है जो
सरद समैया हूँ मैं रह्यो प्रतिकूलै तू।
कीने केते तंतन के प्रानन को अंत ह्वैहै
कही मानि कंत या हेमंत को न भूलै तू॥१४६॥

सवैया—

फाग रचै पिय सों सिसिरै पति साथ बसंत मैं बागन होवै।
ग्रीखम मैं तहखाने बसै घन की छबि पावस मैं सँग जोवै।

भाग-भरी 'हरिऔध' तिया सुख सों अपनो सब साज सँजोवै।
साथ लखै सरदै नभ चंद हेमंत मैं कंत-गरे लगि सोवै ॥१४७॥

कैधौं प्रभाकर-आतप मैं अरे कै मद-प्यालन को अपनाये।
कैधौं धरे पट-तूल-भरे किधों साल-दुसालन सों लपटाये।
सीत हेमंत को कैधौं टरै 'हरिऔध' अधूम-अँगार तपाये।
कै कमनीय उरोजन-वारी सरोज-मुखीन को अंक लगाये ॥१४८॥

दोहा—

जीव जंतु की बात का तृन-तरु होत सभीत।
पाला को लहि बिपुल-बल पाला-मारत सीत ॥१४९॥

भूमि कुहासामय भयी सीत न समझत पीर।
दुरि दिन बितवत दिवसपति सर सर चलत समीर ॥१५०॥

तृन-तरु-तन जीवन-बदन भाफ-पुंज है भूरि।
किधौं कुहासा है परत पसरत पुहुमी पूरि ॥१५१॥

शिशिर

कबित्त—

घटी-जाति-राति हूँ मैं दिन अधिकात हूँ मैं
पियरात पात हूँ मैं प्रगट जनावै है।
तोखे होत घाम हूँ मैं केते धूम धाम हूँ मैं
ललना ललाम हूँ मैं रमत लखावै है।
'हरिऔध' तान हूँ मैं रंग-वारे-गान हूँ मैं
आन-वारी बान हूँ मैं मधुर दिखावै है।
चोप चाव चैन हूँ मैं मंद-मंद-बैन हूँ मैं
मुद-ऐन-ऐन हूँ मैं सिसिर सुहावै है ॥१५२॥

तोख तन पावै तूल-भरे कपरे के धरे
अजहूँ मलीनता दिगंत की गई नहीं।
प्यारे लगैं भौन भारी-भारी परदान-वारे
भीखनता अजौं भानु-कर ने लई नहीं।
'हरिऔध' चहूँ ओर सिसिर छयो तो कहा
आप हूँ मैं सीतलता-सहज भई नहीं।
मंजुल-निकाई चारु चंद मैं समाई नाँहि
चारुता-अनूठी चाँदनी मैं चितई नहीं ॥१५३॥

साथ प्राननाथ के सिसिर मैं समोद-बाल
सरित सरोवरादि माँहिं अवगाहै ना।
बार बार धूप ही मैं बैठे छबि-वारी जाय
सीत-छोभ माँहिं छकी चाहै छनौ छाँहै ना।
'हरिऔध' सीसी करै सीतल-समीर लगे
सीतलता वाकी अजौं सुमुखी सराहै ना।
चाँदनी मैं कढ़े नेकौ चित मैं उमाहै नाँहिं
चंद-मुखी चाव करि चंद हूँ को चाहै ना ॥१५४॥

तपि कै तमारि निज तीखन-मरीचिन ते
नेकौ सीत प्रवल-प्रमादन को तोरै ना।
पावक को दहत-अँगारो पट तूल-डारो
पूरो पूरो हिम को महत-मान मोरै ना।
'हरिऔध' सिसिर समैया हूँ मैं सीरी-पौन
गौन करि भौनन मैं देत दुख थोरै ना।
औरन की कहा पाई जरदी पतौअन हूँ
सरदी मरदी कै तऊ बेदरदी छोरै ना ॥१५५॥

सवैया—

भावत ना सरपेच असुंदर कान के कुंडल को कहती है।
बाजू धरै भुज मैं न भटू कर सों कल-कंकन ना गहती है।
माह मैं ए 'हरिऔध' मनोहर-हार हूँ ना उर पै बहती है।
कंठ सिरी-मन मैं न टिकै कटि-किंकिनी ते नटिकै रहती है ॥१५६॥

तीसी लसी बहु-खेतन मैं अपनी कुसुमावलि सों छवि छावत।
प्रात चने के हरे हरे कोमल काकी नहीं अँखिया बेलमावत।
ए 'हरिऔध' प्रसून केराव के लै चित काहि नहीं ललचावत।
मानस काको नहीं सरसे सरसों के सुहावने फूल लुभावत ॥१५७॥

मंजुल-बायु लगे बलखाइ बिलोचन माँहिं समाय रही हैं।
ओस की बूँदन सों सरसाय सहेलिन माँहिं सोहाय रही हैं।
ए 'हरिऔध' किती तितिलीन को प्यार से पास बुलाय रही हैं।
पीरे-प्रसूनन सों बिलसी उलही रहरैं लहराय रही हैं ॥१५८॥

दोहा—

सिता नहीं प्यारी लगति ससि हूँ करत स-भीत।
निसि सियराये ही बढ़ति सिसिर समय को सीत ॥१५९॥

उर मैं हिम-सर सों लगत सिहरत सकल-सरीर।
सी सी कहि सिसकत न को परसत सिसिर-समीर ॥१६०॥

परि साँसत मैं सीत की हरति रहति है ऊब।
हरे हरे निज-दलन मिस हरे हरे कहि दूब ॥१६१॥

लोक सीत-साँसत सहत दुरि दिन बितवत घाम।
सिसिर माँहिं कुहरा परे मचत महा कुहराम ॥१६२॥

ओस-सीकरन माँहिं दुरि सीत सहति भरि ऊब।
हरे हरे कोमल-दलन-बलित दूबरी-दूब ॥१६३॥

शिशिर—अन्तर्गत होरी

कबित्त—

द्वारन को दर को दरीचिन को देहरी को
दिसन को देहिन को रंजित कीनो है।
बगर को बीथिन को बाटन बजारन को
बिटप को बेलिन को कीनो रँग-भीनो है।
'हरिऔध' अबिर उड़ाइकै अवासन को
औरै ओप अवनि को आँगन को दीनो है।
नूपुर को नासिका को नथ को नवेलिन को
बाल अलबेलिन को लाल करि लीनो है ॥१६४॥

तबल पै तारन पै तंत्रिन तमूरन पै
तान-वारे तन पै प्रवाल तरसत है।
कानन पै कुंजन पै कंज पै कुमोदिनी पै
क्यारिन पै कूल पै ललाई दरसत है।
'हरिऔध' आनन पै अंगन अवनि हूँ पै
ऐन पै अटा पै अरुनाई अरसत है।
गोधन पै गिरि पै गवैयन पै गोपन पै
गोपिन के गोल पै गुलाल बरसत है ॥१६५॥

ऐसो बाढ़्यो फाग को प्रपंच ब्रज-बीथिन मैं
बीज लालिमा को मानों लोकन मैं ब्वै गयो।
लाल भयो गगन अवनि सब लाल भई
दिसन ललाई छाई रवि-तेज ख्वै गयो।
'हरिऔध' लाल लाल हेरि गिरि तरु तोम
नर पसु पंखी मीन बिधि-ज्ञान ग्वै गयो।
लाग्यो जौ लौं झाँकन झरोखे सों उझकि
तौ लौं राता मुख बापुरे-बिधाता हूँ को ह्वै गयो॥१६६॥

बोलि बोलि बैस-वारी ब्रज की बधूटिन को
लूट सी करी है वा अबीर-वारे-थाल की।
मारि पिचकारी ताकि कलित-कपोलन पै
लाल लाल मंडली बनाई ग्वाल-बाल की।
'हरिऔध' चकित बनति बहु चौंकत सी
चोरत सी चाल काहू मंजुल-मराल की।
गोरे-गोरे-गाल-वारी ए री वह गोरी-बाल
लाल पै चली है मूठ भरिकै गुलाल की ॥१६७॥

गरबीले-ग्वारन की गारी हूँ न कान कीनी
तनक न मानी आन तीखी-तान-तारी की।
रंग की उमंग की अनंग-भरे बैनन की
सुगति न कीनी साँवरे की गति-न्यारी की।
'हरिऔध' ध्यान मैं न आनी धोखे हूँ धमार
धूम हूँ धमार-वारे धीर-धुरधारी की।
मीड़ित-गुलाल-मंजु-बदन-रसाल मोरि
बिहँसि बचाई बाल चोट पिचकारी की ॥१६८॥

गावत है गारी भरो गीतन असंक ह्वै कै
बोलन कबीर मैं निसंक अति दरसाय।
लाल कीनो बीथिन बजारन गुलाल फेंकि
अबिर उड़ाइ लीनी अरुन दिसा बनाय।
'हरिऔध' ऐसो अपमान कैसे सह्यो परै
ललिते कहा तू इतो रही आज अरगाय।
गहिकै गरब वाको होरी को निवारै क्यों न
ऊधम मचावै कौन ए री बरसाने आय ॥१६९॥

डारि दीनो रंग तो उमंग कत ऊनो भयो
बिगर्यो कहा जो मुख माँहि मली रोरी है।
कुंकुम चलाये कौन हानि भई अंगन की
मारि पिचुकारी कौन करी बरजोरी है।
'हरिऔध' तेरो होत कहा अपकार है
जो बार बार ग्वालन की बजति थपोरी है।
रूसन को रार को न रोस को कछू है काम
एरी बृखभानु की किसोरी आज होरी है ॥१७०॥

ठानत हो सदा हठ आपनी हीं बातन को
ताके राखिबे को कहाँ काको को सहेजिहै।
होइ जैहै कछू विपरीति तो बतावो लाल
बरसाने कौन सो सँदेसो कोऊ भेजिहै।
'हरिऔध' अबिर गुलाल लौं बनी है बात
बूझि देखो कहँ लौं करेजो पर तेजिहै।
पुष्प-रस-कनिका लगे ते जाको पीर होति
ताको अंग कैसे रंग-धावन अँगेजिहै ॥१७१॥

कत पिचकारी कर माँहिं लीने आवत हैं
ब्रज मैं जनात तू तो निपट-हठीलो है।
नेक मेरी बातन को भूलि ना करत कान
होरा के गुमान मैं गजब गरबीलो है।
'हरिऔध' कहा लाभ अनरस कीने होत
सुबस बसे हूँ ब्रज कैसो तू लजीलो है।
ए हो लाल वा पै रंग छोरिबो छजत नाँहि
गात-रंग ही सों वाको बसन रँगीलो है ॥१७२॥

बीर बरसानो छोरि गोकुल गई ही आज
जान्यो ना गोपाल ऐसो ऊधम मचायहैं।
सारी बोरि दीनी सारो-गात करि लीनो लाल
जैसो छल कीनो ताहि कैसे बतरायहैं।
'हरिऔध' अब तो न आपने रहे हैं नैन
करिकै उपाय कौन इनै समझायहैं।
अंग लाग्यो रंग तो सलिल सो छुड़ाय लैहै
नेह संग लाग्यो तासों कैसे छूटि पायहैं ॥१७३॥

छोरो रंग चाव सों हमारे इन अंगन पै
कबहूँ कछू ना लाल भूलि हम कहिहैं।
बोरि दीजै सिगरी हमारी सारी केसर मैं
मन मैं बिनोद मानि मौन साधि रहिहैं।
'हरिऔध' अँखियाँ छकी हैं रावरी छबि मैं
इनपै दया ना कीने क्यों हूँ ना निबहिहैं।
परिबो पलक को तो कैसहूँ सहत प्यारे
परिबो गुलाल को गोपाल कैसे सहिहैं ॥१७४॥

सवैया—

चेटक सी करि चोरि गई चित चाव-भरी चलि चंचल-चाल सों।
मोहि गई मनमोहन को वा अबीर-भरी मनि-मोतिन-माल सों॥
ए 'हरिऔध' चलाइ पिचूकन बेधि गई जुग-नैन बिसाल सों।
लाल-गुलाल लपेटि गई वह गोरटी हाल ही लाल के गालसों॥१७५॥

ताकि कै मारत हो पिचकारी तऊ मन मैं तनकौ नहिं खीजत।
रंग मैं सारो भिंगोय दई हम ताको उराहनो हूँ नहिं दीजत॥
पै इतनी बिनती 'हरिऔध' मया करि क्यों हमरो न सुनीजत।
साँवरे-रंग-रँगी अँखियान को प्यारे गुलाल ते लाल क्यों कीजत१७६

अनुभाव

अनुभाव

जिन क्रियाओं से रसास्वाद का अनुभव होता है उनको अनुभाव कहते हैं। यह चार प्रकार का होता है—१ सात्विक, २ कायिक, ३ मानसिक और ४ आहार्य।

१—सात्विक

शरीर के स्वाभाविक अंग-विकार को सात्विक भाव कहते हैं इनके आठ भेद निम्न लिखित हैं—

१ स्तम्भ, २ स्वेद, ३ रोमाञ्च, ४ स्वर-भंग, ५ कम्प, ६ वैवर्ण्य ७ अश्रु और ८ प्रलय। किसी किसी ने जृम्भा को भी सात्विक भाव माना है; ऐसी दशा में उसके नव भेद होंगे।

स्तम्भ

कारणविशेष से समस्त अंगों की गति अथवा क्रिया का अवरोध हो जाना स्तम्भ कहलाता है।

उदाहरण

दोहा—

लाल लसे ललना छकी भो चित बिपुल अचैन।
बोले बोलत नहिं बनत खोले खुलत न नैन॥ १॥

पारे पलक परत नहीं लोयन भये अडोल।
लोल-लोयनी करति है काहें नाँहिं कलोल॥ २॥

स्वेद

केलि, भय, परिश्रम आदि के कारण रोम-कूप से निकले जल-बिन्दु को स्वेद कहते हैं।

उदाहरण

सवैया——

ऊँची अटा पै अकेली हुती अलबेली खरी करि रूप-उँजारो।
पड़ित छ्वै छहरात हुतो 'हरिऔध' छुट्यो कच घूघुर-वारो॥
औचक आइ दोऊ अँखियाँ इतनेहिं मैं मूदि लियो पिय-प्यारो।
भेद-भरो मन ऊबि छरो गयो सेद मैं डूबि गयो तन सारो॥३॥

रोमाञ्च

किसी कारण से रोमों का खड़ा हो जाना रोमाञ्च कहलाता है।

उदाहरण

सवैया——

बूझि भली-बिध कीजै कछू अलि काज उतावली के नहिं नीके।
चौगुनी-चंचल होति चले 'हरिऔध' कथानक केलि-थली के।
धीर धरेहूँ बनैगी न बीर जो कामिनी क्यों हूँ परी कर पी के।
नेकहीं नैन-लरे सिगरे-तन-रोम खरे ह्वै गये रमनी के॥४॥

कम्प

शीत, कोप और भय आदि से अकस्मात अंग अंग के काँप उठने को कम्प कहते हैं।

उदाहरण

सवैया——

संग सहेलिन को गयो छूटि कै बानर पीछूँ पर्यो बन केरो।
तोको अचानक आइ कपूत कोऊ कै कलेस दियो बहुतेरो॥
कै यह पूस को सीरो-समीर सताइ गयो 'हरिऔध' घनेरो।
कौन सी बात भई बतराय दै जो इतनो तन काँपत तेरो॥५॥

दोहा—

कहा भयो कत बावरी तेरो मुख पियरात।
कत पींपर के पात लौं थर थर काँपत गात ॥ ६ ॥

स्वर—भंग

स्वाभाविक ध्वनि में विकार होने को स्वर-भंग कहते हैं।

उदाहरण

सवैया—

घिरे नभ मैं घन घूमत हे 'हरिऔध' हुती सब ओर बहार।
बिचार कियो अस चाव-भरो चित गाइये मंजुल-राग-मलार ॥
इतै अलबेली अलाप कियो उतै आइ गये ब्रजराज-दुलार।
भयो सुर-भंग निहारत ही उतस्यो मनों बाजत बीन को तार ॥६॥

वैवर्ण्य

शरीर की कान्ति में अन्तर पड़ने को वैवर्ण्य कहते हैं।

उदाहरण

सवैया—

अबै आई बिनोद-भरी मुसकात भयो यह बीचही कैसो दई।
'हरिऔध' सों धाइकै कोऊ कहो इतनो यह जात है काहें तई ॥
नित ही बन-कुंजन आवती हैं बजी बाँसुरिया हूँ न आज नई।
अरी कौन सी पीर भई पल मैं मो परोसिनी जो परि पीरी गई ॥७॥

अश्रु

कारणविशेष से नेत्रों से जल-पात होने का नाम अश्रु है।

उदाहरण

सवैया--

आई अपार-बिनोद-भरी बनिता ढिग साँवरे-सील-निधान के।
आदर-मान ही मैं 'हरिऔध' कढ़े मुख बैन बिदेस पयान के।
ऊबि कै ऊँची उसास लई सुख भूल गये सिगरे सनमान के।
मोती समान कपोलन ह्वै अँखियान ते बूंद गिरे अँसुआन के ॥८॥

दोहा—

तुमरे बिछुरे प्रानपति रहे न अपने नैन।
बारि बिमोचत रैन-दिन पावत पलौ न चैन ॥ ९ ॥

अरी बीर बरजत कहा रुदन करन दै मोहिं।
सजल-नयन-बल ही सकल-हिय-दुख हरुए होहिं ॥१०॥

प्रलय

किसी वस्तु में तल्लीन होकर देह-दशा की विस्मृति को प्रलय कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

ललकति राधा नाम लै पुलकति पकरि अलीन।
ललना लालन ह्वै गई ह्वै लालन मैं लीन ॥११॥

जृम्भा

भय, मोह और आलस्य के कारण क्षण-क्षण मुँह खोलकर जमुहाई लेने को जृम्भा कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

जुरे नयन पिय-नयन ते नयन फेरि फिरि जाति।
सलज-भाव ते भूरि भरि जलज-मुखी जमुहाति ॥१२॥

२—कायिक

आँख, भौंह, हाथ आदि शरीर के अंगों द्वारा जो चेष्टाएँ अथवा क्रियाएँ की जाती हैं उनको कायिक कहते हैं।

उदाहरण

सवैया—

अति प्यार-पगी बतिया हुँ सुने पिय-प्यारे प्रतीति को छोरै लगी।
अनुराग-रँगे अभिलाखन मैं अभिमान के आखर जोरै लगी।
'हरिऔध' के सीस महावर-रेख निहारत ही मुख मोरै लगी।
तिरछी-अँखिआन ते ताकि तिया अनखान-भरी तृण तोरै लगी॥१३॥

३—मानसिक

मन-सम्बन्धी आमोद-प्रमोद का नाम मानसिक अनुभाव है।

उदाहरण

कवित्त—

गिरि-सानु पै है चारु-चाँदनी लसति कैसी
पसरी प्रभा है कैसी पादप-निकर मैं।

झरना झरत नीर-कन हैं पियत कैसे
ओप है अपार कैसो पाहन-पसर मैं ॥
'हरिऔध' कैसी खिली कलित-कुमोदिनी है
सुभ्रता बसी है कैसी सीपन-सगर मैं ।
कैसो बारि हलत समीर मंद-मंद लागे
कैसो झलमलत मयंक मानसर मैं ॥१४॥

रंग-भरे कलित-कमोरे रंग बरसत
चारुता निचोरे लेति रोरी मंजु-माल की ।
मानस मैं मोद-सुधा-सरिता हिलोरे लेति
प्रीति-गाँठ जोरे लेति जोति-मनि-माल की ॥
'हरिऔध' छोरि पिचकारी चित छोरे लेति
बोरे लेति रस मैं लचकि लंक बाल की ।
लालन के लोने-लोने-लोयन को चोरे लेति
गिरि गोरे-गालन पै गरद गुलाल की ॥१५॥

दोहा—
बिलसत हैं सरसिज-युगल मनरंजन-ससि-गोद ।
मोद-निकेतन बदन लखि काहि न होत बिनोद ॥१६॥

४—आहार्य

वेश धारण को आहार्य अनुभाव कहते हैं ।

दोहा—
पहिरि सु-कुंडल कल-मुकुट पीत-बसन बन-माल ।
कर मैं मुरली लै बनी मुरली-धर ब्रज-बाल ॥१७॥

सात्विक अलङ्कार

नायिकाओं के अट्ठाईस सात्विक अलंकार माने गये हैं। उनमें से तीन अंगज, सात अयत्नज और अट्ठारह स्वभावसिद्ध हैं।

अंगज—१ शोभा, २ हाव और ३ हेला।

अयत्नज—१ शोभा, २ कान्ति, ३ दीप्ति, ४ माधुर्य, ५ प्रगल्भता, ६ औदार्य और ७ धैर्य।

स्वभावसिद्ध—१ लीला, २ विलास, ३ विच्छित्त, ४ विव्वोक, ५ किलकिञ्चित, ६ विभ्रम, ७ ललित, ८ मोट्टायित, ९ बिहृत, १० कुट्टमित, ११ मौग्ध्य, १२ विक्षेप, १३ कुतूहल, १४ हसित, १५ चकित, १६ केलि, १७ मद और १८ तपन।

विशेष

प्रायः भाषा-ग्रंथों में दश 'हाव' माने गये हैं, और वे ये ही हैं जो स्वभावसिद्ध अलंकारों की गणना में १ से १० संख्या तक लिखित हैं। कोई कोई इन में 'हेला' को मिलाकर 'हाव' की संख्या ग्यारह और कोई 'बोधक' को मिलाकर बारह बतलाते हैं। समस्त 'हाव' अनुभाव के अन्तर्गत हैं, उनका स्वतंत्र स्थान नहीं है।

संयोग-समय में नायिकाओं में जो स्वाभाविक चेष्टाएँ अथवा भौंह नेत्रादि के विलएवं क्षण व्यापार मनोविकारों के आधार सेहोते हैं वे ही 'हाव' कहलाते हैं। ये प्रायः मनोभावों के अपविकास के सूचक मात्र होते हैं।

अङ्गज सात्विक अलङ्कार

१—भाव

निर्विकार चित्त में उद्बुद्धमात्र काम-विकार को भाव कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

वहै पवन सौरभ वहै वहै आम को बौर।
वहै कामिनी हूँ अहै भयो आज मन और ॥ २० ॥
है कालिंदी तट वहै वहै कदंब रसाल।
आज कहा तोको भयो इत आवत ही बाल ॥ २१ ॥
वहै कोकिला-रव अहै वहै भृंग-गुंजार।
आज बनी क्यों बावरी निरखि बसंत-बहार ॥ २२ ॥
वहै मलय की मंजुता खग-कुल वहै कलोल।
भयो जात कत लाड़िली तव चित इतनो लोल ॥ २३ ॥

२—हाव

संयोग-समय में स्त्रियों के स्वाभाविक भ्रू-भंग-विलासादि को हाव कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

सरसावति काको नहीं रस-निचुरत मुसुकान।
तिरछी-चितवन कहति है तिय-चित की बतियान ॥ २४ ॥
रस राखन मैं नहिं रखति नेक कसर दृग-कोर।
पिय-मन की कहि जाति है तिय की भौंह-मरोर ॥ २५ ॥

३—हेला

संयोग-समय में विविध-विलास-भावों के प्रकटित होने का नाम हेला है।

उदाहरण

दोहा—

गुलचा दै तिरछे चितै दृग नचाइ मुख मोरि।
बाल भुरावति लाल को बिहँसी भौंह मरोरि ॥ २६ ॥

कबौं करति हाँसी कबौं छीनि लेति उर-माल ।
कबौं छाछ-वाली कहति अहै छिछोरो लाल ॥ २७ ॥

अयलज सात्विक अलंकार

१–शोभा

रूप-यौवन आदि से सम्पन्न शरीर का सुन्दरता को शोभा कहते हैं ।

उदाहरण

दोहा—

छन छन नवता लहत है छवि-छलकत-अवदात ।
चंद सरिस सुंदर-वदन मृदुल-सलोनो-गात ॥ २८ ॥
तिल वन जाति तिलोत्तमा काम-कामिनी छाम ।
है ललामता को निलय ललना-रूप-ललाम ॥ २९ ॥

२–कान्ति

स्मर-विलास से बढ़ी हुई शोभा का नाम कान्ति है ।

उदाहरण

दोहा—

काम-कलामय ह्वै लसति हरति कलपना-क्रांति ।
विकसे-अभिनव-कुसुम सी कांतिमयी की कांति ॥ ३० ॥
विलसे नवला-अंग मैं काम-कला की जोति ।
चामीकर से गात की चमक चौगुनी होति ॥ ३१ ॥

३–दीप्ति

बहुविस्तृत कान्ति को दीप्ति कहते हैं ।

उदाहरण

दोहा—

दीपावलि तन-दुति निरखि दबकी सी दिखराति ।
बिबिध-जोति उजरी फिरति जरी बीजुरी जाति ॥ ३२ ॥

बिलसत यौवन मैं अहै वाको भाव-अनूप ।
लोक-बिकासक-काम को दुति है बिकसित-रूप ॥३३॥

४—माधुर्य

सब दशाओं में रमणीय रहना माधुर्य कहलाता है ।

उदाहरण

दोहा—

होत नहीं मसि-बिंदु ते अललित बाल-लिलार ।
औरो मन-रंजन करत दृग लहि अंजन-सार ॥३४॥
अधर पान की पीक ते अधिक-ललाम लखात ।
मिसी मले नवला-दसन नव-नीलम बनि जात ॥३५॥

दोहा—

तिरछे चलि लहि बंकता करि चंचलता मान ।
अधिक मधुमयी बनति हैं ललना की अँखियान ॥३६॥

५—प्रगलभता

केलि-कला में निर्भयता का नाम प्रगलभता है ।

उदाहरण

दोहा—

दोऊ आलिंगन करहिं दोऊ करहिं कलोल ।
पिय को तिय तिय को पिया चूमत अधार कपोल ॥३७॥

६—औदार्य

सदा विनय रखना औदार्य कहलाता है ।

उदाहरण

दोहा—

मधुर बोलि सनमान करि सबको हित उर धारि।
करति सदन को सुर-सदन सुर-ललना सी नारि ॥३८॥

७—धैर्य

आत्मश्लाघा से युक्त अचञ्चल मनोवृत्ति को धैर्य कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

नव-प्रसून नावक बनै पावक मलय-समीर।
परम धीर-अनुरागिनी ह्वैहै नाँहिं अधीर ॥३९॥
पिय-मुख-चंद-चकोरिका जीहै पंथ निहार।
सुधा-बिंदु होवै गरल बरसै इंदु अँगार ॥४०॥

स्वभावसिद्ध सात्विक अलङ्कार

१—लीला

प्रेम-वश प्रिया-प्रियतम का अन्योन्य-वश-धारण लीला हाव कहलाता है।

उदाहरण

दोहा—

लालन बनि बनि राधिका राधा बनि बनि लाल।
बिहँसत बोलत बहु लसत ललकत करत निहाल ॥४१॥

कबित्त—

सिखि-पच्छ सोह्यो सीस कुंडल-ललित कान
जापै फबि फैली प्रभा अलक-समाज की।

बंसी कर लसी उर बन-माल मोती-माल
जोति कछु तीखी परी अँखिया-सलाज की।
कटि-तट पीत-उपरैना लस्यो 'हरिऔध'
कहत बनै ना स्यामताई मंजु आज की।
बिजन बिराजि बृखभानु जू की जाई
कैसी बनक बनाई मन-भाई ब्रजराज की ॥४२॥

२—विच्छित्त

साधारण श्रृंगार से नायिका के मोहक शोभाधिक्य का नाम विच्छित्त है।

उदाहरण

सवैया——

या कल-कंज से पायन की लखि लालिमा लाल हूँ लागत औगुनी।
चारुता चारु-चमीकर ते नवला-बर-अंग बिराजति चौगुनी।
दीख परै 'हरिऔध' हमैं नव-भूखन ते तन की दुति नौगुनी।
एक ही केसर-आड़ दिये सुखमा मुख की ससि ते भई सौगुनी॥४३॥

३—विलास

संयोग-समय में नेत्र-व्यापार कटाक्षादि तथा गति, स्थिति, आसनादि की विलक्षणता को विलास कहते हैं।

उदाहरण

दोहा——

ललकति पुलकति मुरि हँसति चितवति लहति बिकास।
नवल-बाल बिलसति रहति करि करि बिबिध-बिलास॥४४॥

चितवति कबौं चकित बनति कबौं हँसति मुसुकाति ।
करि बिलास बहु लाड़िली लोयन माँहिं समाति ॥२६॥

४—विभ्रम

प्रिय के संयोग-समय में आतुरता-वश भूषणादि का उलटे पलटे धारण कर लेना विभ्रम कहलाता है । भ्रान्ति का नाम भी विभ्रम है ।

उदाहरण

दोहा——

कल-रव है चिरियान को धुनि कटि-किंकिनि की न ।
कहा छुरी मति जाति है निरखत फूल-छरीन ॥२७॥
अदल बदल भूखन गये तन-सुधि रही न तोहि ।
तौ मन तौ मन नहिं रह्यो मनमोहन पै मोहि ॥२८॥

५—किलकिंचित

एक साथ ही भय, हास्य, त्रास, क्रोध, कुछ मुसकुराहट आदि का प्रकट होना किलकिंचित कहलाता है ।

उदाहरण

दोहा——

रोस करति रूसति हँसति बिकसति बनति स-भीत ।
जोहि जोहि तिरछे नयन मोहे लेत मन-मीत ॥२९॥
लजति भजति खीजति जजति सजति सजावति गात ।
बरसि बरसि रसरिस करति कहति रसीली-बात ॥३०॥

६—मोट्टायित

प्रियतम के रूप, गुण, स्वभावादि की प्रशंसा अथवा वर्णन सुनकर मुग्ध अथवा अनुरक्त होना मोट्टायित कहलाता है ।

उदाहरण

दोहा—

सुनत स्याम-घन के सरिस अहैं सरस घन-स्याम ।
प्रेम-बारि लोयन भरे बरसे मुकुत-ललाम ॥३१॥

कहत बाल-रवि के सरिस बल्लभ हैं गोबिंद ।
बिकसित भो तिय-मुख-कमल पुलके नयन-मिलिंद ॥३२॥

७—विव्वोक

गर्व-पूर्वक प्रिय के अनादर का नाम विव्वोक है ।

उदाहरण

कबित्त—

बन-वारो कारो-कूर-किंसुक न पावै ठौर
उपबन-वारी-मंजु-मल्लिका की क्यारी मैं ।
बैठि नहिं क्यों हूँ सकै बायस-लड़ैतो जाय
मंडली-मराल-बालिका की छवि-वारी मैं ।
'हरिऔध' कौन तू कहाँ को है बिचारै कि न
नेसुक मैं नातो नंद हूँ को दैहौं गारी मैं ।
कैसे सौंहैं दीठ तू करत रे कुँवर कान्ह
जानत कहा न बृखभानु की दुलारी मैं ॥३३॥

८—कुट्टमित

सुख-समय में मिथ्या दुःख-चेष्टा और कृत्रिम रोष प्रकट करने का नाम कुट्टमित है ।

उदाहरण

सवैया —

तोसों गरीब सनेह कै मो सम राज-सुता सों कहा फल पैहै ।
तेरे समान सपूत सों नेह कै कौन तिया जग मैं जस लैहै ।

दूर खरे 'हरिऔध' रहो परे छाँह तिहारी सबै विनसैहै।
साँवरो नंद को छोरो छुवै जनि गोरो सरीर मो गोरो न रैहै॥३४॥

९—विहृत

संयोग-समय में लज्जादि के कारण मनोभिलाष में व्याघात उपस्थित होना विहृत कहलाता है।

उदाहरण

दोहा—

तिय कछु चाहत कहन पै लाज जीह गहि लेत।
मुख के मधुमय-बयन के काज नयन करि देत॥३५॥

वा लज्जा ते बावरी कहा काज तू लेति।
पिय के कान समीप जो बीन बजन नहिं देति॥३६॥

१०—ललित

सर्वांग सरस और शृंगारित करने को ललित हाव कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

लाल रिझावन को हँसति बोलति बैन रसाल।
लोने-लोने-नयन को लोल बनावति बाल॥३७॥

लोच-भरे लोचनन ते बनति ललन चित-चोर।
चाव सहित ललना रहति पिय-मुख-चंद-चकोर॥३८॥

११—मद

सौभाग्य, यौवन आदि के अभिमान से उत्पन्न मनोविकार को मद कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

वे दिनमैं हैं बावरी हैं जिनमैं रस नाहिं।
मधु न होत तो मधुप क्यों जात माधवी पाहि ॥४०॥
कौन अहै गुन-आगरी रसिक जिअत केहि जोहि।
अरी नागरी ही सकति नागर-नर को मोहि ॥४१॥

१२—केलि

कान्त के साथ कामिनी की विहार-क्रीड़ा को केलि कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

सजि सजि सुमन-समूह सों बनि बसंत की बेलि।
पुलकि पुलकि ललना करति निज-लालन ते केलि ॥४२॥

१३—तपन

प्रियतम के वियोग में कामजनित उत्ताप को तपन कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

सीरे सीरे लेप सब बनत दीप के नेह।
नव बियोग-तप-ताप ते तवा भई तिय-देह ॥४३॥
कबहुँ रुकत कबहूँ बहत कबहूँ होत अथाह।
सोच सकोचन में परो लोचन-बारि-प्रवाह ॥४४॥

१४—मुग्धता

ज्ञात पदार्थ को भी प्रियतम के सामने अज्ञात समान पूछना मुग्धता कहलाती है।

उदाहरण

दोहा——

पिय बतरावहु बोलिकै मधुर अमी से बैन।
खिले कमल से हैं किधौं मुँदे कमल से नैन ॥४५॥

अस जनात लाली गई अवनी-तल पै पोति।
कत लालन मो पग परत लाल चाँदनो होति ॥४६॥

१५—कुतूहल

रमणीय वस्तु के देखने के लिये चञ्चल होना कुतूहल कहलाता है।

उदाहरण

दोहा—

जाकी कलित-कथान को तू भाखति कथनीय।
सो कितको है कौन है कैसो है कमनीय ॥ ४७ ॥

अली जहाँ है बज रही मुरली सब-रस-मूल।
चलु चलु अवलोकन करें सो कालिंदी-कूल ॥ ४८ ॥

१६—विक्षेप

भूषणों की अधूरी रचना, विना कारण इधर उधर देखना, धीरे से प्रियतमसे कोई रहस्य की बात कहना आदि विक्षेप कहलाता है।

उदाहरण

दोहा——

इत उत चितै कबौं कछू धीरे कहि हँसि देति।
पहिरि अधूरो-आभरन मन-पूरो करि लेति ॥ ४९ ॥

पहिरे द्वै द्वै चूरियाँ इत उत चितवत जाति।
बतिया कहि कहि भेद की भेद-भरी मुसुकाति ॥ ५० ॥

१७—हसित

यौवन-विकास से उत्पन्न अकारण हास को हसित कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

पिय-मन-मोहन को करति रस-बस बिबिध बिलास।
मधुर-मंद-गति गहति तिय मंद मंद करि हास ॥५१॥
कौन नहीं कामुक बनत कौन सकत चित रोकि।
हास-भरी नवलान को औचक हास-बिलोकि ॥५२॥

१८—चकित

प्रियतम के सामने अकारण डरना और घबराना चकित कहाता है।

उदाहरण

दोहा —

कछु सकाइ सकुचाइ कछु कछु अकुलाइ अकाल।
चकित बनावति काहि नहिं चकित-बिलोचन-बाल ॥५३॥
इत उत चितवति चौंकि बहु भरि लोयन मैं भाव।
चकित बनावत लाल को चकित-बाल को चाव ॥५४॥

बोधकहाव

दोहा—

ललना लालन को चितै दीन्हें बार बगारि।
लालन निज-मुख पै लियो कर-नीलांबर डारि ॥ १ ॥

रस निरूपण

रस निरूपण

'स्थायी भाव, जब विभाव, अनुभाव, और संचारी-भावों के सहित चमत्कृत होकर मनुष्यों के हृदय में अलौकिक और विलक्षण आनन्द का स्वरूप धारण करता है, तब वह रस कहलाता है।

उदाहरण

कबित्त—

सोच ना रखत भव-मोचन को भाव देखि
रुचि माँहिं रुचिर-प्ररोचना भरत है।
प्रतपित होत पाप-तापते न प्रेम लहे
प्रथित-प्रताप-बल पातक हरत है।
'हरिऔध' हरि के विचारित-चरित गाइ
विचलित-चित को उबारि उबरत है।
पावन-अनिन्दित-पराग को मिलिन्द बनि
वन्दित-पदारविन्द वन्दन करत है ॥ १ ॥

मंजु-चन्द-मुख देखि मानस बनत सिंधु
सुनि बैन कान-रस-पान कै अघाये हैं।
कल-केलि अवलोकि मुदित-महान होत
भोरे भोरे भावन ते भूरि-सुख पाये हैं।
'हरिऔध' मंजुल-मधुर-मुसुकानि हेरि
उमगि उमगि सुधा-सर मैं अन्हाये हैं।
परम-सलोने-गोरे-गालन पै वारि जात
लोने-लोने-लालन पै लोचन लुभाये हैं ॥ २ ॥

बन बनमाँहिं दरसत सुर-तरु नाहिं
सरस-रसाल को सदन है न बौर बौर।

नर नर माँहिं नाहिं नरता निहारी जाति
प्रभुता-प्रभाव-पूत होत नाँहिं पौर पौर ।
'हरिऔध' सब मैं समान गुन-गन है न
बहु-रस-बलित बनत नाँहिं कौर कौर ।
घर घर माँहि रमनीय-रमनी है कहां
कमनीय-खनि अवनी में है न ठौर ठौर ॥ ३ ॥

मद-माती-मुदित-मयूर-मण्डली के काज
पारत पियूख कौन घन की घहर मैं ।
मंजु-सुर-मत्त या कुरंगन के हेत कौन
बेबसी भरत बेनु-बधिक-निकर मैं ।
'हरिऔध' होति जो न मोह मैं महानता तो
बँधत मिलिन्द कैसे कंज के उदर मैं ।
मन कैसे रमत चकोर औ मरालन कौ
मोद-वारे मंजुल-मयंक-मानसर मैं ॥ ४ ॥

मरु-भूमि-मारुत बनत मलयानिल है
रहत अमरता न अमर-नगर मैं ।
लहत न बारि-बूंद बारि-धर वारिधि मैं
बनजाति वारि-धारा धूरि वारि-धर मैं ।
'हरिऔध' अनुकूल-दैव प्रतिकूल भये
गरल सुधा की सोत होत सुधा-कर मैं ।
पावत न मधु है मधुप मधु माधव मैं
मिलत मराल कौ न मोती मानसर मैं ॥ ५ ॥

मरु-भूमि नन्दन-विपिन बनि बिलसत
नन्दन-विपिन दग्ध होत दरसत है ।

पामर-परम नाक-पति पद पावत है
नाक-पति पामर-पगन परसत है ।
'हरिऔध' कल्पना रहित काल-कौतुक है
कल्प-तरु कबहूँ अँगारे बरसत है ।
अ-सरस बनत बसंत दाघ के समान
दाघ बनि सरस-वसंत सरसत है ॥ ६ ॥

गुनिन में गौरव लहत गुन-आगर है
नागर-निकर निवसत है नगर में ।
सोहत है पावन-सलिल-सुर-सरिमांहिं
किसलय-कलित लसत तरु-वर में ।
'हरिऔध' मान है समान संग मांहिं होत
मंजुलता बसति मयंक-मंजु-कर में ।
सर में खिलत सरसीरुह-समूह देखे
मिलति मराल-मण्डली है मानसर में ॥ ७ ॥

चरन बिनाहुँ अहै चलति अचल मांहिं
करन विनाहुँ वार करति अपार है ।
बीरन को मारि मारि अमर बनावति है
धीरन को वाकी धार परम-अधार है ।
'हरिऔध' सतत हरति जन-जीवन है
जीवन को तबहूं रखति बहु-प्यार है ।
पानिप अछत सदा रहति पिपासित है
तेज-वारी ह्वै कै तम-वारी तरवार है ॥ ८ ॥

सवैया—

बावरी बोध न होवै अजौं कर कैसे लियो गिरि-गोधन सारो ।
त्यों छुन ही महँ पान कियो किमि पावकहूँ बन-दाहन-वारो ।

हेरि कहै 'हरिऔध' हिं देवकी क्यों गहि नाथिलियो अहि-कारो।
कंसहूँ को मल मारिलियो किमि फूलसों कोमल-लाल हमारो ॥९॥

काम न ऐहै विकास कबौं रस-हीनन सों रस प्यास न जैहै।
चाहे करै उपवास सदा कबौं काहू बिसासी-अवास न जै है।
कै बन बास उदासरहै पै अनेहिन को बनि दास न जै है।
पास कपास-प्रसूनन के अलिवास-विलास की आस न जैहै ॥१०॥

दोहा—

दोऊ नैनन मैं रही छबि-रावरी समाय।
चहूँ-ओर तिहुँ-लोक मैं तूही एक लखाय ॥११॥

कारे कारे कूबरे सिगरे बरन लखाहिं।
बरनि सकत कैसे कोऊ सुबरन-बरनी काहिं ॥१२॥

कहा भाग ऐसो अहै बिगरि बनै जो बात।
कबहूँ दूध बनै न सो जो कैसहुँ फटिजात ॥१३॥

भलो वुरो समयो नहीं है अपने बस माँहिं।
पै 'हरिऔध' न होत सो भाग लिखी जो नाहिं ॥१४॥

बोलि रिसौहैं-बैन ए कत कीजत अलिबार।
बन-बागन मैं बावरी बगरी देखु बहार ॥१५॥

शृंगार

स्थायीभाव-रति

देवता-विष्णु भगवान अथवा श्रीकृष्ण

वर्ण-श्याम

आलम्बन—नायक और नायिका

उद्दीपन—

सखा, सखी, बन. बाग, उपवन, तड़ाग, चन्द्र, चांदनी, चन्दन, भ्रमर, कोकिल, ऋतुविकास आदि—

अनुभाव—भृकुटि भंग, कटाक्ष, हाव, भाव, मृदु, मुसकान आदि—

संचारी भाव—उग्रता, मरण, आलस्य व जुगुप्सा को छोड़कर शेष २९ स्मृति, हर्ष, औत्सुक्य, जड़ता, मति, विबोध आदि भाव—

किसी किसी की सम्मति है कि इस रस में कुल संचारी भाव आते हैं-

विशेष

विभाव, अनुभाव, और सञ्चारी भाव के संयोग से शृंगार रस उत्पन्न होता है, इन के द्वारा ही रति की पुष्टि होती है। प्रिय वस्तु में मन के पूर्ण-प्रेम-परायण-भाव का नाम रति है, ऐसी रति उत्तम कोटि के नायक नायिकाओं में ही होती है. अतएव प्रायः परस्त्री, और अनुराग-शून्या वेश्या को कुछ लोग नायिका में परि गणित नहीं करते। १ संयोग और २ विप्रलम्भ शृंगार के दो भेद हैं।

इस रस में संचारी, विभाव और अनुभाव सब भेदों सहित आते हैं अतएव इसे रसराज कहते हैं।

१ संयोग शृंगार

एक दूसरे के प्रेम में पग कर नायक नायिका जब परस्पर दर्शन, स्पर्शन और संलापादि में रत होते हैं, तब वह संयोग शृंगार कहलाता है ।

उदाहरण

कबित्त—

राधिका-नयन में हैं मोहन-नयन बसे
मोहन बिकत राधा-नयन निकाई पै ।
प्यारी-मुख-सुखमा सराहत रहत प्यारो
प्यारी मोहिजात प्यारे मुख-मंजुताई पै ।
'हरिऔध' श्याम को कहति रमनी है काम
श्याम रति वारत रमनि रुचिराई पै ।
लाल को लुभावति है ललना-ललित-छवि
ललना लटू है भई लालकी लुनाई पै ॥ १ ॥

पिय-तन घन तिय-मुदित-मयूरनी है
पिय-तिय-नलिनी मिलिन्द-मतवारे हैं ।
कौमुदीतरुनि है कुमुद-मन मोहन की
मोहन तरुनि लतिका के तरु-प्यारे हैं ।
'हरिऔध' नारि है सरसि मीन-प्रीतम की
प्रीतम मराली-नारि मानसर प्यारे हैं ।
बाल बनी बालम-बिलोचन की पूतरी है
लाल बने ललना के लोयन के तारे हैं ॥ २ ॥

२ विप्रलम्भ

जब अनुराग अत्यन्त प्रबल और प्रिय समागम का अभाव रहता है, तब बिप्रलम्भ अथवा वियोग शृंगार की उत्पत्ति होती है। इसके निम्न लिखित तीन भेद हैं—

१ पूर्वानुराग २ मान और ३ प्रवास

उदाहरण

सवैया —

बावरी बेकल क्यों न बनौं पलही पल क्यों न उठौं अकुलाई।
वेदन ते बिलखौं न कहा इन नैनन ते अँसुआन बहाई।
क्यों न गहौं 'हरिऔध' अधीरता कैसे लहौं थिरता मनभाई।
एरी लगी छुत मैं छतिया के गोपाल की वा अँखियान लुनाई॥३॥

१ पूर्वानुराग

मिलन अथवा समागम से प्रथम हृदय में जो अनुराग का आविर्भाव होता है, उसको पूर्वराग अथवा पूर्वानुराग कहते हैं, इस के चार मार्ग हैं-

१ प्रत्यक्ष दर्शन २ चित्र दर्शन ३ श्रवणदर्शन ४ स्वप्नदर्शन

१ प्रत्यक्ष दर्शन

किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के नयनगोचर होने पर जिस अनुराग का प्रादुर्भाव होता है, उसे प्रत्यक्षदर्शन कहते हैं—

उदाहरण

कवित्त—

कलित-कपोलन पै अलकैं लुरी हैं मंजु
सुललित-आभा लसी अधर-तमार की।

हियरो-हरन-वारे उर पै फबे हैं हार
अंगन प्रभा है आछे भूखन-अथोर की।
'हरिऔध' बेस बसनादिक बखाने बनै
आने बनै चित मैं निकाई नैन-कोर की।
एरी बीर काकी मति बावरी बनी है नाँहिं
सु-छबि बिलोकि बांकी नवल-किसोर की ॥ १ ॥

अति अनुकूल सुख-मूल कालिंदी के कूल
लोक-सिद्ध-पीठजाको श्रुति ठहरावै है।
'हरिऔध' स-बिधिसम्हारि निज-सांसनको
आसन हूँ मारि संकत्रासन भगावै है।
एरी बीर विटप कदम्ब पै न बैठो आज
रस पैठो मंजु-मीठी-बांसुरी बजावै है।
काहू मोहिनी को मोह-वारो मन, मोहन को
मोहन हमारो मंत्र-मोहन जगावै है ॥ २।

भूलिना सकौहौं हूलि हूलि हिय मेरे उठै
ललित-लुनाई वाके लोयन-ललाम की।
प्यारी-छबि पापी-प्रान पलक बिसारै नाँहिं
आनन-बगारे कारे-कारे-केस-दाम की।
'हरिऔध' काहूँ न मानै पान कीने बिना
चैन-दैन-वारी-सुधा बैन-अभिराम की।
आंखिन समाई क्यों हूँ कढ़त न माई वह
मंद मंद मंजुल अवाई घनश्याम की ॥ ३

दोहा—

मोमन अपनो करत है बांकी-भौंह-मरोर।
आवत है चितवत-चकित चाव भरो-चित-चोर ॥ ४ ॥

२ चित्र दर्शन

चित्रदर्शन द्वारा जिस अनुराग की उत्पत्ति होती है उसे चित्रदर्शन कहते हैं—

उदाहरण

सवैया—

भावुकता-भव-भूति-निकेतन भाव भरो मुख है बहु-भावत।
भाल को रोचन मोहत है मन लोचन-लोच-भरो ललचावत।
ए 'हरिऔध' हँसी हित-जोरति हेरन है हियरो हुलसावत।
चित्र तिहारो चितेरे बताइ दै चित्त बसे हुँ क्योंचित्त चुरावत॥५॥

दोहा—

चितै चित्र में लाल के अमल-अमोल-कपोल।
ललकित लालायित भये ललना लोयन-लोल॥ ६॥

३ श्रवण दर्शन

रूप, गुण अथवा कीर्ति श्रवण से जो अनुराग उत्पन्न होता है उसे श्रवण दर्शन कहते हैं।

उदाहरण

सवैया—

तू बतरावति है मुसकाइ कै मो-मति माधुरी माँहिं फँसी है।
पल्लव से तव होंठ हिले नव-नेह-लता उर माँहिं लसी है।
हौं छवि देखे बिनाहि छरीगई तू छरे मोहिं भई सु-जसी है।
नैन मैं मेरे रमे मन-मोहन बैन मैं मोहनी तेरे बसी है॥ ७॥

दोहा —

मानस को मोहन लगे मन-मोहन छबि-ऐन ।
लोने लोने बैन सुनि भये सलोने नैन ॥ ८ ॥

४ स्वप्नदर्शन

स्वप्न में दर्शन करने से किसी में जो अनुराग उत्पन्न होता है, उसे स्वप्न दर्शन कहते हैं—

उदाहरण

सवैया—

रातिही ते है अराति भयो उर आकुल-भाव उसास सनो है ।
है न उबार उमाहनते बहु-दाहन ते दुख होत घनो है ।
भूलति सूरति ना 'हरिऔधकी' सावन-नीरद नैन बनो है ।
सो सपनो जरि जाउ सखी अपनो सुख जाते भयो सपनो है ९

दोहा—

होवै बहु कमनीय कोउ कै कामिनि अनुकूल ।
सपनो सपनो है अरी तू यह सपनो भूल ॥ १० ॥

मान

प्रियापराधजनित प्रणय कोप को मान कहते हैं । यह तीन प्रकार का होता है—लघु, मध्यम और गुरु ।

लघु मान

पर पत्नी अवलोकन जनित मान को लघुमान कहते हैं, यह हँसी और मीठी मीठी बातों ही से निवृत्त हो जाता है ।

उदाहरण

दोहा—

मोको करि करि बावरी हँसहिं खिजहिं खिसियाहिं ।
पिय ए अँखियां रावरी कत इत उत चलिजाहिं ॥ १ ॥

मध्यममान

परस्त्रीप्रशंसासूचक वाक्य अथवा आदरपूर्वक उसका नाम लेते सुनकर जो मान होता है, उसे मध्यम मान कहते हैं, यह विनय और शपथ आदि से दूर होजाता है ।

उदाहरण

दोहा—

अबलौं पतियाई बहुत पिय कबलौं पतियाहिं ।
जो जियको भावति न तिय मुँह मैं आवति नाँहिं ॥ २ ॥

गुरुमान

अन्य स्त्री रमण विश्वास जनित मानको गुरु मान कहते हैं, यह नाना अलंकार देने और पाँव पड़ने से दूर होता है ।

उदाहरण

दोहा—

प्रिय तो मनहीं की करहु जो मन मानत नाहिं ।
वाही के परसहु पगन जा पग परसे जाहिं ॥ ३ ॥

प्रवास

प्रियतम के परदेश निवास को प्रवास कहते हैं । यह दो प्रकार का होता है १ भूत प्रवास २ भविष्य प्रवास ।

भूत प्रवास

जिस प्रवास का सम्बन्ध भूत काल से होता है उसे भूत प्रवास कहते हैं।

उदाहरण

सवैया--

अति आतुर प्यासे समान पियूख भरे-अखरा-रस पीजत है।
दिनहूं ढिग आवन के गुनि कै अपनो हियरा थिर कीजत है।
पद प्रान प्रिया पढ़ि कै 'हरिऔध' बहे अँसुआ तनु भीजत है।
वह रावरी-प्रेम-पगी-पतिया रखिकै छतिया नित जीजत है॥१॥

पतिही परदेसी भयो तो कहो तिय जीवनको फल कौन लहा।
'हरिऔध न' धीरज है वै छनौ अकुलात अहै मन मेरो महा।
तन मोसी तियान के दाहन मैं जगमें जस कौन सो तेरो रहा।
बिहरै हियरा नहिं बूझि परै बिधना हम तेरो बिगाख्यो कहा॥२॥

लखि कै या कपूत-कला-निधिकों सिगरो कल आपनो खोवती हैं।
नभके इन तारन की अवली निज नैन के तारन पोवती हैं।
'हरिऔध' न आंख लगै कबहूं दुखसों पलहूं नहिं सोवती हैं।
पतिया पढ़िकै सिगरी-रतिया पकरे छतिया हम रोवती हैं॥३॥

दोहा—

जिय तरसत पिय मिलन कौ पावत पलौ न चैन।
पूस मास पावस भयो द्रग बरसत दिन रैन॥ ४॥

बिबस भई बनि बावरी कैसे दिवस सिराहिं।
छरछराति छाती रहति पाती आवति नांहिं॥ ५॥

भविष्य प्रवास

जिस प्रवास का सम्बन्ध भविष्य काल से होता है, उसे भविष्य प्रवास कहते हैं ॥

उदाहरण

दोहा—

लखत बिदेस पयान को होत तिगूनो तंत ।
मानत कंत कही नहीं आवत सरस-बसंत ॥ १ ॥
जाहु बिदेस, इतो कहहु, तब जीहैं केहि जोहि ।
कहि पी कहां पपीहरा जब कलपैहै मोहि ॥ २ ॥
छकी गमन सुनि छैल को बनी छबीली मूक ।
छटपटाति छिति पर परी छाती भई छटूक ॥ ३ ॥

बरवा—

प्रीतम जात बिदेसवां निपट अनेस ।
सिसकत खरी तरुनिया बगरे केस ॥ ४ ॥

दशदशा

प्रियतम को वियोगावस्था में जो दशायें प्राणी की होती हैं, वे प्रायः दश प्रकार की होती हैं, इसलिये इनको दश दशा, कहते हैं । ये दशायें अभिलाषा से प्रारंभ होकर मरण तक पहुँचती हैं, उनके नाम ये हैं—

१ अभिलाषा २ चिन्ता, ३ स्मरण, ४ गुण कथन ५ उद्वेग, ६ प्रलाप ७ उन्माद ८ व्याधि ६ जड़ता, और १० मरण किसी किसी ने ११ वीं दशा मूर्छा भी मानी है ।

१ अभिलाषा

वियोगावस्था में प्रियतम के मिलने की इच्छा को अभिलाषा कहते हैं ।

उदाहरण

कबित्त—

सोभा के निधान सुख-कन्द-कल-कंधन पै
मानसों या आपनी भुजान कब रखिहौं।
मधुर-सुधा से सुखमासे भरे बैनन को
कब इन प्यासे दोऊ स्रौनन सों चखिहौं।
'हरिऔध' प्यारे को लगाइ छतिया सों
कब बतिया प्रतीति-प्रीति-रीति की परखिहौं।
मृदु-बोल बोलि कब लोल-नैन-लालन कौ
करत कलोल कालिंदी के कूल लखिहौं॥ १॥

ब्रज मैं पधारि ब्रज जीवन विनोद दैहैं
वृन्दाबन-बीथिन मैं बिहँसि विचरिहैं।
लैहैं सुधि विपुल-विहाल-ब्रज-बालन की
तानन सुनाइ सुधा कानन मैं भरिहैं।
'हरिऔध' फेर कबौं अनुकूल ह्वै हैं लाल
कूल पै कलिन्द-तनयाके केलि करिहैं।
हरिहैं हमारो दुख-पुंज गुंज माल वारे
कुंज के बिहारी फिर कुंज मैं बिहरि हैं॥ २॥

दोहा—

कब बियोग-निसि बिनसि है लहे दिवस संयोग।
कब अँखियां अवलोकि हैं मुख-अवलोकन-योग॥ ४॥
घन-रुचि-तन-नव-छबि निरखि कब नचिहै मन-मोर।
वदन-चन्द अवलोकिहै कब मम-नयन-चकोर॥ ५॥

२ चिन्ता

प्रिय प्राप्ति अथवा चित्त शान्ति साधन विचार को चिन्ता कहते हैं ।

उदाहरण

कबित्त—

प्रेम को पियूख जो न परतो प्रपंच मांहि
तीन-योग-भोग देव-दानव मैं ठनती ।
सुखको पयोधि तीन बनतो अ-सुख-सिंधु
विविध-विभूति अविभूति मैं न सनतो ।
'हरिऔध' अविधि-उपाधि क्यों परति पीछे
अवधि की आस क्यों बिसास-जर खनती ।
तीन मन-काम-रिपु कामुकता काम देति
मोहन की मोहनी जो मोहनी न बनती ॥ १ ॥

सवैया—

होति न जो ममता ब्रजकी ब्रजके दुखियानको क्यों दुख खोतो ।
भूलतो जो अनुरागिन को अनुराग को तो बहतो किमि सोतो ।
तो बनतो 'हरिऔध' हितू नहि जो उर मैं हित-बीज न बोतो ।
मोहनी तो मनको न बिमोहति मोहन में यदि मोह न होतो॥२॥

बावरी सी भई वेदनतें कलपैं पलही पल प्रान हमारे ।
भूलि न चैन परै अँसुआन मैं डूबे रहैं अँखियान के तारे ।
मेरी घरी है पहार भई जबते 'हरिऔध' विदेस सिधारे ।
बीर हमैं न बतावत है कोऊ कैसे बितावत हैं दिन प्यारे॥ ३ ॥

दोहा—

चिनगी सी तन मैं लगति चौंकत राति सिराति।
चिन्ता-मनि चेतत नहीं चित-चिन्ता नहिं जाति ॥ ४ ॥
छार करति क्यों तन नहीं है दाहति दिनराति।
जो चिन्ता है चिता तो क्यों न चिता बनजाति ॥ ५ ॥

३ स्मरण

वियोग समय में प्रिय के संयोग समय की बातों, चेष्टाओं, औ समागमसुखों की स्मृति को स्मरण कहते हैं।

उदाहरण

कबित्त—

काहे लोल-लहर समीर ते करत केलि
सरिता कलोल-मयी होति क्यों सलिल से।
काहें है रसालताते लसत रसाल-पुंज
डोलत प्रसून क्यों है मंजुल-अनिल से।
'हरिऔध' चित जो बिलोकि कै बिकल होत
काहें तरु-वृन्द तो बने हैं मोह-मिल से।
लतिका-ललित तो लसी है क्यों तमाल-अंक
क्यों हैं कंज कलित-कलिन्दजा मैं बिलसे ॥ १ ॥

सवैया—

मंजु-तमालन सों लिपटी नव-लोनी-लता है बिथा उपजावति
कुंजन के बर-बेलि बितान की मंजुलता है महा-कलपावति
सुन्दरता ससि-सोभित-रैनकी चारु-सिता-सितता है सतावति
बारिद के अवलोकत ही अलि बारिद-गातकी है सुधिआवति

वेई निकुंजन जा मैं लखी इन नैनन ते वह सूरत-सांवरी।
वेई कलिन्दजा के कल कूल भरी जहां प्रीतम के सँग भाँवरी।
वेई घने-बर-बेलि-बितान जहां 'हरिऔध' भईही निछावरी।
हौं झिझकी परी भांवरी बीर विलोकत ही मति ह्वै गई बावरी ३

दोहा—

नव-जल-धर-तन सुधि भये चूर होत चित-चैन।
लखि कलिन्द-तनया-सलिल होत सलिल-मय-नैन ॥ ४ ॥
है लहरति लोनी-लता वायु बहति है मंद।
दुचित होत मोचित चितै चैत चांदनी चंद ॥ ५ ॥

४ गुण कथन

वियोग समय में प्रिय गुणानुवाद कथन को गुण कथन कहते हैं।

उदाहरण

कबित्त—

पर-दुख-दुखी क्यों न दुखी दुख देखि होत
काहे पीर पर-पीर-हारी ना हरत है।
पर-नैन-भरे जाको नैन भरि आवत है
वाको दृग मोदृग भरे ना क्यों भरत है।
'हरिऔध' सोई मोहि धीरज बँधावै क्यों न
धीर जो अधीरन विलोकि ना धरत है।
दयानिधि क्यों न दया-निधिता दिखावत है
करुना क्यों करुना-निधान ना करत है ॥ १ ॥

आंखिन को तारो क्यों हमारो है परारो होत
उरको हरन-हारो कत होत कोही है।

असरस होत क्यों सरस-आदरस वारो
क्यों न देत दरस मयंक-मुख-जोही है।
हरिऔध विरह-पयोधि परी ऊबतिहौं
क्यों न बांह गहत सु-बाट को बटोही है।
जनम को छोही काहें परम अछोही भयो
मोहन सों मोही काहें भयो निरमोही है।

सवैया—

कामुकता-कमनीय-निकेतन कामिनि की आँखियानको तारो।
सूधो सधो सुख-धाम सुधा-सनो सुन्दर-सील-सनेह-सहारो।
भाव-भरो सुथरो भव-वल्लभ जीवन-जीवन-भूतल-प्यारो।
मोहि न कोऊ मही-तल मैं मिल्यो मोहन लौं मन-मोहन वारो ३

साँवरे अंगन सी सुकुमारता साँवरे-अंगन मैं निवसी है।
मंजुल-आननसी कमनीयता मंजुल-आनन मांहि लसी है।
ए 'हरिऔध' अहैं दृग से दृग मंजु-हँसी सम मंजु-हँसी है।
मोहन-बैननसी मधु-मानता मोहन बैननही मैं बसी है ॥ ४ ॥

दोहा—

गिरत उठत थहरत उड़त थिरकत होत उतंग।
तऊ न तव-गुन-गुनतजत मो-मन अगुन-पतंग ॥ ५ ॥
रही अवधिकी अवधि नहिं सुधिहूं की सुधि नांहि।
तिय, पी, सुगुन-सरस-सुधा सरसति वसुधा मांहिं ॥ ६ ॥

९ उद्वेग

प्रिय वियोग से व्याकुल होकर किसी विषय में चित्त न लगने का नाम उद्वेग है।

उदाहरण

कवित्त—

गात पियरात तो न हियरो हिरानो जात
चिन्ता तो विवेक-हीन-वेदना न जनती।
सूखतो न अधर उसास ते न ऊबहोति
रार तो न आस औ निरास माँहिं ठनती।
'हरिऔध' विधिको विधान तो न बेधि देत
तो न प्रेम-मंजुता अमंजुता मैं सनती।
वायु-चिर-संगिनी विहंगिनीसी बेगवान
योगिनी वियोग मैं वियोगिनी जा बनती ॥ १ ॥

राति सिराति तो बार न बीतत बात वियोग की काहि बतैये।
जोहत पंथ थके युग-लोचन क्यों दुख-मोचन को लखिपैये।
बेसुध हौं 'हरिऔध' बिना भई कौला बिथान कथान सुनैये।
का करिये सखि संगम की विधि वायु विहंगम क्यों बनिजैये २

दोहा—

ऊबति बीते अवधि-दिन कोमल-तन-कुँभिलात।
तितनो आकुल होति तिय जितनो चित अकुलात ॥ ३ ॥
सुन पिय-आगम प्रात ही युग सम बीतत रात।
परलहि परी बनन चहति सेज-परी अकुलाति ॥ ४ ॥

प्रलाप

प्रिय की अनुपस्थिति में उसे उपस्थित मानकर अथवा वियोग से विशेष व्यथित होकर अनर्गल किम्बा निरर्थक वार्तालाप को प्रलाप कहते हैं ॥

उदाहरण

कवित्त—

कूकन न दैरी कुंज-पुंज मैं पिकन कांहिं
आवन सदन मैं न मञ्जुल-बयारि दै।
तोरि दै सकल-तरु-वृन्द के नवल-दल
लोहू लाल-सेमल-प्रसूनन को गारि दै।
'हरिऔध' बिरह-बेहाल-मन मेरो अहै
एरी वीर अलि की अवलि को बिडारि दै।
कलित-कमल-कुल-कोमलता-काल बनि
ललित-लतान की ललामता निवारि दै ॥१॥

रसना पुनीत-गुन गाइ गौरवित होति
रुचि चारु-चरित बिचारि विकसति है।
सुमिरि सुमिरि मंजु-भाव मन मोहि जात
उर मैं प्रभावित-प्रतीति प्रविसति है।
हरिऔध प्रीतम-विदेसो है विदेसी कहाँ
रोम रोम मांहि पूत-प्रीति बिलसति है।
बैनन मैं बसति विदित-विरुदावलि है
नैनन मैं सूरति-सलोनी निवसति है ॥२॥

सवैया—

मानिहौं नातो न बारिधि-बंस को बारिधिताको कबौंना सकैहौं।
ना कमला कमलापन सोचिहौं ना कमला-पति को पतिऐहौं।
मोहि सताइ बचैगो न पातकी पातक सिंधु मैं ताहि डुबैहौं।
दैहौं विथोरि कलंकित-कालिमा छोरि मयंक मयंकता लैहौं ॥३॥

तोसे कपूत के पापही ते बड़वानल वारिधि को तन तावत।
तो सम पामर होत न, कौनतो, गौतम-तीको कलंक लगावत।

पी "हरिऔध" बिना अब पातको मोहुँ को पावक लाइ सतावत।
डूबन को कहूँ एरे मयंक तू एक चुलूकहूं बारि न पावत ॥४॥

दोहा—

ताको कैसो विरह दुख ताको कहा प्रवास ।
मेरे मानस मैं अहै निस-दिन जासु निवास ॥ ५ ॥
कैसी है यह सांवरी-सूरति कहत बनै न ।
निवसति है अँखियान मैं अँखियाँ निरखि सकैं न ।।६॥
रुधिर भरो क्यों है खरो किंसुक कुसुमन-व्याज ।
आह आह कै कोकिला कहा कराहति आज ॥७॥
मोचित त्रिचलित होत है बहि बहि दहत सरीर ।
बरजि बरजि आवै न इत सीतल-मंद-समीर ॥८॥

३ उन्माद

वियोगावस्था में संयोगोत्सुक हो बुद्धि विपर्यय पूर्वक वृथा व्यापार करने, जड़, चेतन विवेक रहित होने, और व्यर्थ हँसने, रोने आदि को उन्माद कहते हैं ।

उदाहरण

कवित्त—

हँसै, रोवै, गावै, बतरावै, बकै, बोल नाँहिं
उठै बैठे, धावै भरै बन बन भाँवरी ।
नभ को निहारै कछू कहै फिर भूको चहै
जकी हीसी रहै जो विलोकै छबि साँवरी ।
"हरिऔध" काहू की कही न उर आनै
रूख पातहूँ सों पूछै औ बखानै बातरावरी ।
काल रही नैनन की पूतरी जो बाल
आज एरे निरदयी तेरे देखे बिना बावरी ॥१॥

इत उत दौरी फिरैं हँसै रोवैं थिरैं नाँहिं
अनु-छन दौवो करैं बन बन भाँवरी।
इक टक लावैं जो पयोद लखि पावैं कहूँ
भिरहिं तमाल हूँ विलोकि छबि साँवरी।
"हरिऔध" उघरी ही रहैं लाज हूँ ना बहैं
पलकन हूँ ना चहैं बीते हूँ बिभावरी।
प्यारी वह सूरत तिहारी अहो प्रान नाथ
अँखियाँ हमारी भई देखे बिना बावरी ॥२॥

सवैया——

बातैं बियोग बिथा सों भरी अरी बावरी जानैं कहा बनबासी।
पीरहूँ नारिन के उरको ना पछानत ए तरु-तीर निवासी।
सोभा, स्वरूप, मनोहरता 'हरिऔध' सी यामैं नहै छबि खासी।
बाल तमाल सों धाइ कहा तू रही लपटाइ लवंग-लता सी ॥३॥

दोहा——

बनति कमलिनी राति की बिगत-निसा ससि जोति।
भये रावरी-छबि सुरति बाल बावरी होति ॥ ४ ॥
रोअत हंसत लरत भिरत ललकत लहत न चैन।
बिना रावरे-मुख लखे भये बावरे नैन ॥ ५ ॥

व्याधि

वियोग व्यथा जनित शरीरकृशता, पाण्डुता आदि अस्वास्थ्य को व्याधि कहते हैं।

उदाहरण

कवित्त——

भावत न भौन भार भये अंग-भूखन हैं
सेज सतराति ना सुहाति मंजु-सारी है।

चाँदनी दहति है अँगारे बरसत चंद
चारु-भूत कंजन की चारुता न प्यारी है।
"हरिऔध" बिना सुख साध आधिव्याधि भई
पावक ते पूरित-प्रसूनन की क्यारी है।
फूँकि फूँकि देत है बसंत बजमारो मोहि
कूकि कूकि कोकिलाहूँ हनति कटारो है।

सवैया—

लोनी-लवंग लता लहराइ विलोचन मेरे नहीं ललचावत।
कोमल-मंजुल-पादप के दल हैं न अलौकिकता दिखरावत।
कौन सो रोग भयो बिछुरे पिय भोग नहीं जिय को बेलमावत।
हैं फल भावत ना मन भावने हैं न लुभावने फूल लुभावत ॥२॥

दोहा—

है विलास की आस नहिं पास रह्यो सुख कौन।
मोहि अभावन-मय कियो मन-भावन तजि भौन ॥ ३ ॥
छुन छुन छीजत जात तन छबि-विहीन भो भौन।
मो छतिया में ह्वै गयो पति बिछुरत छत कौन ॥ ४ ॥

बरवा—

सूखत याहि अनेसवाँ यह तन हाय।
पियसों कहत सनेसवा कोउ न जाय ॥ ५ ॥
छुवतहिं सखिन अँगुरिया जरि बरि जाहिं।
धधकति बिरह अगिनिया अंगन माँहिं ॥ ६ ॥
दाहत देह दुलहिया बिरह-अँगार।
सीतल होत न अँखियन के जलधार ॥ ७ ॥

जड़ता

अंगों तथा मन के चेष्टा शून्य होने और इन्द्रियों की गति के अव-रोध को जड़ता कहते हैं ।

उदाहरण

कबित्त—

पतिया छुये ही काहें छतिया छिलन लागी
गात छोरि गईं क्यों छबीली छबि-छलकैं ।
क्यों है छुरि गई क्यों छलावा मैं परी लखाति
छूटे केस, क्यों हैं छटा-हीन मंजु अलकैं ।
"हरिऔध" कहा भयो कौनसी बही है बायु
काहें लोप भईं लोक लोभनीय-ललकैं ।
बोलि बोलिके हूँ काहें सकति न बोलि बाल
खोलि खोलि के हूँ काहें खोलति न पलकैं ॥१॥

सवैया—

चंपक की लता चारु रही नहिं क्यो कुँभिलात है बेलि चमेली ।
काहें भई चकि कै जकि कै छकि कै छन मैं नव-बाल दुहेली ।
ए "हरिऔध" विलोकतही पतिया क्यों भई तियको तलबेली।
काहें न खोलति है अँखियान को बोलति काहें नहीं अलबेली॥२॥

दोहा—

परकी कही नहीं सुनत अपनी कहति न बात ।
तिय है पाहन ह्वै गई किधौं भयो पवि-पात ॥३॥
हिलत डुलत बोलत नहीं खोले खुलत न नैन ।
कहा भयो पतिया पढ़त धरकति छतिया है न ॥४॥

मूर्छा

वियोग दशा में शरीर के दुःख सुख का ज्ञान न रहने का नाम मूर्छा है।

कवित्त—

जो चित चिता की भाँति चिनगी लगावै चेति
वाते तो अचिन्तित-अचित उपकारी है।
जो उर नरक नाना-यातना-निकेतन है
वाकी अनुरागिनी धरा मैं कौन नारी है।
"हरिऔध" विधि के विधान ते कहा है वस
याही ते वतावति वियोग-व्यथा-वारी है।
मीनता मलीन-मीन-केतनताते है मंजु
चेतना ते चौगुनी अचेतनता प्यारी है ॥१॥

सवैया—

होत है ज्ञान कवौं हित कौनहिं, गांठ कवौं हितकी जुरिजाति है।
मोह-मयी कबहूँ दिखराति कवौं सब-मोहन ते मुरिजाति है॥
प्रीति कवौं छलकी सी परै कवौं दीरघ-लोयन मैं ढुरिजाति है।
है सियराति अचेत भये तिय चेतत चाँदनी मैं चुरिजाति है॥२॥

दोहा—

दही तिया पतिया पढ़त रही देह-सुधि नाँहि।
पकरि उरछिलत आपनो मुरछि परी महि माँहि॥३॥
कित ते इत आई अरी मंद मंद करि गौन।
मुरछित ह्वै छिति पर परी अहै परी यह कौन॥४॥

मरण

प्राण परित्याग का नाम मरण है, वियोगावस्था में चरम नैराश्य की गणना भी मरण दशा में की जाती है।

कवित्त—

परलोकहूं मैं पन पूरो होत काहु को तो
उर को प्रतीति प्रानप्यारे को घनी रहै।
अहित भये हूँ मेरे प्रति-रोम-कूपन मैं
"हरिऔध" प्यारे ही के हित को ठनीरहै।
हौं तो हौं मरत पै मिलत जो मुये हूँ कछू
तो हौं चहौं प्रेमही की बारुनी-छुनी रहै।
लगी रहै लोयन को ललक विलोकन की
मुख-अवलोकन की लालसा बनी रहै ॥१॥

ह्वै हैं दुखी अँखियाँ हमारी तुमैं देखे बिना
आगहूँ बरैगी बार-बार मेरे-उर मैं।
तेरे कल-बैन बिना कानहूँ न पैहैं कल
नीरसता छैहै किन्नरीनहूं के सुर मैं।
अधर तिहारो पान कीने बिना "हरिऔध"
माधुरी न रहि जैहै सुधा से मधुर मैं।
तेरे बिना ए रे प्रान-प्यारे ए हमारे-प्रान
पाइहैं प्रमोद ना पुरन्दर के पुर मैं ॥२॥

सवैया—

काल कराल करालता मैं परि छाती छितीसन हूँ की छिली है।
रैहैं नहीं अमराधिप से अमरावति हूँ कबौं जाति गिली है।
ए 'हरिऔध' दली जो गई नहिं ऐसी कहाँ कोऊ बेलि खिली है।
जैहै सुधानिधि हूँ कबहूँ मरिकाहि सुधा बसुधामें मिली है ॥३॥

दोहा—

अंत-समय अनुराग-मय पिय आवहिं जो भौन ।
तो मम-जीवन-सम सफल जीवन है जग कौन ॥१॥

मग जोहत लोचन थके अब रहि जात न मौन ।
जिअत मिलहु जो मिलि सकहु मुये मिलत है कौन ॥२॥

तुम आये नहिं देह तजि पौन करत है गौन ।
मम-प्यासी अँखियान को प्यास बुझैहै कौन ॥३॥

जिअन लालसा है नहीं सुनहु रसिक-सिर-मौर ।
अधर-सुधारस-लालची चाहत सुधा न और ॥४॥

मरत पै चहत मानियहु मेरी इतनी बात ।
मम-तन-रज पै पिय कबहुँ रखियहु पग-जल-जात ॥ ५ ॥

उदाहरण

दिनों का फेर

कबित्त—

रमा-कमनीय-कर-लालित रहे जे लोक
तिनके अमोल-लाल अन्न को ललात हैं।
सुन्दर सँवारे जाके सुरसे सदनहुते
धरा परे ताके नैन-तारे दिखरात हैं।
"हरिऔध" फूटे भाग भुवनाभिरामन के
भोरे-भोरे-तात भूमि भार भये जात हैं।
जाको बल-विभव बिलोकि लोक-पाल भूले
ताके-कुल बालक बलूलेलौं बिलात हैं ॥१॥

पल पल पैहै आज तिनको पतन होत
देव-विभवों ते भौन जिनके भरे रहे।
ताको तात पलत चबाइ तरु-पातन को
परे जो सदैव कल्प-पादप तरे रहे।
"हरिऔध" तेई अंधकूप पाहुने हैं बने
भूप है स-भीत द्वारे जिनके खरे रहे।
ताको देखि आसन तजत ना गवासन हूँ
सासन ते जाके पाकसासन डरे रहे ॥२॥

धन के कुबेर गये बीते हैं बराकहूँ ते
सूखि सूखि सुर-तरु बने हैं तुच्छ-तिनके।
साज-बाज जिनको धरा धिपते दूनो हुतो
तिनके गिरोहैं रोम रोम पास रिन के।

'हरिऔध' तेज-हीन-तारे हैं तरनि बने
एक से रहे हैं मेदिनी में दिन किनके।
तने बिने तिनके निवास हैं तरुन तरे
सोने के सदन हे सुमेर जैसे जिन के ॥३॥

कलित-कपाल अहैं कालिमा-बलित होत
सूखे जात कोमल-कमल से बदन हैं।
लालसा-लसित उर में है सूल सालि जाति
कसक-प्रतोद मंजु-मोद के कदन हैं।
"हरिऔध" लोचन हमारे अजहूँ ना खुले
भये विकराल क्रूर-काल के रदन हैं।
रतन-समूह भरे सौध बिनसे हैं जात
सूने परे जात सजे-सोने के सदन हैं ॥४॥

बसुधा में वंदनीय ज्ञान को बिकास भयो
जाके बेद-गान की मधुर-ध्वनि गूंजे ते।
ताके बंश–जात मूढ़ताके तमते हैं घिरे
मान हैं रखत माँगि माँगि मान दूजे ते।
"हरिऔध" जाकी भूत-भावना बिभूति हुती
सोई है अपूत, भाव-पूत- उर भूंजे ते।
आज पेट-पूजा ताकी पूजनीय-पूंजी भई
पूजनीय पूजे गये जाके पग पूजे ते ॥५॥

करुण कथा

कबित्त—

कैसे भला चौगुनो न चित-चैन चूर होतो
क्यों न चन्द बदन बिपुल होतो पियरो।

कैसे रोम रोम मैं समायो दुख ऊन होतो
कैसे होतो कछुक दहत-गात सियरो ।
"हरिऔध" विधवा-बिलाप जो करत नाँहिं
कैसे भला बावरो बनत तो न जियरो ।
कैसे पिक-कूकते करेजो ना मसकि जात
हूक ते न कैसे टूक टूक होतो हियरो ॥ ६ ॥

कबलौं निबाह हो तो वेदना-वहन करि
कौलौं करि केते ब्योंत काया काँहिं कसती ।
व्रत-उपवास कै वितावति दिवस कौ लौं
कबलौं बचावति विवेचना विनसती ।
"हरिऔध" बार बार बिपुल-बेहाल बनि
कैसे बाल-विधवा बसुंधरा मैं बसती ।
मन को मसोस जोन कढ़तो उसास-मिस
उरकी कसक जो न आँसू ह्वै निकसती ॥ ७ ॥

रूप होते जाको है कुरूपता-कुरोग लगो
कबौं जो कलंक-अंक ते न उबरति है ।
बारि-धर जाको तन दहत बरसि बारि
जाकी मति मधु-रितु माधुरी छरति है ।
"हरिऔध" ऐसी बाल-विधवा अभागिनी है
जाको दुख अनुरागिनी हूँ ना दरति है ।
चाँदनी चमकि जाके चितको हरति चेत
जाको चैन चूर चन्द-चारुता करति है ॥ ८ ॥

ससुर को सुर जाके सुरसों मिलत नाँहिं
जाकी-जर सासु ह्वै बिसासिनी खनति है ।

देवर के तेवर हैं जाको बेधि-बेधि देत
औगुन-गनन जाके ननद गनति है।
'हरिऔध' कैसे होवै विधवा व्यथित नाँहिं
जाको जाति नाना-यातना हित जनति है।
जाकी पति पिता-सम पाताहूँ रखत नाँहिं
जाके हित माता हूँ बिमाता सी बनति है ॥९॥

सवैया—

नागिनिसी भई फूल की सेज दवागिनिसी उर माँहिं बरी है।
मंजु कला-कर काल भयो विधवा-सुख-साज पै गाज परी है।
सो विधि क्यों न भई जरि छार अहो हरिऔध जो दाह भरी है।
काहें भई छतिया छत-पूरित काहें छरी गई फूल छरी है ॥१०॥

जाको छबीलो उछाह-भरो छलिया-विधिके छलछंद ते छूट्यो।
जाकोसु-जीवन मंजु-हरा भव-कंटक काल के हाथ ते टूट्यो।
ए 'हरिऔध' सुहागिन होतही जाको सुहाग अभाग ने लूट्यो।
वा सम कौन अभागिनि जाको भये बड़ भागिनि भाग है फूट्यो।

कारुणिकता

कबित्त—

जाकी कुसुमावलि-कलित चितचोर हुती
सोई भूरि-धूरि-भरो भूतल पै परो है।
जाको फल चाखि रही रसना सरस बनी
पात बिन नीरस ह्वै ताको गात गरो है।
एहो 'हरिऔध' जो अवनि-अंक लाल हुतो
सोई आज काल को कवल बनि अरो है।

ताप-जरो जीव जाते सुखित-खरो है भयो
सोई हरो भरो तरु सूखो, सरो, मरो है ॥१२॥

सवैया—

नीले बितान मैं हैं न लसे अब हैं न बसे तम मैं बनि न्यारे।
हैं रजनी के न अंक बिभूखन हैं न बिलोचन-रंजन-हारे।
ए 'हरिऔध' न हीरकसे अब हैं बिलसे बर-जोति-वगारे।
तेज-बिहीन ह्वै धूरि-भरे महि मैं हैं परे बिखरे नभ-तारे ॥१३॥

मर्म्म व्यथा

कवित्त—

आवत है दूर ते बिमोहित विपुल-बाने
भावतो न मान तो अभाव को तो हरतो।
तन-मन-वारि भूरि-भावरैं भरत हेरि
रीझ जो न जातो भले-भाव तेतो भरतो।
'हरिऔध' कहै एरे दीप तू दिपै है कहा
लोकते नहीं, तो परलोक ते तो डरतो।
देह क्यों दहत है पतंग जैसे प्रेमिक को
नेह भरो ह्वै कै क्यों सनेह है न करतो ॥१४॥

सवैया—

चन्द चकोर को चाहै नहीं पै चकोर है चंद को चाहि निहारत।
नीर कबौं नहिं मानत मीन कौ मीन है नीर ते जीवन धारत।
ए 'हरिऔध' अनेही कबौ नहिं नेह कै नेहिन काहिं निहारत।
है न पयोद पपीहरा प्रेमिक प्रान पपीहा पयोद पै वारत ॥१५॥

लोचन विहीनता

कवित्त—

जाति-दयनीय-दसा देखि दुख होत नांहिं
लोच-भरी-बात पै रहत ललचाये हैं।
हितको अहित औ अहित को कहँहिं हित
पेच-पाच-वारे पेच-पाच पै लुभाये हैं।
'हरिऔध' भूलहो पै भूल हैं करत जात
अजहूँ लिलार-लेख को न भूल पाये हैं।
कोरे बनि करहिं निहोरे करजोरे रहैं
भोरे-भोरे-भाव भोरे-हिन्दुन को भाये हैं ॥१६॥

जगत मैं जाकी जगमगत सु-जोत रही
वाकी जाति-वारे नांहिं जागत जगाये हैं।
तेज-हीन भये जात तात तेज-वारन के
जीवन-विहीन जग-जीवन के जाये हैं।
'हरिऔध' आज तिल ताल तिन हूँ को भयो
कबहूँ तिलोक के जे तिलक कहाये हैं।
भरत के पूत हूँ उभारे उभरत नांहिं
भारतीय भोरे-भोरे-भाव पै लुभाये हैं ॥१७॥

तंत कै कै हिन्दुन को अंत जो न दै हैं करि
कैसेतो दिगन्त मांहिं कीरति बितरिहैं।
कैसे भारतीयता-विभव को विकास कै हैं
भूति जो न भरत-कुमारन की हरि हैं।
'हरिऔध' देस-प्रेमपाग मैं पगैंगे किमि
जो न जाति-लालसा लहू सों हाथ भरिहैं।

कैसे कुल-कमल कहाइहैं कमाल करि
कुल को कलंक ते कलंकी जो न करिहैं ॥१८॥

सवैया——

केते कलंक भयां के भये बलि केते गये गरिमा ते गिले हैं।
ऐसे धरा मैं अनेक धँसे जिनके मुख-पंकज हूँ न खिले हैं।
छीजि गये अजौं छीजत जात तऊ हिय पाहन से न हिले हैं।
घूर पै फूल-से-बाल मरे बहु धूल मैं लाखन-लाल मिले हैं ॥१९॥

विनय

सवैया——

औगुन के ही रहे बन औगुनी नांहिं गुनो गुन की गरुआई।
औरन पेरि भई पुलकावलि जानि परी नहिं पीर-पराई।
आकुल भो 'हरिऔध' कहां अवलोकतही जनता-अकुलाई।
देखि भरी दुखिया-अँखियान को है न कबौं अँखिया भर आई॥२०॥

आंखि-बिहीन हौं आंखिन आछत नाथ कबौं अँखिया मत फेरो।
मोमतिपंगु, भई है मया करो अंध औ पंगु को पंथ निबेरो।
है 'हरिऔध' तिहारो न और को जैहै कहां तजिकै पग तेरो।
मो-करनीनते काज कहाँ करुना करिकै करुनाकर हेरो ॥२१॥

विपत्ति वासर

दोहा——

जल सूखे, असरस भयो, सरसिज नाँहिं लखाहिं।
कैसे बिसर न जाँय खग ऐसे सरवर कांहि ॥ १ ॥
दूर भई सब-मंजुता ताकत नांहि मिलिन्द।
अवनी तल पै है परो धूरि-भरो अरविन्द ॥ २ ॥

मिलत नहीं फल फूल दल रही न छाया आस।
कैसे आवैं खग-सकल सूखे-तरु-वर पास ॥ ३ ॥
झरि सूखे रज में मिले भये काल प्रतिकूल।
न्यारी लाली रखत हे लाल लाल जे फूल ॥ ४ ॥
जिन मैं तरु-वर लहलहे रहे महा-छबि देत ।
हैं उजरे सूखे परे हरे भरे ते खेत ॥ ५ ॥

मनोव्यथा

दोहा—

कब तोको निरखत नहीं पपिहा प्रीति-समेत।
घन तू पाहनता करत जो पाहन हनि देत ॥ ६ ॥
कत चमकावत वारि-धर चपला-मिस तरवारि।
चाहत केवल बूंद-द्वै चातक चोंच पसारि ॥ ७ ॥
आजु कालि मैं लेहु सुधि मरत जिआवहु पालि।
घन तब जल बरसे कहा सूखि गयो जबसालि ॥ ८ ॥
हरो भरो मरुनहिं भयो बुझो न चातक प्यास।
घन तो बरसत वारिकत जो जरि गयो जवास ॥ ९ ॥

अकरुण चित्त

दोहा—

कोऊ चितवत चित्त दै कब चाहक की ओर।
अछत चारु कर चंद के चिनगी चुगत चकोर ॥१०॥
कहा नेह करि कीजिये भलो न नेही संग।
दीपक के देखत दहत अपनो गात पतंग ॥११॥
कैसे तानत बान तू छोड़ि मनोहर तान।
रंग रखत कैसे बधिक हरि कुरंग को प्रान ॥१२॥

जो जानत जन तोरि हैं लखि सुखमा-सुखमूल।
तो काहे को फूलतो कबहूँ कोऊ फूल ॥१३॥
कहा मनोहरता मिले पाये सरस-सुबास।
मधुप न मोहत तो कहा सुन्दर-सुमन-विकास ॥ १४ ॥

बेचारे बिहंग।

दोहा—

बसत बिपिन मैं खात फल पिअत सरित-सर नीर।
तिन बिहगन कहँ बेधहीं मारि वधिक-गन तीर ॥ १५ ॥
काहे विधि सुन्दर कियो दियो सुहावन-रंग।
वधिक-बान बेधत रहत जो विहंग को अंग ॥ १६ ॥
तीखे बानन ते विधत कुसुम-मनोहर-अंग।
चित्रित पर लै का करैं ए बापुरे बिहंग ॥ १७ ॥
बसुधा में बेधत बधिक गहत गगन मैं बाज।
कहां जाय बिहरै बसै बेबस बिहग-समाज ॥ १८ ॥

अन्तर्वेदना

दोहा—

जाते आलोकित बन तिमिर-भरे सब-ओक।
कबहूं फिर अवलोकिहै भारत वह आलोक ॥ १९ ॥
गई आँखिहूं जाहि लहि जोहन-वारी होति।
कहा कबौं फिर जागिहै जाति माँहि सोइ जोति ॥ २० ॥
जाते बहु-विकसित बनत जनजन, पूजे आस।
का कबहूं ह्वैहै न फिर वैसो सरस-विकास ॥ २१ ॥

अद्भुत

स्थायी भाव—विस्मय अथवा आश्चर्य

देवता – ब्रह्मा

वर्ण – पीत

आलम्बन–

अलौकिक-वस्तु असम्भवित-व्यापार लोकोत्तर-कार्य्याकलाप विचित्र दृश्य, आदि।

उद्दीपन–

लोक चकित कर कार्य कलाप, वस्तु और व्यापारों का दर्शन, गुण श्रवण, महिमा निरूपण, वैचित्र्य अवलोकन, आदि।

अनुभाव–

स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, गद्गद स्वर, सम्भ्रम, नेत्रविकास, आदि।

संचारी भाव–

वितर्क, आवेग, भ्रान्ति, हर्ष, औत्सुक्य, चाञ्चल्य आदि।

विशेष

किसी किसी ने इस रसका देवता, गंधर्व माना है।

रहस्यवाद

मनहरण

छबिकै निकेतन अछूते-छिति-छोर मांहि
काकी छबि-पुंजता छगूनी-छलकति है।
बन उपवन की ललामता ललाम ह्वै ह्वै
काकी लखि ललित-लुनाई ललकति है।
'हरिऔध' काको हेरि पादप हरे हैं होत
कुसुमालि काको अवलोकि पुलकति है।
कौन बतरैहै बेलि माँहि काकी केलहोति
कली कली मांहि काकी-कला किलकति है॥ १॥

मंद मंद सीतल-सुगंधित-समीर चलि
कत प्राणि-पुंजको पुलकि परसत है।
भूरि-अनुराग-भरी-ऊषाको कलित-अंक
कतप्रति-बार ह्वै सराग सरसत है।
'हरिऔध' अन्त ना मिलत इन तन्तन को
कत ह्वै सुहावनो दिगन्त दरसत है।
काकी सुधा-धारते सुधाकर सरस बनि
सारी-बसुधापै न्यारी-सुधा बरसत है॥ २॥

लहलहे काको लहे उलहे-विटप होत
कासों हिले लतिका ललाम ह्वै ह्वै हिलती।
काके गौरवों ते गौरवित ह्वै लसत गिरि
धन-राशि धरा काके बलसों उगिलती।
'हरिऔध' हो तो लोक मैं न लोक-नायक तो
कलिका कुसुम की विलोकि काको खिलती।

दमक दिखाति काकी दमकति-दामिनी मैं
चाँदनी मैं चन्द मैं चमक काकी मिलती ॥ ३ ॥

एक तिनके ते है अनन्तता विदित होति
पथ-रज-कनहूँ कहत 'नेति' हारे हैं।
सत्ता की महत्ता पत्ता पत्ता है बताये देति
काल की इयत्ता गुने लोमस, बिचारे हैं।
'हरिऔध' अनुभूति-रहित विभूति अहै
विभव-पयोधि-वारि-बिन्दु लोक-सारे हैं।
भव-तन मैं हैं भूरि भूरि रवि सोम भरे
विभु रोम रोम मैं करोरों व्योमतारे हैं ॥ ४ ॥

देहिन को सुखित सनेहिन-समान करि
पंखे अति-मंजुल-पवन के हिलत हैं।
चन्द के मनोरम-करनते अवनि काज
चांदनी के सुन्दर बिछावने सिलत हैं।
'हरिऔध' कौन कहै काके अनुकूल भये
सीपन मैं मोती मनभावने मिलत हैं।
कीच मांहिं अमल-कमल बिकसित होत
धूल मांहिं सुमन-सुहावने खिलत हैं ॥ ५ ॥

काल-अनुकूल कैसे कारज-सकल होत
पिक कूके कैसे सारो ककुभ उमहतो।
बिकसित कैसे होति कला कुसुमायुध की
कैसे लहराति लता पादप उलहतो।
'हरिऔध' हेतु-भूत सत्ता जो न कोऊ होति
कुसुम-समूह कुसुमाकर क्यों लहतो।

बैहर क्यों डोलति वहन कै मरंदभार
मलय-समीर मंद मंद कैसे वहतो ॥ ६ ॥

फूल खिले देखे कै बिलोके हरे-भरे-तरु
भूलि निज-भाव ललचाई ललकैंथकीं ।
जाथल दिखातो लोक-लोचन छबीलो-लाल
औरै छवि देख वाँ उमंग-छलकें छकीं ।
'हरिऔध' उत भव-हित मैं लुकत हरि
इत सुख-मुख-जोहि जोग-जुगतें जकीं ।
कित हैं लसे न बिलसे न दृग सौहैं कयौं
आँखि मैं बसेहूँ ना बिलोकि अँखियाँ सकीं ॥ ७ ॥

बसि घर बार मैं बिसारे घर बारिन को
घरी घरी बचि घेर घारन के घेरेते ।
तम मैं उँजारो किये उर को उँजारो लहि
देखे जग-जीवन के जीवन को नेरे ते ।
"हरिऔध" कहै भेद खुलत अभेद को है
सारे-फेर-फारनते मानसको फेरे ते ।
कानन के कानन की बातन को कान करि
आँखिन की आँखिन को आँख माँहिं हेरेते ॥ ८ ॥

नैशगगन

कबित्त--

आलोकित उजरे सुनहरे सुहावने हैं
कारे पीरे नीले हरे भूरे रतनारे हैं ।
नयन-बिमोहन विचित्रता-निकेतन हैं
विधि-कमनीय-कंज करके सँवारे हैं ।

'हरिऔध' विभु-विभुता के हैं अनन्त ओक
लोक-अनुरंजन के सहज-सहारे हैं।
तेज-तोय-निधि के बबूले-चमकीले चारु
व्योम-तरु तोम के फबीले-फूल तारे हैं ॥९॥

प्रकृति-असीमता-अनन्तता के अंकुर हैं
आकर हैं अमित-प्रभाकर के थल के।
बिपुल-अलौकिकता—ललित—निकेतन हैं
केतन हैं लौकिक-ललामता महल के।
"हरिऔध" विभु की विभूतिते विभूति-मान
वैभव हैं मूल-भूत साधन-सकल के।
दिवि के दुलारे लोक-प्यारे तेज-पुंज-वारे
सुथरे-सँवारे सारे-तारे नभतल के ॥१०॥

कोटि कोटि कोस को है अन्तर सितारन मैं
लाख लाख कोस मांहिं काया निवसी अहै।
अवलोके गये नांहिं अजहूँ कई-करोर
मति अजौं कोटिन की थिति मैं फँसी अहै।
'हरिऔध' गिने नाना-तारन-कतारन के
अरब खरब की विवृति बिनसी अहै।
तारे हैं अनन्त या अनन्त-नभ-मण्डल मैं
एक एक तारे मैं अनन्तता बसी अहै ॥११॥

कोटि-कोटि-तारे भिन्न भिन्न रंग-रूप-वारे
विपुल बगारे जोति बगरे अरे अहैं।
कोटि कोटि छुन छुन छीजत बनत जात
जगत-जवाहिर से कोटिन जरे अहैं।

'हरिऔध' कोटि कोटि दिवि दिवि-पति देव
कोटि कोटि धाता पाता अंक मैं परे अहैं।
सारे-विभा-वारे के समूह को सहारे दै दै
भारे-भारे-भूरि-भानु नभ मैं भरे अहैं ॥१२॥

किधौं हैं अनन्त मैं अनन्त-वायु-यान उड़े
प्रकृति-वधू के किधौं लोचन के तारे हैं।
नन्दन-विपिन तरु के हैं किधौं दिव्य-फल
किधौं कल्प-पादप प्रसून-पुंज प्यारे हैं।
'हरिऔध' किधौं हैं विमान दिवि-देवन के
उड़हिं पतंग कै पतंगम ए सारे हैं।
रतन पसारे हैं कि पारे के सँवारे-पिंड
अनल-अँगारे किधौं न्यारे-नभ-तारे हैं ॥१३॥

सागर, सरित, सर, वन, उपवन, मेरु,
धन, जन, विपुल वहन कै अभै से हैं।
पल पल भ्रमत रहहिं बिकसहिं भूरि
दिव्यता-निकेतन बतावैं किमि कैसे हैं।
'हरिऔध' लाख लाख कोस को कलेवर है
तारक-विमान मंजु आप आप-जैसे हैं।
बड़े-बेग-वान छवि-मान तेज के निधान
आन नभयान, ना जहान माँहिं ऐसे हैं ॥१४॥

किधौं नील-अम्बर मैं सलमा, सितारे टँके
किधौं नभ-अंक मैं अनन्त जोति जाल हैं।
श्यामल चँदोवे के किधौं हैं चमकीले-बिन्दु
किधौं मान-सर मैं कलोलत मराल हैं।

'हरिऔध' किधौं ताल माँहि हैं कमल फूले
किधौं तम-तोम माँहिं बरत मसाल हैं।
तारक कै निशि-कंठ-माल के मुकुत-मंजु
खेलत कै दिवि मैं दुलारे देव-बाल हैं ॥१५॥

हीरक लुभात हेरि सेतता सितारन की
वारति ललाई लाल-तारन पै गुंजता।
तारक-अवलि अवलोकि मोहि मोहि जाति
नन्दन-विपिन-कुसुमों की कल-कुंजता।
'हरिऔध' मंजुता कथन मैं कला-कर की
मानव चकित होत हेरि मति-लुंजता।
छहरि छहरि छके-नैनन को छोरे लेति
तारों-भरी-राति की अछूती-छबि-पुंजता ॥१६॥

कतहूँ प्रकृति की अछूती-छटा छहरति
कहूँ देव-बाला मंजु-मंडली हँसति है।
कतहूँ दिखाति है कतार-तारकावलि की
कहूं जगी-जोति सुधा-धारा मैं धँसति है।
'हरिऔध' ताकी अलौकिकता बतावै कौन
जामैं सारी-कान्ति कान्ति-कान्तकी बसति है।
बहु-रवि-ससि ते ललित ओक ओक अहै
नभ मैं ललामता त्रिलोक की लसति है ॥१७॥

विचित्र चित्र

कबित्त—

दिवि है अदिवि उत देव हूँ अदेव अहैं
वाकी न्यारी-जोति अहै जगत जहां नहीं।

वाको तेज जित को हरत तम-तोम नांहिं
तेज वितरत है तरनि हूँ तहां नहीं।
'हरिऔध' जहां पै न रस सरसत वाको
सरस मिलत सरि सरहूं वहां नहीं।
तीनों लोक मांहिं रंग रंग की कलायें करि
मनकी तरंग है तरंगित कहां नहीं ॥१८॥

मरो जन हेरत न भुवन-विभूति कांहिं
जोहत न भानु जोति भव मैं पसारे है।
सूंघत न सुनत न गहत कहत कछु
काठ-सम रहत विचारन ते न्यारे है॥
'हरिऔध' नांहिं अनुभवत परस-पौन
सारी-अनुभूतिन ते रहत किनारे है।
जीवन-विहीन-जनको न जग-भान होत
जगत की सत्ता जीव-जीवन सहारे है ॥१९॥

कहूं तरु हिलत लसति तृण-राजि कहूं
कुसुम खिलत कहूं बेलि उलहति है।
नाचत मयूर कहूँ गान है करत भृंग
कलित कथान कहूँ शारिका कहति है॥
'हरिऔध' कतहूँ कलोलत हैं मृग-यूथ
प्रकृति-वधूटी कहूँ नटति रहति है।
कहूँ रंग रंग के कमल सों लसे हैं सर
कतहूँ तरंग-वती सरिता बहति है ॥२०॥

कहूँ रस-धारा कहूँ बहति रुधिर-धारा
कोऊ कुम्हिलात कोऊ कंजलौं खिलत है।

कहूं है मसान कहूं सरग बिराज मान
कोऊ बिहँसत कोऊ बेत लौं हिलत है॥
'हरिऔध' विधि-करतूति बहु-रंगिनी है
कहूं राग-रंग कहूं हियरो छिलत है।
कतहूँ अराजक, है राजत स्वराज कहूं
कोऊ राज लेत कोऊ रज मैं मिलत है॥२२॥

आगि लगि जाति है जवासन के तन मांहिं
बिद्हत अरक-द्लन अवलोके हैं।
पी पी कहि बारि पी न सकत पपीहरा है
पविके प्रहार हूं रुकत नांहिं रोके हैं॥
'हरिऔध' पावस मैं निसि-तम-तोम मांहिं
बरत प्रदीप पादपन पै बिलोके हैं।
बारिद बहावत सुधा है वसुधातल पै
बरसत मोती मंजु-मारुत के झोके हैं॥२२॥

हंस को गयंद औ गयंद हंस होत हेरे
रंभा के सु-खंभ बारिजों पै गये रोके हैं।
चंपक की कलित-कलीन मांहिं तारे मिले
भुजग कलभ-कर मांहि अवलोके हैं।
'हरिऔध' मंजुलजपा-दल बनत लाल
गहब गुलाबन पै मोती गये लोके हैं।
कंजन मैं ललित-लुकंजन लसत देखे
विधु मैं चपल-युग-खंजन बिलोके हैं॥२३॥

अनुकूल रहि प्रतिकूलता करहिं नित
बचन-रसाल कहि खींचि लेत खाल हैं।

'छल' ना करहिं पै करेजो छीलि छीलि देहिं
राखत कपाल बीनि लेत बाल बाल हैं ॥
'हरिऔध' का हैं ए स्वराज-तरु-आल बाल
सुमन की माल कै भुजंग-बिकराल हैं।
जाति-हित-ढाल किधौं हितू-कंठ-करवाल
हिन्दू-कुल-लाल किधौं हिन्दू-कुल-काल हैं ॥२४॥

मन्दिर बिलोकि कै पुरन्दर सिहाने रहैं
पास सदा इन्दिरा को आसन परो रहै।
सारे-लोक पिसैं पावै कन ना पिपीलिका हूं
पै प्रभूत-धन धरा-धिप लौं धरो रहै।
'हरिऔध' चाहत हैं भोरे-भाग वारे थहै
छूवै ना छदाम द्वारे धनद खरो रहै।
भावते अभाव हरि भोला-नाथ भूले रहैं
भवन सदैव भूरि-वैभव-भरो रहै ॥२५॥

दोहा—

है लौकिकता-रहित हरि परम अलौकिक-चीज ।
है बारिद-भव-सालि को जगत-विटप को बीज ॥ १ ॥
चित-अलि कत भरमत रहत कहाँ नहीं है बास ।
बिकसित-कुसुमन मैं अहै ताको सरस-विकास ॥ २ ॥
कहां नहीं निवसत अहै सकल-लोक-अभिराम ।
लखन जोग लोयन लखत वाको रूप-ललाम ॥ ३ ॥
आलोकित वाको करै मिल्यो न वह आलोक ।
लोक छोरि परलोक को कत अवलोकत लोक ॥ ४ ॥
तीनों लोकन मैं फिरे देखे तीनों काल ।
कहि पायो परलोक को को अवलोकित-हाल ॥ ५ ॥

हित चाहै पर अहित करि दै दै पूजा भूरि।
हरि आंखिन हूं मैं अधम झोंकन चाहत धूरि ॥ ६ ॥

का जग है काहैं भयो कहा हेतु का काम।
कौन बतैहै कौन है या मन्दिर को राम ॥ ७ ॥

बाँधन हित भव-उदधि मैं सत-रज-तमको सेतु।
है त्रि-देव की कल्पना एक-देव के हेतु ॥ ८ ॥

प्रेम-पिपासा है बढ़ी चित प्रति-दिन पवि होत।
पारावार तरन चहत रचि पाहन को पोत ॥ ९ ॥

कैसे अनुरागी बनै है न राग-मय अंग।
'लाल' न, कारो चित भयो लहे लाल को रंग ॥१०॥

हास्य

स्थायी भाव—हास

देवता—प्रमथ अर्थात शिवगण

वर्ण—श्वेत

आलम्बन—विकृत आकार, विचित्र वेशभूषा, और अनुपयुक्त वचन आदि के आधार।

उद्दीपन—विचित्र स्वरूप, अव्यवस्थित वेशभूषा व आकार प्रकार, टेढ़े मेढ़े बचन, और हृदय में गुदगुदी उत्पन्न करनेवाले अंग भंगी और भाव आदि।

अनुभाव—नेत्रों का मुकुलित और वदन का विकसित होना, मध्य अथवा ऊंचे स्वर से हंसना, खिलखिलाना आदि।

संचारीभाव—निद्रा, आलस्य, हर्ष, चपलता आदि।

विशेष

किसी किसीने स्थायीभाव हास का छ भेद माना है, यह युक्ति-संगत नहीं। सभी स्थायीभाव वासनारूप हैं, अतएव अन्तःकरण में उन का स्थान है, शरीर में नहीं। स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अप-हसित और अतिहसित के नाम और लक्षण बतलाते हैं, कि उनका निवासस्थान देह है, अतएव ये हसन क्रिया के ही भेद हैं।

उदाहरण

कान्त कल्पना

कबित्त—

कारे कारे अहिते कपाल परि-पूरित है
अलि की अवलि आली अलक-लुरीको है।
बरछी बिसारे-बान-बलित बिलोचन हैं
अधरहिं लाली मिली बिम्बता बुरीकी है।
'हरिऔध' गात मैं बसत करि केहरि हैं
कुरुचि ते चूर भई चारुता चुरीकी है।
कैसी कमनीय-कामिनी की कमनीयता है
कल्पना मधुर कैसी रूप-माधुरीकी है ॥ १ ॥

सवैया—

साँप से केस भवें करवार सी हैं अँखियां सफरीनसी नाची।
सीप से कान, है नासिका कीर सी, बिम्बता है अधरान मैं राची।
कंबु सों कंठ उरोज हैं मेरु से लंक मृनाल के तंतु सी बाँची ॥
चारुता है कै अचारुता है यह चंद-मुखी किधौं कोऊ पिसाची ५

परिहास परायणा

कबित्त—

कामुक-कुजन जो कुजनता के काज कै है
सहज-मना तो क्यों सहज-साज सजि है।
कुरुचि-निकेतन जो बोइहै कुरुचि-बीज
सुरुचि-वती तो क्यों सुरुचिता न तजिहै।
'हरिऔध' कोऊ असरलता निबाहिहै तो
सरला-परम क्यों सरलता को भजि है।

निपट-निलज जो निलजता दिखाइहैं तो
नारी-लाज-वारी कौलौं लाज कै कै लजि है ॥३॥

सवैया——

सामने होति नहीं अँखिया मुँह-फेरि सुनावत वैन-रसीले।
आनन जोहत बासर बीतत मोहि रिझावत खोजि वसीले ॥
ए 'हरिऔध' मरोरत भौंह नचावत नैनन को करि हीले।
कोऊ लजीली लजैहै कहां लगि आपही जो हैं लजात लजीले॥४॥

घुड़की धमकी

कवित्त——

आंखि दिखराइहैं तो दुगुनो दिखैहौं आंखि
पर-चित-चोरन की कसर निकारिहौं।
रार जो मचैहैं तो तिगूनी-तकरार ह्वैहै
पीछे परे बार बार पकरि पछारिहौं॥
'हरिऔध' मान किये वनिहौं गुमानिनी हौं
कैसे भला नारी ह्वै अनारिन ते हारिहौं।
गारिहौं गरब-सारो गोरे-गात-वारन को
मरद-निगोरन की गरमी निवारि हौं ॥ ५ ॥

मंद-मंद-हँसि मंजु-बैनन सुनैहैं नाँहिं
चित हूँ न चंचल-चितौननते चोरिहैं।
लोल-लोल-लोयन ते मानस लुभैहैं नाँहिं
भौंह हूं न भाव-साथ कबहूँ मरोरिहैं।
'हरिऔध' नर हैं नकारे तो नकारे रहैं
नारि हूँ नरन ते तमाम नातो तोरिहैं।
अब चाव-साथ बैठि रुचिर-अगारन मैं
गोरे-गात-वारन को गोरीना अगोरिहैं ॥ ६ ॥

आदर न पैहैं तबौं बार जो बितैहैं खरे
तबौं ना लुभैहैं जो मनो-भवलौं लसिहैं ।
सहज-सनेह के न भाजन बनैंगे तबौं
मंद मंद मोहक-मयंक लौं जो हँसिहैं ।
'हरिऔध' अकस तजत ना अकस-वारो
कसे काँहिं कबलौं कसौटिन पै कसिहैं ।
कबौं काहू कामिनी नयन मैं बसे तो बसे
नर अब नारि के नयन मैं न बसिहैं ॥ ७ ॥

सरस-बदन-वारी विरस-बदन ह्वैहै
गुनन-गहन-वारी औगुन को गहिहै ।
उपहास कै है मंद-मंद-बिहँसन-वारी
नेह-गेह-वारी-नेह-गेहता न लहिहै ।
'हरिऔध' पति-परतीति मैं न प्रीति रहे
राग-मयी महि में बिराग-धारा बहिहै ।
पिक-बैनी पिक-बैनताते पुलकैहै नांहिं
मृग-नैनी-मृग-नैनताते रूसि रहिहै ॥ ८ ॥

मोहक-मधुर-प्रेम मलय-समीर लगे
कामना की बेलि नाँहिं मंद मंद हिलिहै ।
नन्दन-विपिन-सम-मानस-मनोरम मैं
मंजु-भाव-पारिजात-कुसुम न खिलिहै ।
'हरिऔध' कान्तको अकान्त अवलोकि है तो
मृदुल-करेजो कुल-कामिनी को छिलिहै ।
कोमलता कमल-बदन की न काम ऐहै
कनक-लता मैं कमनीयता न मिलिहै ॥ ९ ॥

सबला अबला

कबित्त--

सास औ ससुर मैं न नेह जो भयो तो कहा
दृग मैं सनेह-मयी जब महि-सारी है।
माता और पिता के मनाये और माने कहा
मानवी को जब मंजु-मानवता प्यारी है।
'हरिऔध' मानै क्यों समाज-नीति मान वारी
वाने जब समता की ममता पसारी है।
पूजि पूजि पद प्रेम-रंग-रँगे- प्रेमिन को
बिनापति पूजे पूजनीय होत नारी है ॥१०॥

कै हौं सावधान ह्वै स्वतंत्रता-सुरा को पान
कौ लौं परतंत्रता कसैलो-रस चखिहौं।
हरिहौं गुमान मगरूरी-अबिचारिन को
परम-अनारिन कौं नारी हूँ परखिहौं।
देखि 'हरिऔध' बंक-भौंह ना सकैहौं नेक
मुख ना कलंक-अंक-अंकित के लखिहौं।
बे-परद ह्वैहौं ना निवारि सारे-परदान
चादर उतारि लाज-चादर मैं रखिहौं ॥११॥

जुलुमी-नरन के दुसह-जुलुमन काँहिं
आजुलौं सह्यो तो सह्यो अब नाँहिं सहिहै।
देखिहै न आंख कबौं फूटी-आंखि-वारन को
या हू को न सोच है कि कोऊ कहा कहिहै।
'हरिऔध' ढाहि ढाहि भीतन अभीत ह्वैहै
टूक टूक करि परदान को उमहिहै।

नाचि है उघरि जो उघारन न मुख पैहै
बन्द कौ लौं घरनी घरन माँहिं रहिहै ॥१२॥

सवैया—

प्रीति न कै है कबौं परदान ते नीति-पुरातन ना प्रतिपालिहै।
लाख करौ कोऊ पै कुल-लाज को लोयन-कोयन माँहिं न लालिहै।
जो कहि है 'हरिऔध' कबौं कछु सूललौं तो तेहि के उरसालिहै।
घूंघट घालि लै घूंघट-लोलुप घूंघट-वारी न घूंघट घालिहै ॥१३॥

पुष्प वर्षा

कवित्त—

लम्बी-लम्बी-बतियां सुनी हैं लालसायें भरी
सुफल न लाये नेह-बीज देखे बोके हैं।
चूर चूर किये केते अरुचिर-चावन को
चूके बिना चित के चपल-भाव रोके हैं।
'हरिऔध' बाला है अचल लौं अचल ताहि
नाहिं बिचलाते चाल-मारुत के झोंके हैं।
बार बार लाली अवलोकी है कपोलन की
लालन के लाल-लाल-लोयन बिलोके हैं ॥१४॥

अखिल-छबीले हैं छबीली-छबि-अनुरागी
रस-मयी रसिका के रसिक बसेरे हैं।
मधु-मयी मधु की मधुरता पै मोहित है
मधु-लोभी करते मधुप-सम फेरे हैं।

'हरिऔध' कैसे नारि-समता करैगो नर
रूपसी में रत रूप-वारे-बहुतेरे हैं।
लाल सब लोच-वारे-लोचन के लालची हैं
कामुक-सकल काम-कामिनी के चेरे हैं ॥१५॥

छबि के निकेतन हैं छबि के सहारे बने
तन में नवलता लसावति नवेली है ।
मोहकता मिली जोहि जोहि मोहनी को मुख
गौरव गहाइ देत गरब-गहेली है ।
'हरिऔध' नरता की नारिता सजीवन है
नारि के सनेह ही ते साहिबी सहेली है।
अलबेले याहिते रहत अलबेले बने
अलबेलेपन में बसति अलबेली है ॥१६॥

भामिनी के ओप-वारे भाल के विमल-भाव
तम-वारे-मानस के मंजुल-अँजोर हैं।
घन-रुचि-रुचिर चिकुर-वारी-कामिनी के
कामुक-निकर-कमनीय-तन-मोर हैं ।
'हरिऔध' सकल-सरस-चित चाव-साथ
सरसा के कलित-रसों में सराबोर हैं।
चखन की कोर चितचोर की है चितचोर
चंद-मुख-वारे चंद-मुखी के चकोर हैं ॥१७॥

सवैया—

बंदी ललाम न कै है लिलार को जो न बनी रहि है मुख-लाली ।
जो है बिलासिता की जननी तो न कानन माँहिं बिराजि है बाली ।
बाजि है ना पग-नूपुर हूं यदि मानवता बनि है मतवाली ।
दूखित ह्वै है विभूखन ते तो विभूखित ह्वै है न भूखन-वाली ॥१८॥

अधजल गगरी

कबित्त—

बालपन ही ते जो न बानरता बादि देति
लोग क्यों न तारी दै दै बानरतो कहते।
दूर जो न करति बिपुल पसुकोसी बानि
कैसे तो न पसुता-तरंगहीं मैं बहते।
'हरिऔध' गहते न गैल मनुजातन की
बहँके गरूर वारे गौरव न लहते।
नारीको परखि कौन हरति अनारी-पन
नारी जो न होति तो अनारी नर रहते॥१६॥

सच्चे जाति हितैषी

सवैया—

हैं जनता को जगावत जागि कै पै नहीं जागि सकी-मति-सूती।
हैं अवनीतल के उपकारक छांह नहीं कुल-प्रीति है छूती।
जाति रसातल जाति चली पै कहावत हैं जगमैं करतूती।
सारत काज सपूत समान हैं काहै सपूत की और सपूती? ॥२०॥

'वा' नरता को करेजो निकारिहौं नारिता की जर जो खनती है।
'वा, विधि के उरहूं को बिदारि हौं जो विधि-वामता मैं सनती है।
ए 'हरिऔध' कबौं नहिं मानिहौं 'छूटी न' गाढ़ी अजौं छनती है।
तो सधवा करिहौं विधवान को जो सधवा, विधवा बनती है॥२१॥

नेता

सवैया—

जाति मैं बोअत आगि रहैं कुल मैं हैं विरोध की आग जगावत।
आग लगाइ कै दूर खरे रहि ब्योंत बुझावन के हैं बतावत।
हैं हरिऔध बने अगुआ पर आगही के उगिले सुख पावत।
हैं सुलगावत देस मैं आग तऊ मुँह में नहीं आग लगावत ॥२२॥

नाम से काम बड़ी बड़ी बात बड़े-कपटीतऊ उन्नत-चेता।
चौंकत पातन के खरके पग फूंकि धरैं पै बनैं जग-जेता।
हैं धँसेजात धरातल मांहिं कहावत लोक में ऊरध-रेता।
जोरत प्रीति अनीति न छोरत नीति न जानत नाम है नेता ॥२३॥

सच्चे बीर

कबित्त—

अपनी-अधम-रुचि रुचि-कर-बेलि काँहि
बालिका-रुधिर-धारहीसों सदा सींचिहौं।
तनिक न ह्वैहौं दुखी तिय-तन-तापन ते
देखि महा-पापन को नयन, न मीचिहौं।
नाम मेरो सुने नाक नरक सिकोरि है तो
यमराज-दंड सौंहैं बनिहौं दधीचि हौं।
खोलि है जो मुँह तो तुरन्त ऐंचिलैहौं जीह
बोलि है जो बाल-विधवा तो खाल खींचिहौं॥२४॥

सवैया—

हैं मिटे जात पै आंखि न खोलत हैं बहेजात पै देत हैं खेवा।
हैं सग को कबा बात न पूछत हैं ठग काँहिं खिआवत मेवा।

है सनमान बिसासिन-नारि को हैं चलीजात रसातल बेवा।
देस को सेवक दूसरा कौन है दूसरो कौन है देस की सेवा ॥२५॥

ऊंचीन कैसे रखैं अँखियां बने ऊंच हैं नीचन कांहिं चपेटे।
औरन को किमि मान करैं जब मान मिल्यो मरजाद के मेटे।
माहुर हैं पै बने मधु-मान हैं, हैं फनसांप के फूल लपेटे।
कैसे न दूर बड़प्पन सों रहैं, हैं बड़े औ बड़े बाप के बेटे ॥२८॥

सच्चे सपूत

सवैया—

पूत हौं, काहुको दास नहीं अपनो पद कैसे नहीं पहिचानि हौं।
एक पढ़ो लिखो, मूढ़ है दूसरो, कैसे समान दुहूंन को जानि हौं।
जो 'हरिऔध' भई मन की नहीं कैसे भलातो नहीं हठ ठानिहौं।
बाप के मानन की कहाबात मैं बाप के बाप हूँ को नहिं मानिहौं॥२७॥

कोऊ नवीन नवीनता को तजि कैसे पुरातन-पंथ गहैगो।
याको करै परवाह कहालगि बाप जो वाहि कपूत कहैगो।
ए 'हरिऔध' सपूत कहा करै कैसे भला अपमान सहैगो।
बात के माने नहीं मन मानि है बाप के माने न मान रहैगो ॥२८॥

का करै पूत बड़ो सुखिया जननी जो रहै दुखिया बनि भूखी।
वाको भला कबौं कैसे मिले कछु दैव बनाइ दियो जेहि रूखी।
बाप के भागही को यह भोग है जो नहीं पावत रोटीयौ रूखी।
जो मुख सूखो न देख्यो गयो कबौं सो मुख बात कहै यदि सूखो॥२६॥

साहब बहादुर

कवित्त—

सूट की सनक क्यों न सिर पै सवार होय
क्यों न कोट पतलून प्रीति होवै महती।

नकटाई कालर गले न परिजाय कैसे
टोप बूट-चाट क्यों रहै न रुचि सहती।
'हरिऔध' क्यों न बुरो मानै जात पांत वारे
क्यों न होवै जनता अनेक बात कहती।
साहब हमारे कैसे साहब बनहिं नांहि
साहब बने ही जो पै साहिबी है रहती ॥३०॥

बाप को न मानैं सनमानैं जननी को नाँहिं
मेम कुल-बाला को बखाने उमहत हैं।
निज-बेस तजि पर-बेस पै बिकाने रहैं
बोली हूँ बिरानी बोलि बोलि निबहत हैं।
'हरिऔध' कौनसी सपूती दिखरैहैं और
साहब-हमारे साहिबी ही मैं रहत हैं।
पोटी दूहि दूहि कै पुनीत-परिपाटिन की
चोटी काटि काटि बात चोटी की कहत हैं ॥३१॥

सवैया--

सूट की चाट के चेरे रहे कबहूँ उतरी नहीं बूट की बूटी।
संपति बानक-बन्दिनीसी रही हैट के हाथ गई पति लूटी।
ए 'हरिऔध' बँधी-मरजादहूँ कोट के बंधन मैं परि टूटी।
कालर काल भई कुल-मान की नाक कटी नकटाई न छूटी ॥३२॥

कच्चा चिट्ठा

सवैया--

काम ते क्यों न करैं मनमानते जे मन के गये दास गिने हैं।
कैसे नहीं तब ताने सहैं जब बानैं बुरी रहती दहिने हैं।
ए 'हरिऔध' है मूंछ बनी अथवा मुख के छवि-वारे छिने हैं।
या बिगरैल बिलासिनि हाथ सों बालम-मूंछ के बाल बिने हैं ॥३३॥

चाहत के रसचाखन चाहहिं भूत के पूत चुरैल के चेले।
बानरहै पञ्चानन चाहत पारस से मणि को मुख-मेले।
का 'हरिऔध' कहै गति काल की केले समान कहांहि करेले।
छैल छिछोरे, छछूंदर, हैं बने बैल कहावत हैं अलबेले ॥३४॥

वज्र प्रहार

कवित्त—

पाइ के बिजाति-पग-लेहन सरग-सुख
कैसे जाति-हित के नरक मांहि परि है।
करि कै कुटिल-नीति-सरस-सुधा को पान
कैसे ना सुनीति की सुरा को परिहरि है।
'हरिऔध' तोरत जो गगन-तरैया अहै
कैसे दृग-तारन मैं जोति तोवितरि है।
कुलको-कलंक अकलंकता को बानो अहै
हिन्दू-कुल विपुल-कलंक कैसे हरिहै ॥३५॥

कैसे तो कपूत ह्वै सपूत-सिर-मौर ह्वैहै
भारतीयता के झूठे 'भाव, न दिखैहै जो।
देस प्रेम-पथ को पथिक क्यों कहैहै कूर
आपने समाज मैं न पावक लगैहै जो।
'हरिऔध' क्यों कुल-कलंक पै है नेतापद
काढ़ि कै करेजो जाति को न कलपैहै जो।
आपहूँ पिसाई मांहि परिकै पिसैगो खल
पिसे-जात-हिन्दुन को औरो पीसि दैहै जो ॥३६॥

जा कुल के अहैं कैसे वा कुल के काल ह्वै
गाज बनि आकुल-समाजपै क्यों परि हैं।

कैसे भारतीयता बहाने भार-भूत रहि
जाति-भव-विदित-विभूति काँहिं हरिहैं।
'हरिऔध' नेता कहवाइ क्यों अनीति कै हैं
रुधिर-पिपासित-उदर कैसे भरिहैं।
पास कै प्रपंचिन को पाइहैं पिसाई कैसे
हिन्दुनको पीसि कै पिसान जो न करिहैं ॥३७॥

वचन बाण

कवित्त—

वे हैं मूढ़ जो न रूप-चन्द छवि देखि मोहैं
नरक-अँधेरी काको कहां पै लखाति है।
जहां वाको परम-मधुर-भनकार होति
काको तहां कथा पाप-पुन्न की सुनाति है।
'हरिऔध' लोभ की लहर लहराति जहां
तहां जाति-पांति, पांति बाहर जनाति है।
पेट वारे कैसे तब पेट की न मानैं कही
बेंचि बेंचि बेटी जब पेटी परिजाति है ॥३८॥

चावन की चारुता में चारुता रहति नांहिं
भावन ते भावुकता करति किनारो है।
विविध-विलास की विलासिता विलीन होति
रस-हीन बनत सकल-रस प्यारो है।
'हरिऔध' विना धन रूप है विरूप होत
सुन्दर सनेह हूँ ना लहत सहारो है।
कैसे भरो पूरो छैल चाहहिं छबीली नाँहिं
कहूं नाहिं पूछो जात छूछो हाथवारो है ॥३९॥

मुँह-कौर छीनि छीनि भूखे नर-नारिन कौ
कैसे भरे पेटन को बारबार भरते।
कैसे देस-प्रेमिन के नैनन के सूल होते
कैसे जाति-प्रेमिन के चितते उतरते॥
'हरिऔध' कैसे दास बनते बिलासिताके
कैसे धनधनिक-बसुंधरा को हरते।
चितको बिदेसी-भाव कैसे तो बिदित होत
जो न हम देसी व्है बिदेसी-पटधरते ॥४०॥

सवैया——

तो कहा सीढ़िन पै चढ़िके कियो चावके साथ जो ऊंचे चढ़ेना।
तो कहा दूरभई मन-मूढ़ता मानवता ते गये जो मढ़े ना॥
तो कहा कोऊ कियो गढ़िकै 'हरिऔध' गये यदि ठीक गढ़े ना।
तो कहा आगे बढ़े जो बढ़े नहीं तो कहापूत-पढ़े जो कढ़ेना ४१

सीस पै माँगबनी अवलोकिकै पौरुख पानिप खोइ परायो।
बालबने अरु मूंछ मुँड़ी लखि बीरको बानो महा-बिलखायो॥
साहस कैसे बिचारो करै नर मैं न रह्यो नरको सरमायो।
जाति-सपूतन सूरपनो-सब आंखिन मैं सुरमा व्है समायो॥४२॥

निराले लाल

दोहा——

वे जनमें हैं आपही अथवा मिले भभूत।
कैसे मानैं बाप को हैं न बाप के पूत॥ १॥

क्यों न भला चोटैं सहैं हैं माई के लाल।
कैसे मुँह-लाली रहै बिना भये मुँह लाल॥ २॥

नामी नेता

दोहा—

रही नीति की सुधि नहीं भूली नीयत बात।
कैसे करें अनीति नहिं नेतापन है जात ॥ ३ ॥
निकसै मुँह ते बात किमि जाति गई जब चेति।
बात रखन की लालसा बात बनन नहिं देति ॥ ४ ॥
जा नेताकी मति हरत नेतापन अनुराग।
सो न परत जो नरक मैं तो है नरक अभाग ॥ ५ ॥

दिल के फफोले

दोहा—

कैसे तिनकी लालसा लहू-भरी नहिं होय।
जिनकी मुँह-लाली रही कुल ललना को खोय ॥ [illegible] ॥
ते किमि रखिहँहिं जाति-पति कितनाहूँ लें कांखि।
आंखिन के तारे छिने जिनकी गई न आंखि ॥ ७ ॥
बेगानोपन लहि बने जो बेगाने माल।
कैसे हिन्दू-हित करें वे हिन्दू-कुल-बाल ॥ ८ ॥
वे क्यों देखैं जाति-दुख देखि देखि दिन रैन।
द्वै द्वै अँखियन के अछूत जिनकी अँखियां हैं न ॥ ९ ॥
इतनो हूं समझत नहीं तऊ बनत हैं पूत।
जाको कहत अछूत हैं वामें कैसी छूत ॥१०॥

माननीय महंत

दोहा—

कैसे बनें महंत नहिं महिमें महिमा-वान।
सकल दान चेली करति रखति रखेली मान ॥११॥

मानत बात न काहु की सुख के साज अनंत ।
जाय महंती या रहै मन की करत महंत ॥१२॥
बार-बिलासिनि सों बिलसि करि कमला सों हेत ।
चाहत सरग महंत नहिं यहीं सरग सुख लेत ॥१३॥

सच्चे साधु

दोहा—

जो साधुन को भेस धरि करत असाधुन काम ।
ताको जो मिलिहैं न तो काको मिलि हैं राम ॥१४॥
जो योगी संयोग लहि तजिहै योग प्रसंग ।
तो गुरुता दिखराइहै कैसे गेरुओ रंग ॥१५॥
वे कैसे नहिं भूलिहैं ताड़ विलोकि अपान ।
जिनकी ताड़ी लगति है करि ताड़ी को पान ॥१६॥
पावन जो करतो नहीं वाको संत-सुजान ।
सुरा-मान होतो न तो सुरसरि-सलिल-समान ॥१७॥
कैसे काहू संत को तो सिर जातो घूम ।
धूम-पान की नहिं मचति जो धरती मैं धूम ॥१८॥
जोनव-जीवन-दायिनी गांजा-चिलम न होति ।
कैसे साधु-जमात में जगति ज्ञान की जोति ॥१९॥
जो न भोग को भूलतो योगी पीपी भंग ।
कैसे होतो भाव-मय भव-भयावनो-रंग ॥२०॥

भंग तरंग

दोहा—

मतवाली कैसे नहीं वाकी कला लखाय ।
जा कवि-मुँह-लाली रहति मदकी लाली पाय ॥ २१ ॥

तो क्यों जय लहिहै नहीं कहि जयजय कवि कोय।
जो कवितापै विजयिनी विजया-देवी होय ॥२२॥
छनहूं छूटत है नहीं कूंड़ी सोंटा संग।
कवितासों गाढ़ी-छनति गाढ़ी-छाने भंग ॥२३॥
वा कवि में ही मिलति है कवि की सहज-उमंग।
जाकी कविता रंग में बिलसति भंग-तरंग ॥२४॥
धूरि मांहिं सुधबुध मिलै प्रतिभा होय अपंग।
सुधा-मयी कविता करत कवि-जन छाने भंग ॥२५॥
कवि-पुंगव कलि काल में कूरहुँ को करि लेति।
कौन जड़ी-बूटी नहीं बूटी जन को देति ॥२६॥
देवी होति चुरैल है देव-दूत यम-दूत।
भंग-भवानी सों मिले नाना-भाव-भभूत ॥२७॥

व्यंग बाण

दोहा—

जन को लूटत रहहिं लै दुगुनो-तिगुनो-ब्याज।
अहैं महाजन करत हैं महाजनी के काज ॥२८॥
सोना तांबा को करहिं तांबा सोना कांहिं।
साहु कहावहिं पै सदा मूसि मूसि धन खाँहिं ॥२९॥
साहु साहु कहि होत है सब-दिन साहु बखान।
कतर ब्योंत करि चोरहूँ के हैं कतरत कान ॥३०॥
चाहत सरग-विमान हैं दै दमरी को दान।
बनियन की छूटत नहिं बनियापन की बान ॥३१॥
कौड़ी खात हराम की लेत राम को नाम।
कौन दूसरो पाइहै स्वर्ग-लोक-अभिराम ॥३२॥

बीररस

स्थायीभाव—उत्साह

देवता—महेन्द्र

वर्ण—कनक-कान्ति-निभ-गौर ।

आलम्बनविभाव—रिपु अथवा रिपु का विभव एवं ऐश्वर्य्य आदि ।

उद्दीपनविभाव—रिपुचेष्टा, उसकी ललकार, मारू-वाद्य, रण-कोलाहल, कड़खा गान आदि ।

अनुभाव—अङ्ग स्फुरण, नेत्रों की अरुणिमा, युद्धके सहायक-उपादान-धनुष-आदि की खोज, सैन्यसंग्रह, आदि ।

संचारीभाव—गर्व, असूया, उग्रता, धैर्य्य, मति, स्मृति. तर्क आदि ।

विशेष

किसी किसीने इन्द्र को इस रस का देवता माना है । बीररस के प्रायः चार भेद माने गये हैं ।

१ धर्म्म बीर २ युद्ध बीर ३ दानबीर ४ दया बीर मेरा विचार है कि पांचवां कर्म्मबीर भी माना जाना चाहिये ।

धर्म्म वीर

वेद शास्त्र के वचनों और सिद्धान्तों पर अचल-श्रद्धा और विश्वास, आलम्बन, उनके उपदेशों और शिक्षाओं का श्रवण मनन आदि उद्दीपन विभाव, तदनुकूल आचरण और व्यवहार अनुभाव, एवं धृति क्षमा आदि धर्म्म के दश लक्षण संचारी भाव हैं । धर्म्म वीर में धर्म-धारण और धर्म सम्पादन के उत्साह की पुष्टि है ।

उदाहरण

कबित्त—

समय-सरसता निहारि सरसत जात
कूल-अनुकूलता विलोकि उमहत है।
बार बार भरि भरि अमित-उमंग माहिं
तरल-तरंगिनी-तरंग मैं बहत है॥
'हरिऔध' लोक-पति-लीला पै लुभानो मन
ललकि ललकि भाव-लीनता लहत है।
बोलत रहत है सलिल-कल-कल माँहिं
कला-मयी-केलि मैं कलोलत रहत है॥ १॥

दरति रहति है दुरित के दुरन्त-भाव
हरति रहति है मलिन-मन-मलीनता।
करति रहति है अपार-उपकारन को
नासति रहति अपकारन की पीनता॥
'हरिऔध' मोचति विलोचन-विपुल मल
सोचति सदैव सदाचार-समीचीनता।
जनम सुधारि सारी-धरनी उधारति है
धरम-धुरंधर की धरम-धुरीनता॥ २॥

पलित-जटा-कलाप कलित-पताका अहै
साध-भरी-साधना के सुन्दर-सदन की।
कानन की मुद्रा योग-मुद्रा की सहेलिका है
माला कर-कंजकी क्रिया है मंजु-मन की॥
'हरिऔध संत-जन-सहज-उपासना की
बोधिनी है पूत-विभा गैरिक-वसन की।

सुचि-अनुभूति की प्रसूति है तिलक-रुचि
भवकी विभूति सी विभूति है बदन की ॥ ३ ॥

आपदा सहित सारी-अपकारिता निवारि
कनक-कनकता को कहत निकाम, ना।
वाकी बामता मैं अभिरामता-अमितभरि
तजत सकामता समेत धन-धाम, ना॥
'हरिऔध' होत अविवेकी ना विवेक वारो
रतिते विरति हूँ मैं गहत बिराम, ना।
सारत है काम सारी-काम-वारी बातनते
राखत नकाम-मयी कामिनी की कामना ॥ ४ ॥

मानस मैं सरिता सनेह की है लहरति
लोचन मैं लोक-प्रेम रस निचुरत है।
कोमल-बयन मैं लसत है सुधा को सोत
चावन को चित-चारुताते चुपरत है।
'हरिऔध' भावुकता-भरित-उदार-नर
भावन मैं भावना-सुहावन भरत है।
लहिभूत-हित को प्रभूत-अनुभूत-पोत
बनि भाव-पूतभव-सागर तरत है॥ ५ ॥

गमन करत मंद मंद है सु-पथ माँहिं
अपुनीत-पंथ को न पग परसत है।
लोक हित-लोलुपता ललित-अयन बनि
रस-वितरन को बयन तरसत है॥
'हरिऔध' संत-जन बरद-करन माँहिं
बसुधा-विमोहिनी विभूति दरसत है।

प्रेम-बर-वारि बार बार बरसत नैन
उर में सुधा को मंजु-स्रोत सरसत है ॥ ६ ॥

लोक होत ललित तिलोक-पति-लाभ होत
ललक अलौकिक-विलोचन लहत है।
रुचि होत रुचिर विचार अति-चारु होत
मानस महान-मोद लहि उमहत है।
'हरिऔध' भीने भव-रंग में विभूति होति
भूत-हित-तरु प्रीति-भू में पलुहत है।
चित चाव भरे होति भावना प्रभाव-मयी
भाव-भरे-उर में 'अभाव, ना रहत है ॥ ७ ॥

जाकी कृति रतन-मयी है रतनाकर सी
जाकी कल-कीरति कलाकरसी सेत है।
लोक-पतिकीसी जाकी लोक-हित-चिन्तनाहै
जाको चित, चेतना लौं रहत सचेत है।
'हरिऔध' सोई है धरा में धर्म-धुर-धारी
जाकी धनु-धारिता न रुधिर उपेत है।
दान-धारा जाकी धाराधर लौं बरसि जाति
जो जन धरा-धरलौं धीरता-निकेत है ॥ ८ ॥

चित के मलिन-भाव अमलिन होत जात
विमल-विलोचन के प्रेम-वारि चूयेते।
उचित-बिचारन के कंधे ना छिलन देत
उपचित बहु-अबिचारन के जूयेते।
'हरिऔध' धरम-धुरं-धर मुदित होत
मोह-मद बिनसे प्रमादिन के मूयेते।

छाये रहे उर मैं अवनि के अछूते-भाव
बनत अपूतना अछूत-जन छूयेते ॥ ६ ॥

छीन को विलोकि छीन, धन छीन लेत नाहिं
बनि कै सचेत न हरत चित-चेत है।
औरन को दुख देखि परम-दुखित होत
हरो भरो करत रहत हित-खेत है।
'हरिऔध' जीवन दै जीवन-बिहीनन को
पूजनीय-जन जगती मैं जस लेत है।
रिस कै मसकि मीसि देत ना मसकहूँ को
दांत पीसि पीसि काहू को न पीसि देत है ॥१०॥

हरत रहत है अहेतुक विकारन को
काहू पै कबौं न कोह करत कहर है।
मद-मान-मत्तता निवारत है वाको मद
प्रेम-पूत काम के फरेरे की फहर है।
'हरिऔध' मोहते न मोहत महान-जन
वाको मोह-रवि पाप-ताप तम-हर है।
लोक-हित-लाभन पै ललकि लुभानो रहै
होति लहू-लोहित न लोभ की लहर है ॥११॥

आंखि फारि देखे आंखि काहू को न फोरि देत
आह भरे भुस खाल माँहिं ना भरत है।
जीह के हिलाये जीह काहू को न खैंचि लेत
मुँह खोले कंठ पै कुठार ना धरत है।
'हरिऔध' धीर-बीर बनत अधीर नाहिं
धाक हित जेंवरी न धूरि मैं बरत है।

एक-टूक-रोटी हित बतिया दो-टूक कहे
काहू को करेजो टूक टूक ना करत है ॥१२॥

कमनीय-रुचि को कलंकित करत नाहिं
कोमलता कोमल उरों की ना हरत है।
बनि बनि कीट ना बसत सुमनन मांहिं
पावक न भोरे-भोरे-भाव में भरत है।
'हरिऔध' लोभ-हीन ललित ललक-वारो
काहू के न अनुकूल-कालते लरत है।
लाल लाल आंखें करि लाल ह्वै न कालहोत
लहू नांहि लोक-लालसान को करत है ॥१३॥

वेद की विभूति ते विभूति-मान बनि बनि
लोक-वंदनीय-वर-बिरद बरत है।
गौरव गहत गाइ गाइ गौरवित-गुन
ज्ञान-रवि पाइ उर-तिमिर हरत है।
'हरिऔध' धर्म-वारो सारो-मन-मानो छोरि
मुनिन-मतन काहिं मनन करत है।
भारत के भूत-हित भरे भाव-पंकज पै
मत्तमन भौंर भूरि भावरें भरत है ॥१४॥

महिमा महंतन की मति को करति मंजु
संतन की संतता असंतता हरति है।
पावनता परसे अपावनता दूर होति
देव-रुचि दुरित-दुरन्तता दरति है।
'हरिऔध' मानवता भावुकता भूति बनि
भावन में लोक-हितकारिता भरति है।

धर्म-धुर-धारी के सुधारे लोक सुधरत
धर्म के उधारे सारी-धरा उधरति है ॥१५॥

क्रूर होत कम्पित मथित मगरूर होत
पामरता दूर होति परम-नकारे की।
धरकति छाती है अधम-अधिकारिन की
दहलति दानवता दानवी-दुलारे की।
'हरिऔध' धरती अनीति-भरी धसकति
सुनिकै धुकार धर्म-ध्वनित नगारे की।
हाँक सुने बड़े बड़े हाँक-वारे हहरत
मानत न कौन धाक धर्म-धाकवारे की ॥१६॥

सुरसरि-सलिल बनावत सुराको नांहिं
सुर बनि बनि ना असुरता पसारे देत।
विधि बांधि बांधि नांहिं बांधत अविधि-बांध
बंदित है बंदनीय-बानोना बिगारे देत।
'हरिऔध' पूत-नीति-पथ को पथिक-प्यारो
बातनते तारे ना गगन के उतारे देत।
वारिद व्है वहुधा बरसि ना अँगारे जात
सुधा-मिस बसुधापै बिस ना बगारे देत ॥१६॥

दोहा--

अमल-आरसी-सम अहै विपुल-विमल-मन तौन।
पूत-भाव-प्रतिबिम्ब ते प्रतिबिम्बित है जौन ॥ १ ॥
द्रवत पसीजत जो रहत लहि परितापन कांहिं।
वाको उर नवनीत है या अवनीतल मांहिं ॥ २ ॥

है वाके मुख-चन्द को चितअनुराग चकोर।
पर-हित-रुचि चोरत नहीं जाके चित को चोर ॥ ३ ॥
लोचन-वारे को न क्यों सब थल लसत लखाहिं।
जगत-विलोचन बसत हैं जब जन लोचन माँहिं ॥ ४ ॥
ललित लुनाई जगत की दिन दिन होत रसाल।
लोने लोने नयन में बसे सलोने-लाल ॥ ५ ॥
क्यों सुधरति जो नहिं लहति धरम-धुरंधर-सूरि।
तो कैसे उधरति धरा जो न धरति पग-धूरि ॥ ६ ॥
अति-पावन-पग-संत को जो नहिं परसत अंग।
पावनता कैसे लहति पतित-पावनी-गंग ॥ ७ ॥
बहु-सजीवता दान करि जीव-बिहीनन कांहि।
सुधा बहावत संत-जन बहुधा बसुधा मांहि ॥ ८ ॥

कर्म्म बीर

कर्तव्य परायणता और कार्य्य सिद्धि के सिद्धान्तों पर दृढ़ विश्वास आलम्बन, कार्य्य कारिणी शक्ति के सफल प्रयोगों का अनुधावन और चिन्तन उद्दीपन विभाव, कार्य सिद्धि के साधनों और प्रयोगों का समुचित व्यवहार अनुभाव, एवं धृति, मति, गर्व, उग्रता आदि संचारी भाव हैं। कर्म्म बीर के कार्य्य साधन में पूर्ण उत्साह की पुष्टि है।

उदाहरण

कवित्त—

विपुल-अलौकिक-कलान ते कलित बनि
रेलतार काज क्यों अकल्पनीय करते।
दामिनी क्यों कामिनी लौं सारति सदन-काम
कैसे दिवि-विभव दिवा-पति वितरते।

'हरिऔध' जो न कर्म्म-बीरता धरा मैं होति
वारिधि को बांधि कैसे बानर उतरते।
फिरते विमान-अनगन क्यों गगन माँहिं
कैसे नग-निकर नगन ते निकरते ॥ १ ॥

कैसे पृथु प्रथित बनत पृथिवी को दूहि
कैसे सातो-सागर सगर-सुत सँवारे लेत।
कैसे पार करत पवन-पूत पारावार
गिरि कर धारी कैसे गिरिवर धारे लेत।
'हरिऔध' जो न कर्म-वीर की विरद होति
बार बार वीर कैसे वसुधा उबारे लेत।
दृगन के तारे क्यों सहारे होते साधन के
नभ-तल-तारे कैसे मानव उतारे लेत ॥ २ ॥

कैसे मघवा के प्रबल-घन बिलीन होते
व्रज की बसुंधरा विभूति कैसे लहती।
करति सजीव क्यों सजीवन सी मूरि मिलि
दूर होति कैसे कौसलेस-विथा महती।
'हरिऔध' जो न करतूती-करतूत होति
साहसी-सपूत की सपूती कैसे रहती।
कैसे धूरि-धारा को उधारि या धरातल पै
सुर-सरि-धारासी पुनीत-धारा बहती ॥ ३ ॥

जल-निधि कैसे दान करत अपार-निधि
गाढ़ी कैसे गगन-विभूतिन ते छनती।
नाना-कल केते लोक-यान क्यों जनम लेते
बीजुरी क्यों बिपुल-निराली-जोति जनती।

'हरिऔध' जो न करतूत होति मानव मैं
वायु-बहु-विभुता-वितान कैसे तनतो ।
कैसे रमा राजति विराजित-विभूति मांहिं
रजमयी महि क्यों रजत-वती बनतो ॥ ४ ॥

कैसे बास बनत असन को विधान होत
विविध-सुपास के बसन कैसे सिलते ।
दीपक क्यों दिपत दिखात तम-पुंज मांहिं
निकसतिकैसे सुधा सागर-सलिलते ।
'हरिऔध' जो न काम धुन होति कामुक मैं
राख मांहिं कनक-कनूके कैसे मिलते ।
कैसे मरु-भूमि फल-मूल-अनुकूल होति
धूल मैं क्यों परम अनूठे फूल खिलते ॥ ५ ॥

साधक की साध सारी-साधना निकेतन है
सिद्धि बिना 'इति, है न साहसी के 'अथ, मैं ।
संगिनी सफलता सफल-करतूत की है
विजय विराजति है कर्म-समरथ मैं ।
'हरिऔध' सारी-बाधा बाधति अबाध-गति
भू मैं बिचरत बीर बैठि 'भूति-रथ, मैं ।
पार करिलेत है अपार-पारावार हूँ को
मानत न हार है पहार परे पथ मैं ॥ ६ ॥

काम-धुन-वारो कौन काम है न साधि लेत
वाको सारो-काम किये साधना सरत है ।
धरा मैं धँसत पैठि जात है पतार हूँ मैं
विहरत नभ मैं दिसा मैं पसरत है ॥

'हरिऔध' संभव बनावत असंभव को
लोक को अलौकिक-विभूति बितरत है।
बूझ-बल नागर करत है अनागर को
सूझ-बल गागर मैं सागर भरत है॥ ७॥

तोरिदैहै पविको मरोरि दैहै मेरु-दण्ड
मरुता महानमरु-महिकी निवरि है।
दूरि कै प्रखर-पवनातप प्रकोप-ताप
अवरोधि-पावक पयोधि पार परि है॥
'हरिऔध' बाधा परे साध-भरे-साधन मैं
कर्म-वीर बाधक-अबाध-गति हरि है।
दरि है दिगन्त-दन्ति-कुल को दुरन्त-दाप
प्रबल-प्रहार कै पहार चूर करिहै॥ ८॥

भूरि-भाग-भाजन न भाजत सभीत बनि
बहि बहि भारन भरत भव-धाम है।
कसि कै कमर कौन समर करत नांहिं
अजर अमर ह्वै रखत कुल-नाम है॥
'हरिऔध' कर्म-बीर पीछे ना धरत पग
बीछे बीछे पथ पै अरत बसु-जाम है!
जमदूत-जोरा-जोरी किये हूँ जुरत जात
कालहूँ की छोरा-छोरी छोरत न काम है॥ ९॥

कैसे मुख-लालिमा रहति लोक कामना की
काम की लगन कृति-कालिमा न खोती जो।
कैसे भव-सुख-लाभ-तरु पल्लवित होत
बीज-हित-कारिता के वीरता न बोती जो॥

'हरिऔध' कैसे धरा धारति उधार-व्रत
धीर-मति धाम धाम का मल न धोती जो।
कैसे अवनी में बड़े कमनीय काम होते
काम धुन वारे में न काम धुन होती जो ॥१०॥

दोहा—

तजत काज अपनो नहीं लहत विजय को हार।
हार न मानत साहसी सिरपर गिरे पहार ॥ १ ॥
परि कंटक-बाधान में होत चौगुनो-चेत।
काज-कंज-सुमिलिन्द बनि वीर-वृन्द रसलेत ॥ २ ॥
जन निज बल ते बनिवली होत भूति को भौन।
किये भरोसो भाग को भागवान भो कौन ॥ ३ ॥
पावन चरित सजीव-जन है जग जीवन-मूरि।
तापनिवारत कर-परस पाप हरत पग धूरि ॥ ४ ॥
करतूती कर-तल परसि मुकुत कहावत पोत।
रजत बनति रज-राजि है कनक लौह-कन होत ॥ ५ ॥
गुन-आगर-जन मणि लहत पहुँचत उरग समीप।
मोती ते गागर भरत लहि सागर को सीप ॥ ६ ॥
दूर होत घर-घर-तिमिर जगति जगत में जोति।
तेज-वंत-तरवा परसि नवनी अवनी होति ॥ ७ ॥
सबाल-बाहु-वैभव मिले सकल होत अनुकूल।
कंटक-जालकलित-कुसुम बनत रसाल बबूल ॥ ८ ॥
दै अवित्त को वित्त-बहु हरत कुपित को पित्त।
सचल बनावत अचल को परम-अविचलित-चित्त ॥ ९ ॥
मानस-बल बलवान-तन संकट पावत छू न।
नावक बनत मयंक-कर पावक बनत प्रसून ॥१०॥

युद्धबीर

शत्रु, प्रताप, पौरुष और ऐश्वर्य आदि आलम्बन, मारूवाद्य और सैन्य कोलाहल आदि उद्दीपन, अंग स्फुरण और नेत्र लालिमा आदि अनुभाव, गर्व, उग्रता, और धृति आदि संचारी भाव हैं ॥

युद्ध बीर में बल पौरुष प्रतापादि जनित उत्साह की पुष्टि है ।

कबित्त—

धूरि मैं समैहैं गोले ओले के समान गिरि
टूक टूक ह्वै है तोप बार बार दनकी ।
घोर घमासान बीरता की धूमधाम ह्वै है
धीरता रही जो बनी धीरन के मन की ।
'हरिऔध' बिरद निबाहत बिरदवारो
बात अविदित है न बात भरे तन की ।
बर-बीर छिति माँहिं छोरत अछूतो-जस
सुधि हूँ न लेत छिदी छाती के छतन की ॥ १ ॥

पीछे ना परैगो कबौं परम-उमंग भरो
रण-रंग रँगो दंग करिकै पधारैगो ।
बार बार धूआँधार कठिन-समर करि
कीरति-अपार या धरापर पसारैगो ॥
'हरिऔध' बैरिन को उदर बिदारि दै है
लात मारि मारि आँत अरि की निकारैगो ।
जाकी करतूत मैं लगी ना छूत एकौ बार
राजपूत-पूत भूत सिर को उतारैगो ॥ २ ॥

उठो उठो बीरो चीरो अरिन-करेजन कौ
पीरो मुख परे बनी बात हूँ बिगरि है ।

छटकि छटकि छाती छगुनी करैयन को
कौन आज उछरि उछरि कै कचरिहै ॥
'हरिऔध कहै बीर-वृन्द ना अबेर करौ
हाँकते तिहारी धीर हूँ ना धीर धरि है ।
पारावार-धार में उड़ैगी छार आँच लगे
ठोकर की मार ते पहार गिरि परि है ॥ ३ ॥

बहँके बँहकि सारी-बहँक निवारि दैहौं
बाल बाल बीनि हौं बलकि बने बलवान ।
तमके तमकि तम हरिहौं तमारि सम
दाँत पीसि हैं तो दांत तोरि हौं मरदि मान ॥
'हरिऔध' बैरिन की बीरता बिफल कै हौं
बादिन पैबदिकै बगारिहौं बिखीलेबान ।
मुँह जो बनै हैं तो पकरि मुँह तोरि दैहौं
आँखिजो दिखैहैंतोनिकारिलैहौं अँखिआन ॥ ७ ॥

विदित पुरारि-वज्र बज्रता विलोप कै है
विकराल-काल की करालता को खलिहै ।
चक्री के प्रबल-चक्र कांहिं चूर चूर कै है
कालिका कृपाण की कृपाणता को छलिहै ॥
'हरिऔध' कोऊ रण-बांकुरो उमंग भरि
बंक करि भौंहैं शत्रु सौंहैं जब चलिहै ।
खंड खंड करिहै पिनाकी के पिनाक कांहिं
ठोकि भुज-दंड यम-दंडहूँ को दलिहै ॥ ५ ॥

बीर-कुल-बाल ह्वै न सहिहौं त्रिकाल माँहिं
लोक-प्रति-कूल की अकलिपत-कुचाली को ।

खलन की खाल खींचि लैहौं खलता के किये
बालबाल बीनि हौं विरोधी-बल-शालीको ॥
'हरिऔध' कर मैं कराल-करवाल गहि
अरि-कुल काल ह्वै रिझै हौं मैं कपाली को।
मानव अमंडनीय-मुंडन को काटि काटि
मुंडन की मालिका पिन्हैहौं मुंडमालीको ॥६॥

पातक को पल पल प्रबल-प्रसार देखि
जादिन अपार-बिकरार रूप धरिहौं।
करिकै प्रकम्पित पताल के प्रवासिन को
गरल सहस्र-फन फूंक लौं बितरिहौं ॥
'हरिऔध' दिपत-दिगन्त मैं दवारि भरि
प्रलय-प्रभाकर लौं ब्योम मैं बिचरिहौं।
ज्वाल पर ज्वाल ज्वाला मुखी लौं बमन करि
सारी मेदिनी को ज्वाल-माला-मयी करिहौं ॥७॥

बाल बाल बिने पै मनोबल न जाको जात
सोई बलवान गयो सबल बखानो है।
सोई साहसी है जो समर मैं सपूती करै
रोम रोम माँहिं जाके साहस समानो है ॥
'हरिऔध' बाहु-बल विजय बधावरो है
सूरन की सूरता अमरता बहानो है।
ह्वैबो ना अधीर धीर-धीरता को वैभव है
ह्वैबो ना अबीर बोर बीरता को बानो है ॥ ८ ॥

परम अ-कुंठित बिरोधिनी स-कंठता की
कुलिशसो कठिन कठोरता मैं ढाली है।

अंग-भंग-निपुण तरंगित तरंगिणी सी
भरित-उमंग रण-रंग मतवाली है ॥
'हरिऔध' वैरि-उर-विवर-विहारिणी है
काल की कराल-रसना सी कम्पवाली है ।
लहू-लाली-भरी कै कपाल-माली-आली अहै
बीर-करवाल काल व्याली किधौं काली है ॥ ९ ॥

पग जो न दैहैं साथ पंगु तो बनैहौं तिन्हैं
कर जो न कै हैं कही लुंजता सकारि हौं ।
वार बार ताको छत बिछत बनैहौं छेदि
जाति-दुख-छत जोन छाती मैं निहारि हौं ॥
'हरिऔध'जाति-हित जीहौं जाति-हितकैहौं
प्रतिकूल भये रोम रोम मैं उखारि हौं ।
बिमुख बनैगो तो न मुख रहि जैहै मुख
रस जो न राखि है तो रसना निकारिहौं ॥१०॥

कंचन विहाइ काँच पै जो मोहि जैहै मन
तो मैं ताको मानवी-विमोह सब हरिहौं ।
बासना सतैहै तो बसैहै नांहि वासनाकी
बिचलित-चावते बचाव कै उबरिहौं ॥
'हरिऔध'जातिपीसि पेट-पालिहौं ना कबौं
आंखि जो फिरी तो आंखि-मांहि धूर भरिहौं ।
चूक पर चूक जोनिबोरी हित होतिजाति
रसना-निगोरी को तो टूक टूक करिहौं ॥११॥

एक-बूंद रुधिर रहैगो जौ लौं गात माँहिं
देश-अनुराग-ताग तबलौं न तोरि हौं ।

अपनी विभूति कों बचैहौं बाल बाल बिनै
खाल के खिंचेहू रक्त अरि कों निचोरि हौं॥
'हरिऔध' पैहौं दिव्यहार हारहूँ के भये
बजर परे हूँ सिद्धि छूटी गांठ जोरि हौं।
छाती के छिले हूँ मोरि हौं नाछमता ते मुख
रोम रोम छिदे जाति-ममता न छोरिहौं ॥१२॥

फुंकरत देखि फणि-पति को न भीत होत
देव सेनापति की दुरन्तता दरत है।
दबत न देखि भूरि भैरवता भैरव की
संयमिनी-नाथ दण्ड-पाणिता हरत है॥
'हरिऔध' मानत धरा-पति की धाक नाँहि
सौंहैं परे नाक-पति हूं कोनिदरत है।
करवाल गहे ना डरत लोक-पाल हूं ते
बीर-बर बिकराल-कालते लरत है॥१३॥

करिकै समर-धूआँ-धार धीर-बीर-नर
बार बार अरिको पछारि, है उछरतो।
काटत फिरत गज-बाजि की कतार काँहि
परि भीर-भार मैं सँभरि, है उभरतो॥
'हरिऔध' तार बांधि बांधि तीखे-तीरन को
भीरु-भावना मैं, है भभर-भूरि-भरतो।
हनित कटार पार होत है करेजन के
वार पर वार तरवार की है करतो॥१४॥

बड़े-बड़े-बीरन को पकरि पछारि देत
भारी-भारी-भीरन हनत पल-भर मैं।

रोम रोम छिदे छनो छोरत उछाह नाँहिं
छतलगे हाथी को उछारत अधर मैं।
'हरिऔध' करि कै धरा को शर-धारा-मयी
मुण्ड-माला देत मुण्ड-मालिका के कर मैं।
कसि कै कमर बनि अमर अमर-सम
सूरमा करत सूरमापन समर मैं ॥१५॥

रण की विभीषिकाते भीत कबहूँ ना होत
रण-रंग-रँगो-वीर वीरता वरत है।
काल-दंड-गहि दंड देत है उदंड काँहिं
बरि-वंड-दल को विहंडि विहरत है।
'हरिऔध' मारतण्ड-मण्डल-समान बढ़ि
तामसिक-मण्डली को तामस हरत है।
खंड-खंड-परम-प्रचंड भुज दंड करि
रुण्ड-मुण्ड-झुण्ड मैं बितुण्ड लौंलरत है ॥१६॥

दोहा—

पवि-समान तोरत रहत करि वर-कुंभ-अपार।
काहु-गदा-धर-करन को गुरु-तर गदा-प्रहार ॥ १ ॥
लोक-लाल-प्रतिपाल-रतनर-कलंक-कुल-काल।
कामद-कल्पलता सरिस है नृपाल-कर-वाल ॥ २ ॥
जिअत न जो नर-केहरी नर-केहरि व्रत धारि।
कदाचार-करि-कुंभ को कैसे सकत विदारि ॥ ३ ॥
गरजि गरजि जो बीर-बर करत न बारिद काज।
पर अकाज-रत कु-जनपै कौन गिरावत गाज ॥ ४ ॥
भू-मण्डल मैं जो नहीं होत बीर-भुज-दंड।
दंडित करत उदंड को तो काको कोदंड ॥ ५ ॥

जो काली-रसना-सरिस होति न वीर-कृपान ।
रुधिर-पान-रत-नरन को रुधिर करत को पान ॥ ६ ॥

बीर-भाव मैं भूति को होतो जो न उभार ।
तो, को, करतो भूत-हित को हरतो भू-भार ॥ ७ ॥

परति भार मैं काहि लखि भार-भूत-जन-भीर ।
उबरति कैसे बसु-मती जो न उबारत बीर ॥ ८ ॥

किमि दुरन्त-नर-द्व-दही-महीलहति रस-सोत ।
जो न बान-धारा-बलित बीर-बारि-धर होत ॥ ९ ॥

लाला प्राणन को परत लहत न कोऊ त्राण ।
जब दामिनि लौं समर मैं दमकति बीर-कृपाण ॥ १० ॥

दयाबीर

दीन आर्त्त और दुःख-दग्ध जन आलम्बन, आर्त्त स्वर, करुण क्रन्दन, दुःख पूर्ण वर्णन, और हृदयद्रावी विनय आदि उद्दीपन, मृदुभाषण, उदार आश्वासन, दुःख दूरीकरण चेष्टा आदि अनुभाव, एवं चञ्चलता, उत्कण्ठा और धृति आदि संचारी भाव हैं। दया बीर में चित्तार्द्रता संभूत उत्साह की परिपुष्टि है ।

कबित्त——

ताको सुर-तरु के समान है फलदहोत
मूठी नाज काज जो तिगूनो तरसत है ।
परम-प्रवंचित अकिञ्चन-कुधातु काँहिं
फली-भूत पारस-समान परसत है ॥
'हरिऔध' दीनन को दीनता तिमिरहरि
ससिके समान व्है सरस सरसत है ।

बार बार जन-विटपालि पै बरद-बर
बारिद-समान बारिधार बरसत है ॥ १ ॥

विपुल-पिपासित-पिपासा कैसे दूर होति
कैसे पेट भूरि-भूखे लोगन को भरतो।
कैसे द्रवीभूत होत पाहन-समान उर
गज कैसे ग्राह के बदन ते उबरतो।
'हरिऔध' होति जो दयालु मैं दयालुता न
मंजु-मोती कैसे पातकीन पै बगरतो।
बनतो सदय कौन दुखियान-दुख देखि
कौन दयनीयन पै दौरि दया करतो ॥ २ ॥

मानवता-मंजु-बेलिचित-आलवाल माँहिं
प्रति-दिन फैलि फैलि फूलति फलति है।
पर उपकारिता-बिलोचन मैं बिलसति
लोक-हित-कारिता करनते पलति है।
'हरिऔध' बार बार बिपति-हरन-बानि
विविध-विथाको अविथाते बदलति है।
दलित-जनन के दलन की दलक-सारी
दयावान-दिलकी दयालुता दलति है ॥ ३ ॥

पगन मैं सुपथ-गमन बेस मैं है बसी
करन मैं मंजु दान-मिस निवसति है।
बदन मैं सोहति सनेह-सने-बैन बोलि
पर काज साँसत सहति बिहँसति है।
'हरिऔध' दया-वान-जनकी निराली-दया
असरस-पाहन परसि सरसति है।

उरमें बसति है तरलता निवास बनि
लोयन मैं बारि ह्वै विपुल-बिलसति है ॥ ४ ॥

कैसे गिरि-अंकते प्रसूत-सरि-धारा होति
मंजुल-सलिल क्यों सरन माँहिं रहतो।
माकी-छतियान मैं भरत क्यों अछूतो-छीर
विबुध-बरूथ क्यों रसा को रसा कहतो।
'हरिऔध'होति दयामय मैं दया जो नाँहिं
कैसे तो मयंकते सुधाको सोत बहतो।
कैसे तरु-लता मैं सरसता निवास होति
तोयद को तोमतो तरलता क्यों लहतो ॥ ५ ॥

कुसुम-सरिस होत कोमल, कठोर-पवि
मंजुल-मृनाल लौं मृदुल होत मूसरो।
सुधा होति सुरसरि-सलिल-समान पूत
नीरसता छोरि कै सरसहोत ऊसरो।
'हरिऔध' तेरी कृपा-कोरते उधरि जात
धीरतजि धूरि मैं मिलत धम धूसरो।
कोऊ तोसों दीन-बंधु दीखत दुनी मैं नाँहि
दया-निधि तोसों दया-वान कौन दूसरो ॥ ६ ॥

प्रभु-पग-बल पवि-प्रबल-प्रहार ही ते
चूर होत पातकीन-पातक-पहार है।
तेरो वर-विरद निवारत त्रिविधि-ताप
दूर करि देत भव-विविध विकार है।
'हरिऔध' ऐसो अपकारी है अपर कौन
तोसों कौन करत अपार-उपकार है।

तोसों कौन विदित-दयानिधि दुनी में अहै
दिवि-माँहिं तोसों कौन उदित-उदार है ॥ ७ ॥

विभादेत भानु सुधा स्रवत सुधा-कर है
बरसत वारि-धर वर वारि-धार है।
सरस बनावत रसा को है विपुल-रस
मंद मंद वहति मनोरम-बयार है।
'हरिऔध' बगर बगर में बगरि भूरि
करति विनोदित बसंत की बहार है।
छहरि छहरि जात तारन-कतार हूं में
कृपा-पारावार की कृपालुता-अपार है ॥ ८ ॥

दोहा—

तृन-तरु-हित बसतो न जो प्रभु-दयालुता माँहिं।
पाहन तो न पसीजतो तजि पाहनता काँहिं ॥ १ ॥
जो न दयानिधिता लहे सरसत दया निधान।
कैसे जीवन को करत जीवन जीवन-दान ॥ २ ॥
सुख-मय नहिं होतो दिवस रस-मय होतिन राति।
जो न दया-मय की दया दया-मयी दिखराति ॥ ३ ॥
जो न दया-निधि की दया घेरति बन घन-घोर।
कौन दूबरी दूब पै बरसत वारि-अथोर ॥ ४ ॥
ब्रज ललना लोनी लता कैसे होति ललाम।
दयावारिते सींचतो जो न वारि-धर-श्याम ॥ ॥ ५

दानबीर

याचक गण और दानपात्र आलम्बन, कर्तव्यज्ञान, कलित-कीर्ति-धवलिमा, दानपात्र की पात्रता आदि उद्दीपन, अकृपणता और सर्वस्वदान एवं औदार्य आदि अनुभाव, और हर्ष आदि संचारी भाव हैं।

दानवीर में दान करने के उत्साह की पुष्टता है।

कबित्त—

कंचन-समान है अकिंचन-जनन काज
पर-हितकारिता सरसि मंजु-रस है।
कौमुदी है सब-सुख-साधना कुमोदिनी की
कामुक निमित्त काम-धेनु को दरस है।
'हरिऔध' दीनता-धराकी है परम-निधि
कुदिन-कुधातु काँहिं पारस-परस है।
जीवन-विधायिनी है अवनि-उदारता की
तेरी दान-धारा सुधा-धारा ते सरस है॥ १॥

पलुहति कैसे उपकार की कलित-बेलि
सुफल उदारता-लताहुँ कैसे लहती।
भूरि-दुख-धूरि की दुखदता क्यों दूर होति
जीव-दया सरिता सरस कैसे रहती।
'हरिऔध कैसे अकिञ्चनता-तृनावलि मैं
लसति हरीतिमा-विभूति-वती-महती।
दीन-तरु होत क्यों हरित हित-बारि लहे
दीनता-धरा पै जो न दान-धारा बहती॥ २॥

दीन-दुख दुसह-दवारि वर-वारिद है
दारिद-अपार-पारावार पूत-बेरो है।
भवन है विपुल-उदार-उर-भावन को
चारु-भूत-चावन को रुचि-कर-खेरो है।
'हरिऔध' पर-हितकारिता-विकास-भूमि
लोक-उपकारिता को लसित-बसेरो है।
चेरो अहै दया-मान-विगलित-मानस को
तेरो दान दया-मंजु-आनन-उँजेरो है॥ ३॥

अविभव माँहिं है विराजत विभव बनि
भाव ह्वै कै विपुल अभाव मैं बसत है।
रस है अरस मैं विभा है विभा-हीनन मैं
सुख ह्वै कै असुखीन माँहिं निवसत है।
'हरिऔध' भोजन ह्वै भूखे की हरत भूख
नीर ह्वै पिपासित-गरे मैं प्रविसत है।
दीनता निवारि, कै अदीन सब-दीनन को
दिन दिन दानिन को दान विलसत है॥ ४॥

सींचन को बंस-बिरदावलि-दलित-बेलि
गातको रुधिर वारि-धारालौं बहैहौं मैं।
तन बेंचि बेंचि रोमरोम ते निबाहि पन
बंचित-समाज-बंदनीयताबचैहौं मैं।
'हरिऔध' धन-वारि बंधन-निवारि पैहौं
सिर दै दै सांची-देस-बंधुता दिखैहौं मैं।
जीवन-बिहीन को सजीवन बनैहौं जूझि
जाति-हित जीवन हूं दान करि दैहौं मैं॥ ५॥

तेरो पद ऊंचो-पद ऊंची-पदवीन कोहै
दारिद-दुरित को दरन तेरो दर है।

तेरो प्यार दाता है अपार-अधिकारन को
विपुल-विभूति को विधाता तेरो बर है।
'हरिऔध' तौ मन मृदुलता-निकेतन है
तेरो उर अतुल-उदारता को घर है।
फलद दयालुता तिहारी कल्प-बेलिसी है
कामधेनु-कामद तिहारो कान्त-कर है ॥ ६ ॥

तोसों कौन दूसरो द्रवत पर-दुख देखि
तोसों कौन दानी को दयालुता-निकेत है।
याचकन काँहिं कौन करत अयाचक है
कंचन बरसि जात कौन चित-चेत है।
'हरिऔध' रंकन को करत कुबेर कौन
सकल-अकिंचन को कौन सुधि लेत है।
काने सनमाने दीन-जन जानि दीनन को
जाने अनजाने को खजाने खोलि देत है ॥ ७ ॥

धन, जन, असन, बसन, बासनन देइ
दान-बीर दीनन की दीनता दरत है।
हीर-हार मंजु-मणि-मोतिन की माल देत
भूरि-भव-विभव भवन मैं भरत है।
'हरिऔध' राजी है करत बर-बाजी देइ
साजी-धेनु-राजि दै अधेनुता हरत है।
लावत 'अबार, न बराकन-उबारन मैं
बार बार बारन-कतार बितरत है ॥ ८ ॥

दिन दिन रतन-बखेरन की बानि हेरि
रतन समूह आकरन मैं अरो अहै।
धरनि मैं धन, भूधरन मैं छिपे हैं नग,
मुकुत अगाध-अंबुनिधि मैं परो अहै।

'हरिऔध' तेरी दान-वीरता बखान सुने
भभरि कुवेर भूरि-भीति ते भरो अहै।
कनक-अपार बार बार वितरत देखि
सोने को पहार एक कोने में खरो अहै ॥ ९ ॥

घनता तिहारी ही रसालता की अवलोकि
घन-माला घूमि घूमि नभ मैं घिरति है।
रवि की किरिन विकसित बनि वसुंधरा पै
तेरी गुरुता ते गौरवित ह्वै गिरति है।
'हरिऔध' तेरी ही दमक को दमामो दै दै
दमकत दामिनी दिगन्त मैं फिरति है।
लहि कै तरनि लौं तिलोकतम-हारी तेज
तारावलि तेरी दानधारा मैं तिरति है ॥१०॥

दोहा--

जगती तल मैं कौन है दानी जलदसमान।
जो जीवन हित करत है अपनो जीवन दान ॥ १ ॥
वायु सहत, छीजत, दहत, गरत गँवावत मान।
तब हूँ जलधर जगत को करत रहत जल-दान ॥ २ ॥
दानी सांसत हूँ सहे दान देइ जस लेत।
सहि पाहन बनि बनि विफल सफल विटप फल देत ॥ ३ ॥
जो न सुधा-निधि लेत सुधि बनि बनि दया-निधान।
सरस-सुधा तो करत को वसुधा-तल को दान ॥ ४ ॥
वासम कौन दयालु है अवनी-तल मैं आन।
पर-दुख देखि द्रवत रहत जो नवनीत समान ॥ ५ ॥

वासम दानी कौन जो गात उघार निहारि ।
'बस न चलत हूँ देत है अपने बसन उतारि ॥ ६ ॥

सांचो दानी सरस-उर अहै घन-सरिस कौन ।
ऊसर में सर ते अधिक रस-बरसत है जौन ॥ ७ ॥

मान गुमान कबौं नहीं होत दान अनुकूल ।
बिन फूले फल देत है गूलर-तरु को फूल ॥ ८ ॥

रौद्र

स्थायी भाव—क्रोध

देवता—रुद्र

वर्ण—अरुण अथवा रक्त

आलम्बन—शत्रु अथवा वह पुरुष जो जाति और देश का द्रोही हो-कदाचारी और कपटा चारी व्यक्ति आदि–

अनुभाव—भ्रूभंग, अधरदंशन, ताल ठोंकना, डांटना, ललकारना, रोमांच, स्वेद, मद, परुष भाषण आदि—

संचारीभाव—गर्व, चपलता, मोह, आमर्ष, उग्रता, आवेग, आदि—

उद्दीपन—शत्रु की चेष्टायें और उसका व्यवहार, उसका आस्फालन, अस्त्रशस्त्र प्रहार और आक्रोश देश द्रोही, जाति शत्रु, और कदाचारी पुरुषों का कार्य्य कलाप, और उनका कूट नीति आदि—

विशेषता

इस रस में उद्दीप्त क्रोध की प्रबलता और पुष्टता होती है।

उदाहरण

अहंभाव

कबित्त—

कबलौं अभाग तू बनाइ है अभागो मोहि
जो न भागि है तो तोको पौरुख दिखैहौं मैं।
काढ़ि हौं कचूमर पकरि मुँह लाल कैहौं
चाल चलि है तो बाल बाल बीनिलैहौं मैं।

एरे क्रूर मानि है कहीना 'हरिऔध' की तो
धूर मांहिं तोको चूर चूर कै मिलैहौं मैं।
पसुता दिखै है तो पिसान करि दैहौं पीसि
मसक समान मूढ़-तोको मीसि दैहौं मैं ॥ १ ॥

सामने जो ऐहै महा-बिकराल-काल हूं तो
लोहा लेइ तासों ताल ठोंकि ठोंकि लरिहौं।
गरजि गिराइहौं गुमान मगरूरिन कौ
तरजि तिलोक-पतिहूं को तेह हरिहौं।
'हरिऔध' धाइ हौं कँपाइ दिग-दन्तिन कौ
बड़े बड़े धीर-धुर-धारिन कौ धरिहौं।
बैरिन की अखियां बनैहौं बारि-धारा-मयी
धूरि-धारा मयी मैं बसुन्धरा कौ करिहौं ॥ २ ॥

दून की जो लै है ताप दैहौं तिगुनो तो ताहि
बहँके बहँक-बानि काँहि बहकैहौं मैं।
कीच जो उछारिहै तो पकरि पछारि दैहौं
पीछे जो परैगो तो न पीछे पाँव नैहौं मैं।
'हरिऔध' करिकै विरोध का विरोधी कै है
वाको अवरोध-बारि-धारा मैं बहैहौं मैं।
बल जो दिखाइ है बिलाइ है बलूले सम
बैर-बलि-बेदिका पै वाको बलि दैहौं मैं ॥ ३ ॥

उत्तेजिता बाला

कवित्त—

बीजुरी बिलसि घन-अंक में जो कै है केलि
तो मैं ताको फूटी-आंखिहूँ ते ना निहारि हौं।

सारी-वारि-बूंदन को वारिधि में बोरि देहौं
वसुधा ते वरखा-बयारि को निकारि हौं।
'हरिऔध' बैर करि हैं जो मो वियोगिनी ते
तो मैं मोर-कुल को मरोरि मारि डारि हौं।
आदर न दै हौं कवौं कादर-पपीहन को
वज्र-मारे-बादर को उदर विदारि हौं ॥ ४ ॥

मंजुल-रसाल मंजरीन को विथोरि दै हौं
रसना-विहीन कै हौं कोकिल-नकारे को।
कुसुम-समूह की कुसुमता निवारि देहौं
मारि दै हौं गुञ्जत-मिलिन्द-मतवारे को।
एहो 'हरिऔध' जो सतैहैं दुख देहैं मोहिं
बिरस बनैहौं तो सरोज-रस-वारे को।
अंतक लौंसारे-सुख-तंत को निपात कै हौं
अंत करि देहौं या बसंत बजमारे को ॥ ५ ॥

पवि प्रहार

मनहरण

कवित्त—

कैसे तो रसातल पठाइ देहौं तोको नांहिं
ताड़ित जो तोते होत भारत-अवनि है।
तू जो बार बार वार करत हितून पै तो
मेरो कर कैसे ना कटारी तोहि हनि है।
'हरिऔध' कहै एरे कुल के कलंक जो तू
तमकि तमकि जाति-नेहिन पै तनि है।
मेरी बंक-भौं तो तेरी बंकता नसैहै क्यों न
मेरा लाल-नैन क्यों न तेरो काल बनि है ॥ ६ ॥

एड़ी और चोटी को पसीनो करि एक जो तू
खोटी है करत क्यों न दांत कोट कैहौं मैं।
रोटी के निमित्त पेट काटि लेत औरन के
ऐसी छोटी-बातन ते कैसे ना घिनैहौं मैं।
'हरिऔध' तू जो जाति-पीठ को चमोटी बन्यो
कैसे तो न बार बार पोटी दूहि लैहौं मैं।
मोटी-मोटी-बाहैं बदी मोटैं जो बनति हैं तो
ए रे नर तेरी बोटी बोटी काटि दैहौं मैं ॥ ७ ॥

कमनीय-कामिनी मैं कुल मैं कुलीनता मैं
कालिमा लगाइ क्यों कलंक मैं सनत है।
काहैं बहु-आनन के सुनत अनैसे बैन
काहैं अपकीरत-बितानन तनत है।
'हरिऔध' तोते जोपै हिन्दू-हित होत नाँहिं
हिन्दू ह्वै कै जो तू जर हिन्दू की खनत है।
काहैं करवाल कालिकाकी ना परति तो पै
काहैं तो नै काल को कलेवा तू बनत है ॥ ८ ॥

कोऊ गिरि काहैं तेरे सीस पै गिरत नाँहिं
धाक खोइ काहैं तू धरा मैं ना धँसत है।
काहैं ना रसातल सिधारत रसा के हिले
काहैं ना कपालिनी-कुफाँस मैं फँसत है।
'हरिऔध' हिन्दू बनि हिन्दू-कुल-बाल होइ
हिन्दू-गरो जो तू जेवरीन ते कसत है।
काहैं तो प्रचंड-यम-दंड ना लगत तोहि
काहैं तोको कारो-काल-नाग ना डँसत है ॥ ९ ॥

मानव की कहा ह्वै हैं कुपित अमानवहूं
खग मृग मीनन की मण्डली कँपावैगी।
तरु काल ह्वै है फूल फल मैं समैहै सूल
दल दलि दैहै बेलि लता कलपावैगी।
'हरिऔध' कहै देस-द्रोही तून पै है कल
धाई धूरि-धारा असि-धारा सी सतावैगी।
भारत के कोटि-कोटि-कीटकाटिकाटिखैहैं
चींटे चोट कैहैं चींटी तोको चाटि जावैगी ॥१०॥

दिन कर किरिनैं करेजो तेरो बेधि दैहैं
चन्द की कलायें तोको गरल पिआइ हैं।
अन्त तेरो करिहैं दिगन्तन के दन्ति दौरि
धूरि मांहिं तोको धरा-धरहूं मिलाइहैं॥
'हरिऔध' जो तू कुल-लाल ह्वै बनैगो काल
हिन्दुन को तेरे दृग-लाल जो कँपाइहैं।
कारे-कारे-बारि-बाह ते तो पवि-पात ह्वै है
नभ-तारे तोपै तो अँगारे बरसाइहैं ॥११॥

रेति रेति जाति-गरो कौलौं तू मनैहै मोद
चेति चेति कौलौं लोक-चित्त-चाव हरिहै।
काल बनि बनि काहू कांहिं कलपैहै कौलौं
लाल ह्वै ह्वै कौलौं तू लहू सों हाथ भरि है॥
मानत है काहे हरिऔध की कही ना क्रूर
कालिमामयी तू कौलौं मेदिनी को करिहै।
कोऊ ज्वाला-मुखी फूटि कैहै टूक टूक तोहि
एरे महा-पापी तो पै बज्र टूटि परिहै ॥१२॥

दिवि ह्वै है अदिवि धनाधिप वराक ह्वै है
सकल-विभूति अ-विभूति पद पावैगी।

सुर ह्वै है असुर सुराधि-पशमन ह्वै है
काम धेनु सारी कामधेनुता गँवावैगी।
कहै 'हरिऔध' एरे हिन्दू कुलके कलंक
जाति कौंहिं तेरी कूट-नीति जो कँपावैगी।
ज्वाल-माला ह्वै है तो मयंक-कला केलि-मयी
तोको कल्प बेलि कल्प कल्प कलपावैगी ॥१३॥

तेरो नाम सुने नाक नीचता सिकोरि लैहै
तेरो मुख देखे महा-पातक सिहरि है।
पामरता पै है यम-यातना परसि तोहि
लोक-कालिमा हुं को कलंकित तू करि है॥
'हरिऔध' कहत पुकारि जाति-बैरो सुन
जाति बैर-बिरद बहाँकि जो तू बरि है।
गौरव तिहारो तो अगौरव-बिभूति ह्वै है
कौरव-समान तू हूं रौरव मैं परि है ॥१४॥

कैसे भला हिन्दुन को कबहूं अकाज हो तो
हिन्दू ह्वै अहिन्दू काज जो न करि जातो तू।
भीर क्यों परति क्यों भभरि-हितभागिजात
नाना-बैर-भावन ते जो न भरि जातो तू॥
'हरिऔध' जाति तो अकण्टक न कैसे होति
कण्टक-समान पंथ ते जो टरि जातो तू।
गरिजातो सरिजातो कबहूं निकरि जातो
जरि जातो बरि जातो जो पै मरिजातो तू ॥१५॥

दोहा—

गरल बमत बहकत रहत दहत हरत चित चैन।
कैसे लोने नैन मैं राई लोन परै न॥ १॥

कैसे ऐंची जाय नहिं क्यों न बनहि बदनाम।
जब चलि जीभ चलावतै रहति चाम के दाम ॥ २ ॥

संत बनेहूँ जो हरत काहू गर को हार।
काहें वाके सीस पै टूटि न परत पहार ॥ ३ ॥

ते असंत हैं संत नहिं क्यों न गहहिं करवाल।
जिनकी अँखियां लाल ह्वै बनहिं लोक-हित काल ॥ ४ ॥

जो भिरि हैं करिहौं उभरि बीर भाव को अन्त।
हौं बैरिन कौ तोरि हौं सकल-बिखीले-दन्त ॥ ५ ॥

बचि पै है बैरी नहीं परि सौंहें करि सौंह।
हरिहै सारी-बंकता बंक भई मम-भौंह ॥ ६ ॥

भयानक

स्थायीभाव–भय

देवता–काल

वर्ण–श्याम अथवा कृष्ण

आलम्बन—भयंकर दृश्य, घोर दर्शन जन्तु अथवा प्राणि विशेष, भीति वर्द्धक स्थान आदि—

उद्दीपन—भयंकर दृश्यों का अवलोकन, भयजनक प्राणियों और स्थानों का दर्शन, उनकी चेष्टायें और उनके कार्य्यकलाप—

अनुभाव—विवर्णता, कम्प, मूर्छा, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभंग, आदि।

संचारी भाव—आवेग मोह, त्रास, दैन्य, शंका, तथा मृत्यु आदि।

इस रस में इन्द्रिय विक्षोभ के साथ भय की पुष्टि होती है। इसके पात्र कापुरुष और भीरु स्त्री आदि हैं।

विशेष

किसी किसी ने इस रस का देवता यमराज को माना है।

भयकी विभूति

मनहरण

कबित्त—

याजन यजन बहु-साधन-विराग राग
ब्रत उपवास काल-त्रास करतूति है।
सांसत-सहन नाना-शासन प्रतीति प्रीति
सहज-भयानक-विभावना प्रसूति है।

'हरिऔध' विविध-विभीषिका थहर भरी
सकल-शशंक-भाव भव-गात-भूति है।
भभरे-जनन की भभर भूत-प्रेत-भीति
भीरु-जन-अनुभूति भय की विभूति है॥ १॥

भूत-प्रेत परम-भयावनीकु-मूर्ति देखे
चैन से कवौं ना भूतहूँ को पूत सूतिहै।
फुंकरत-फणि गण फणिता बतैहै कौन
कालिका-करालता कहां लौं कोऊ कूतिहै॥
'हरिऔध' काहिसे गरल-कंठता है छिपी
काकोना कपाल-नैन-ज्वाल-अनुभूतिहै।
भैरव समेत भूत-नाथ की प्रभूत-भूति
भूरि-भय-भावना भयं-कर-विभूतिहै॥ २॥

कहा अजगुत वक्र-दन्त विकराल-काय
कदाकार कोऊ भूरि-भीति उपजैहै जो।
कौन है विचित्रता विकलिपत विपुल-मूर्ति
बनिकै भयं-करी विभीषिका वढ़ैहै जो॥
'हरिऔध' कछूना अचंभो तम-तोम-तरु
भैरव-विभूति ह्वै अपार-डरपैहै जो।
जहां तहां खरे क्यों दिखै हैं ना प्रभूत-भूत
भय-अभिभूत-मनभूत बनि जैहै जो॥ ३॥

विभीषिका

कवित्त—

सूरता बिलोके सांचे-सूर-कुल-केसरी की
बड़े-बड़े-साहसी समर में सकाने हैं।

वीरता-विकम्पित भई है बांके-वीरन की
वैरिन के वैभव बलूले लौं बिलाने हैं ॥
'हरिऔधकर-करवाल-गहे केते भीरु
भीत ह्वै कै गिरि की गुहान मैं समाने हैं ।
धनु-ताने केते हहराने केते थहराने
केते भहराने केते भभरि पराने हैं ॥ ४ ॥

बासर बड़े हैं पै अबासर बनैंगे विधि
लोमसता चावकौलौं लोमस दिखावगे ।
चिरजीवी जेते हैं न वेऊ चिरजीवी अहैं
कैसे चिर-जीवन जगत जीव पावैंगे ॥
'हरिऔध' अमरावती न अमरावती है
सारे-लोक काल के उदर मैं समावैंगे ।
कौन है अमर ? है अमरता निवास कहां ?
एक दिन अमर-अमर मर जावैंगे ॥ ५ ॥

प्रलयकाल

कवित्त—

सारे-लोक-लोकपाल सहित विलोप ह्वैहैं
कुल-कला-निधि काल-गाल मैं समावैंगे ।
तारकता तजि तजि तारक तिरोहित ह्वै
प्रलय-पयोधि मैं बलूले पद पावैंगे ॥
'हरिऔध' देव देव-लोक हूं दुरैंगे कहूं
दिवि मैं दिवा-पति न दिपत दिखावैंगे ।
मिलि जै हैं सारे-भूत ही न पंच भूत माँहिं
एक दिन पंच-भूत भूत बन जावैंगे ॥ ६ ॥

शिव की समाधि भई भंग भीम-नाद भयो
कँपे लोक-पाल धीर ध्रुव ना धरे रहे।
सहमे सुरासुरसशंकित-दिगन्त भयो
सारे-पारावार ना प्रपंच से परे रहे।
'हरिऔध' प्रलय-विभूति को विकास देखि
भुवनस-भूधर भयातुर अरे रहे।
भीत भये भूत भारो-भीरुता धरा में भरी
सित-भानु डरे भानुभभरे खरे रहे ॥ ७ ॥

धाँय धाँय दहि है धरातल-मसान-सम
अगणित खानैं ज्वाल-माल-जालजनिहैं।
पावक ते पूरित दिगन्त ह्वं दुरन्त ह्वै है
दव के अधर में वितान वहु तनिहैं ॥
'हरिऔध' अहै ऐसो वार जब नाना-लोक
लोक-पाल-सहित हुतासन में सनिहैं।
सूर ससि ;जारे जैहैं प्रलय-अँगारे माँहि
सारे-तारे तपत-तवाकी बूंद बनिहैं ॥ ८ ॥

डर पै है घिरि घेरि दानव-समान-घन
परम-प्रचंडता प्रभंजन दिखावैगो।
कर्ण-भेदी-गरज कँपैहै दिग्गजन काँहिं
काको विज्जु-व्यापक-प्रकोप ना कँपावैगो॥
'हरिऔध' वारि-धर-मूसल-समान-धार
वारि-निधि-प्लावन लौं विवश वनावैगो।
भूमि-तल निलय बनै है भू-वलय माँहिं
सारो-लोक प्रलय-सलिल में समावैगो ॥ ६ ॥

सारे-प्रान्त प्लावन में परिकै विलीन व्है हैं
पुर-ग्राम-पत्तन को सत्ता लोप पावैगो।

पवि-पात भये विनिपात ह्वै है जीवन कौ
प्रलय-प्रबलता ते जनता बिलावैगी ॥
'हरिऔध' प्रखर-प्रभंजन-प्रकोप कीने
बिदलित पूरी-पादपावलि दिखावैगी ।
मिलि जै है धूरि मैं धरा-धर विधूनित ह्वै
धारा-धर-धारा मैं बसुन्धरा समावैगी ॥१०॥

ज्वाल-माला-बमन सहस-फन-सेस कै है
काल-ज्योति ज्वलित-दिगन्तन मैं जगिहै ।
मदन-दहन को दहन-पटु खुलैगो नैन
दाहकता दाहक-त्रिशूल की उमगि है ।
'हरिऔध' प्रबल-प्रलय-परिपाक भये
लोक-ओक पावक-विपाक-पाक पगि है ।
परम-प्रचण्ड-मारतण्ड उगिलैगो आग
अनल-अखण्ड महि-मण्डल मैं लगि है ॥११॥

कूदि कूदि उछरि उछरि कै लगै है आग
लाग कै लवर-व्योम-व्यापिनी उठावैगो ।
दाहैगो अनन्त-जीव-जन्तु-यातुधान-दल
बरत-मसाल घर बार को बनावैगो ।
'हरिऔध' करि है दिगन्त को दवारि-दग्ध
बसुधा-विभूति को विभूति कै दिखावैगो ।
प्रलय-प्रकोप-पौन-पूत अति-बंका-बीर
डंका दै दै नाना-लोक-लंका को जरावैगो ॥१२॥

ज्वाल-माल जगे दग्ध ह्वै हैं जगती के जीव
घर बार बसन-वितान जैसो बरि है ।

तृण-पुंज-सरिस दहत दिखरैहै मेरु
वन मैं भयंकरी-लवर फूटि परिहै।
'हरिऔध' बारहो-दिवाकर उदित भये
दुसह-दवारिता दिगन्तन मैं भरि है।
तूल-सम सकल-धरातल को तरु-तोम
तेल-समतोय-निधि तोय-राशि जरिहै ॥१३॥

नाचि नाचि जरति जमात मनु-जानत की
बारि ही मैं बरत रहत बारि-वारे हैं।
विहग उड़त गिरि परत दहत जात
पशु-वृन्द पावक मैं परि पचि हारे हैं।
'हरिऔध' कहाँ जांय कहा करैं कैसे बचैं
प्रलय प्रपंचते प्रपंचित बेचारे हैं।
अवनि गगन ही अहैं न उगिलत आग
सरित-पतीनहूँ मैं भरित-अँगारे हैं ॥१४॥

भानुते भभरि भूरि-कम्पित-भयो है लोक
पवि-उर प्रलय-प्रकोपते हिलत है।
द्रवी-भूत-धातुन को प्रवल-प्रवाह आइ
पल पल नाना-प्राणि-पुंज को गिलत है।
'हरिऔध' हाहाकार-पूरित दिगन्त भयो
कहां जाय कोऊ कहीं त्राण ना मिलत है।
तारे हो गगनते न गिरहिं शरारे-भरे
भूतल हू आग ह्वै अँगारे उगिलत है ॥ १५ ॥

भभरि भभरि भागि हैं पै कहां जैहैं भागि
हहरि हहरि कांपिहैं पै क्यों उबरि हैं।

प्रकटे त्रिलोचन-त्रिशूल ते
सारे-प्राणी दावा परि हैं।
'हरिऔध' कहै प्रलयंकर-
मरिगे अमर बरिहैं।
गरे के गरल ते अँगारे
नयन उघारे जरिहैं ॥१६॥

बाम देव-बामता ते मर है
कोटि कोटि मनु जरिहैं।
धूरि मांहिं मिलिहैं सुमेर
बारिद-प्रलै के करिहैं।
'हरिऔध' त्रिपुरारि नयन
तीनों लोक तूल रिभरिहैं।
काल-कोप-पौन के हिलाये
फल के समान परिहैं ॥१७॥

लोकन की सत्ता औ महत्ता
प्रलय-महान बि बरतो।
अन्तक-अनन्त की अनन्तता
टूक टूक ह्वैबे ते हरतो।
'हरिऔध' हरके अकाण्ड-ता
भाण्ड के समान ो भरतो।
प्रबल-प्रचण्ड-मारतण्ड-खर
परम-उदण्ड-यम ो जरतो ॥१८॥

देखात है।

तरु हैं जरत धू धू धू धू हैं जरत मेरु
धाँय धाँय वरत धरातल को गात है।
'हरिऔध' ठौर ठौर धधकत आगही है
ज्वाल में जरति जीव-जन्तु की जमात है।
महा-हाहाकार है सुनात ओकओक मांहिं
प्रलय जराये लोक लोक जरो जात है ॥१९॥

करको प्रहार तारकावलि को लोप कै है
दिविको दलैगो दिवा-पति को मिटावैगो।
नाना-अंग-चालन दिगन्तन को कै है चूर
ध्वंस कै धरातल को धूरि में मिलावैगो।
'हरिऔध' होत महा-काल को कराल-नृत्त
सहस-बदन-ब्याल-वैभव बिलावैगो।
लात लगे टूटि है अतल-तल पत्ता-सम
पल में पतालहू को लत्ता उड़ि जावैगो ॥२०॥

शृंग-नाद सुने घोर-डमरू-डिमिकभये
कोपे महा-काल के सुरासुर सिहरिगे।
उच्छलत-वारिधि को बारि बिचलित भयो
धसके धरा-तल धरा-धर बिदरिगे।
'हरिऔध' चौदहो-भुवन भय-भीत बने
काँपे-पंच-भूत दसो-दिग्गज भभरिगे।
कोल गयो डोल काठ मारिगो कमठ हू को
बैल-बिललानो ब्याल-बदन बिहरिगे ॥२१॥

हुंकरत बैल के बलूले लौं बिलाने लोक
फुंकरत फणि के अनन्त-ओक जरिगे।

प्रकटे त्रिलोचन-त्रिशूल ते दुरन्त-द्व
सारे-प्राणी दावा मैं पतंग-समपरिगे।
'हरिऔध' कहै प्रलयंकर-प्रकोप भये
मरिगे अमर वारि-धार-बारे बरिगे।
गरे के गरल ते अँगारे झरे भूतल पै
नयन उघारे तारे पावकते भरिगे ॥२२॥

वाम देव-बामता ते मर ह्वै अमर जैहैं
कोटि कोटि मनु-जात कीट जैसे मरिहैं।
धूरि मांहि मिलिहैं सुमेर से धरा-धरहूँ
बारिद-प्रलैके तेल-विन्दु जैसे जरिहैं॥
'हरिऔध' त्रिपुरारि नयन-तृतीय खुले
तीनों लोक तूल के अँबार जैसे बरिहैं।
काल-कोप-पौन के हिलाये व्योम-तरु-तोम
फल के समान सारे-तारे झरि परिहैं ॥२३॥

लोकन की सत्ता औ महत्ता महा-भूतन की
प्रलय-महान बिकराल कर लूटैगो।
अन्तक-अनन्त की अनन्तताको अन्त ह्वै है
टूक टूक ह्वैवेते छुपा-कर न छूटैगो॥
'हरिऔध' हरके अकाण्ड-ताण्डवोंके भये
भाण्ड के समान सारो ब्रह्माण्ड फूटैगो।
प्रबल-प्रचण्ड-मारतण्ड-खण्ड खण्ड ह्वैहै
परम-उदण्ड-यम काल-दण्ड टूटैगो ॥२४॥

प्रलय प्रकोप

दोहा—

रवि ससि रहि जैहैं नहीं बचि है नाँहिं अनन्त।
अन्त समय करिहैं प्रलय अन्तकहूँ को अन्त ॥ १ ॥

जरि जैहै सारो जगत वरि जैहै बनि घास।
उगे दिवाकर बारहो बहे पवन-उनचास ॥ २ ॥

नरक वर्णन

दोहा—

पग पग पै पग-बेधिनी पथ-पौरुख-गिरि गाज।
है कण्टक-मय नरक-महि कुल-कण्टक जन काज ॥ ३ ॥
पग पारत जरि बरि उठत तरफत हाहा खात।
अहै आततायीन हित नरक-अवनि अय-तात ॥ ४ ॥
साँसतपै साँसत सहत पिसत दहत दिनरात।
जब कौरव से पातकी रौरव में परि जात ॥ ५ ॥
कौन नारकी बिन जिअत निज तन लोहू चाटि।
को काकी पोटी दुहत बोटी बोटी काटि ॥ ६ ॥
जरहिं बरहिं पलपल पिसहिं मिसहिं खाहिंतरवारि।
कौन यातना ना सहहिं नरक-परे नर-नारि ॥ ७ ॥
काल-ब्याल-मय-महि मिले दहत देखि सब ओक।
भागे भागे फिरत हैं नरक-अभागे-लोक ॥ ८ ॥
गिरत परत शोणित-बमत फूटत रहत कपार।
पापी पावत नरक में पलपल प्रबल-प्रहार ॥ ९ ॥
जरत नरक को जीव है पै न होत जरि छार।
धरा आगि उगिलत रहत बरसत गगन अँगार ॥१०॥

वीभत्स

स्थायी भाव—जुगुप्सा अथवा ग्लानि वा घृणा

देवता—महाकाल

वर्ण—नील

आलम्बन—दुर्गन्ध युक्त पदार्थ, मांस, रुधिर, चर्बी, विष्टा, मूत्र, आदि—

उद्दीपन—दुर्गन्धित पदार्थों में कीड़े पड़ना, उनपर मक्षिकादि पतन,

अनुभाव—थूकना, मुँह फेरलेना, आँख बन्द करना, नाक सिकोड़ना, रोमाञ्च आदि ।

संचारीभाव—मोह, मूर्छा, आवेग, व्याधि, आदि ।

इस रस में ग्लानि और घृणा की परिपूर्णता होती है. और इन्हीं भावों द्वारा यह पुष्ट होता है ।

विशेष

इस रस में जुगुप्ता की पुष्टि और ग्लानि एवं घृणा की अधिकता होती है, इस रस का पात्र उद्वेगमय मानस होता है ।

युद्ध भूमि

मनहरण

कबित्त—

काटि काटि खातमुराड-मालमेंके मुराडनको
मास मेद मज्जाते अघाइ उमहति है ।
असित कलेवर, डरावने विशाल-नेत्र,
चाबि-चाबि हाड़ बिकरालता गहति है ।

'हरिऔध' बाल बगरे हैं काल-जाल जैसे
बार बार अट्ट अट्ट हँसति रहति है ॥
शव-राशि-कढ़ी रण-भूमि-रक्त-धारा माँहिं
शव पै सवार शव-वाहना बहति है ॥ १ ॥

कटे अँगुरीन ते सिंगारति रहति गात
आँत ते सँवरि भूरि-गौरव गहति है।
मेद मास मज्जा खाइ खाइ कै मुदित होति
स्वेद चाटि चाटि स्वाद सौ गुनो लहति है ॥
'हरिऔध' कहै रण-भूमि-सरि-धारा माँहिं
विपुल-विनोदित ह्वै भैरवी बहति है।
खिलति महा है गज-खाल को बसन धारि
लोहू को महावर लगाइ उमहति है ॥ २ ॥

खोपरीन खाइ कै बदन ते बमति ज्वाल
रुंड-मुंड-झुंडन बिहंडि विहरति है।
पकरि कबंधन करति है रुधिर-पान
प्रचुर-करेजन चवाइ उछरति है ॥
'हरिऔध' जोरि जोरि जोह गज-वाजिनकी
पान सम चावि मोद-भावरैं भरति है।
रण-भूमि माँहिं भूत-नाथ की विभूति बनि
भूत-लीला भूतन की मण्डली करति है ॥ ३ ॥

कूकर-समूह अंग भंग कै भिरत भूरि
भरित-उमंग-काक आंखि काढ़ि खात है।
रुरुआ ररत भूत भीर है करत रव
भैरव-निनाद भरो भूतल दिखात है ॥
'हरिऔध' रण में लुठत है विपुल-लोथ
पल पल शोणित-प्रवाह अधिकात है।

घात माँहिं वैठि गीध आँत अँचि अँचि लेत
गात नोचि नोचि खात जम्बुक-जमात है ॥ ४ ॥

सवैया—

काल कलेऊ बनावत लोकको कालिका मुण्डन ठाट है ठाटति।
गीध स-मूह निकारत आंत है त्यों करवार घने-शिर काटति ॥
ए 'हरिऔध' अरीरण-बाहिनी लोथते है धरणी-तलपाटति ।
नाचति हाड़ चबाइ कै योगिनी चाटते लोहू चुरैल है चाटति॥५॥

मानवतन

कवित्त—

कीचर भरे हैं नैन नेटा-भरी नासिका है
थूक औ खेखार लार पूरित बदन है ।
नखते बिहीन अहै एक आँगुरी हूँ नाहिं
हाड़ को है ढांचो रोम-संख्या अनगन है ॥
'हरिऔध' अंग अंग अहै चम-आबरित
रक्त मेद मज्जा मास स्वेद को सदन है ।
कूर-करतूत-भरो छूत-भरो खूंत-भरो
मल-भरो मूत-भरो मानव को तन है ॥ ६ ॥

स्मशान भूमि

कवित्त—

कहूँ धूम उठत बरति कतहूँ है चिता
कहूँ होत रोर कहूँ अरथी धरी अहै ।
कहूं हाड़ परो कहूं जरो अध-जरो बाँस
कहूं गीध-भीर मास नोचत अरी अहै ॥

'हरिऔध' कहूं काक कूकर हैं शव खात
कतहूं मसान मैं छछूंदरी मरी अहै।
कहूं जरो-लकरी कहूं है सरी-गरी-माल
कहूं भूरि-धूरि-भरी खोपरी परी अहै॥ ७॥

कूकर शूकर

कबित्त—

चन्द-मुखी चावते बनावत चुरैल काँहिं
ताको कहै कंज जो बिसिख-बिष-धर है।
नरक-विधायिनी को मानत सुरांगना है
आमिष के पिंड को गिनत गौरि-बर है।
'हरिऔध' काहै काम कामिनी-विजित-नर
कूकर कि शूकर कि काक है कि खर है॥
मान जो हरत ताके मुख को चबात पान
मूसत जो माल ताको चूसत अधर है॥ ८॥

नरपिशाच

कबित्त—

साँपते डरावने भयावने हैं भूतनते
काक जैसे कुटिल अपार-अरुचिर हैं।
अपजस-भाजन कलंक के निकेतन हैं
कामुकता-मन्दिर के निन्दित-अजिर हैं।
'हरिऔध' मानव-स्वरूप माँहिं दानव हैं
आँखि कान आछत ते आँधर बधिर हैं।
हाड़ जे चिचोरत बेचारी-विधवान के हैं
भोली-बालिकान के जे चूसत रुधिर हैं॥ ९॥

बनि कै सजीवन जे जीवन हरत जात
जीवन को केते छल करि जे छरत हैं।
सतत पतंग-प्राणि-पुंज के दहन काज
मेदिनी मैं दीपक-समान जे बरत हैं।
'हरिऔध' काहैं वे अमानव कि मानव हैं
छाती पै सजातिन के मूंग जे दरत हैं।
औरन को मूसि मूसि जिनको बढ़तमास
लहू चूसि चूसि कै जे फूलत फरत हैं ॥१०॥

नराधम

दोहा—

ताको थूकै क्यों न जन होठ दुखनते काटि।
जाकी काया पलति है थूक पराया चाटि ॥ १ ॥
पहलो दिवि को दूत है दूजो है यम-दूत।
सांचो पूत सपूत है है कपूत तो मूत ॥ २ ॥
लाज न आई नीच को भयो कान नहिं तात।
बात बात पै देखियत जनता थूकत जात ॥ ३ ॥
वासम अधम न दूसरो जो दुख देत दुलारि।
जाकी मुँह-लाली रहत ललना-लोहू गारि ॥ ४ ॥
सो मानव है जगत मैं तो दानव है कौन।
मास-खात लोहू-पिअत हाड़-चिचोरत जौन ॥ ५ ॥

कलंक कथा

दोहा—

बिगरत है परलोक हूँ कीने काज अपूत ।
खरो खिन्न नर को करत नरक भरो मल-मूत ॥ ६ ॥

सौंहैं मुँह कैसे करैं है कलंक मय गाथ।
लहू-बने लोचन अहैं लहू-भरे हैं हाथ ॥ ७ ॥

ता के चित की बासना तासु चाव कहि देत।
अगल बगल अवलोकि कै बगल सूंघि जो लेत ॥ ८ ॥

मैलो-मुख मल बमत है जब कबहूँ समुहात।
भेद बतावत भीतरी स्वेद-गंध-मय-गात ॥ ९ ॥

बोलि अनैसे-बैन जो बरबस बनत बलाय।
तो मुँह मैं कीरे परैं तुरत जीह सरिजाय ॥१०॥

शान्त

स्थायी भाव—शम अथच निर्वेद

देवता—शान्तिमूर्ति विष्णु

वर्ण—कुन्द पुष्प कान्ति समान शुक्ल

आलम्बन—संसार की असारता और अनित्यता का ज्ञान, परमात्मा के सत्य स्वरूप का अनुभव।

उद्दीपन—सद्गुरु प्राप्ति, सत्संग, पवित्र आश्रम, पवित्र तीर्थ, रमणीय एकान्त वन, सच्छास्त्र अनुशीलन, श्रवण मनन आदि।

अनुभाव—रोमाञ्च, पुलकावली, अश्रुविसर्जन आदि।

संचारीभाव—धृति, मति, हर्ष, स्मरण, प्राणियों पर दया आदि।

विशेष

काम क्रोधादि शमन पूर्वक निर्वेद की परिपुष्टता को शान्त कहते हैं, इसका आश्रय उत्तम पात्र है।

असार संसार

मनहरण

कवित्त—

मिलि जैहैं धूरि मैं धरा-धर धरा-तल हूँ
काल-कर सागर-सलिल को उलीचिहै।
बड़े बड़े लोक-पाल विपुल विभव वारे
पल मैं बिलैहैं ज्यों विलाति बारि-बीचि है।
'हरिऔध' बात कहा तुच्छ-तन-धारिन की
कबौं मेदिनी हूँ मीच भै ते आँख मीचिहै।

सरस-बसंत ह्वै बिरस सरसैहै नाँहिं
बरसि सुधा-रस सुधा-कर न सींचिहै ॥ १ ॥

ऐसी ही लसैगी हरिआरी हरे-रूखन में
ऐसी ही ललामता ललित-लता लहिहै।
ऐसोई करैगो कूजि कूजि कल-गान खग
सुमन-सुरभि लै समीर मंद-वहिहै।
'हरिऔध' एक दिन तू ही आँखि मूंदि लैहै
ऐसी ही रहैगी मोद-मयी जैसी महि है।
ऐसी ही चमक चारु-चांदनी चुरैहै चित
ऐसोई हँसत मन्द मन्द चन्द रहि है ॥ २ ॥

प्रान बिन ताको तजि भजति सदा की नारि
तरसत हुतीजाको किन्नरी बरन को।
दाहत चिता पै राखि सुन्दर-सरीर वाको
जाकी पलिका को पावा हुतो सुबरन को।
'हरिऔध' देखत मसान माँहिं ताको परो
जाकी धाक कम्पत करेजो भू-धरन को।
चौर होत हुती जिनैं मसकनिवारन को
तिनैं खात देखे नोचिनोचि गीदरन को ॥ ३ ॥

पूजित-सचीस-धनाधीस औ फनीसहूं के
जगदीस ईसहूँ के सीस जो धरी रहै।
कामिनी के कंठ कुच करन चरन हूं की
जाते जेवरन हूँ की सुखमा खरी रहै।
'हरिऔध' कल ओकलेस काल-कौतुकहै
सदा नाँहिं एक ही सी काहू की घरी रहै।
धूरि-भूरि-भरी गरी छिन्न-करी भूप कबौं
बस्तु हूँ-अनोखी मंजु-मालासी परी रहै ॥ ४ ॥

आत्मग्लानि

कबित्त—

चल फिर न सकहिं परे हैं फेर माँहिं तऊ
बार बार फेरे पाप-पथते फिरे नहीं।
घरी घरी घर के घनेरे-दुख घेरे रहैं
तब हूँ रुचिर-रुचि घेरे ते घिरे नहीं।
'हरिऔध' आयु-भोग-भाजन भरत जात
चित-भीरुताते तऊ उभरि भिरे नहीं।
गई आंखि तऊ आंखि होति आंखि-वारन की
गिरे दांत तऊ दांत बिख के गिरे नहीं ॥ ५ ॥

बड़े-बड़े-लोचन के लालची बनेई रहे
बिसर न पाई बात बेंदी-बिकसी की है।
छी छी छी छी कहैं लोग तऊ है न छी छी सुधि
सुछबि-न भूल पाई छाती-उकसी की है।
'हरिऔध' चूकि चूकि करहूँ न चूक चुकी
कसक सकी न कढ़ि कंचुकी-कसी की है।
उकसि उकसि आज हूं न कस मैं है मन
अकस न छूटि पाई काम-अकसी की है ॥ ६ ॥

निर्वेद

कबित्त—

मेरी-नारि मेरो-पूत मेरो-परिवार-सारो
मेरो-गांव मेरो-गेह मेरो-धन-जन है।
मेरो मीत मेरो तात मेरो हित मेरो नात
मेरो मुख मेरो नैन मेरो यह तन है।

'हरिऔध' ऐसे नाना-चावन को चेरो अहै
मोह-भरे-भावन मैं रहत मगन है ।
छोरि छोरि हारे छोरे बंधन न छूटि पाये
मोरि मोरि हारे मोरे मुरत न मन है ॥ ७ ॥

सवैया--

चाह नहीं सुर पादप को तर वाँ के तरून के जो रहि जैयै ।
प्यास पियूखहूं को न हिये 'हरिऔध' जो पूखन-जा लखिलैयै ।
काम-दुघाहुँ सों काम कहा वह गो-धन जो अपनो धन कैयै ।
त्यागिये राज तिहूं पुर को अज-पूजित जो व्रज की रज पैयै ॥८॥

मुख जोहत जो नित मेरे रहे उनको अब बैन सुनातो नहीं ।
जिनसामुहैं दीठ न कीनी कबौं उनको अवजोम जनातो नहीं ।
'हरिऔध' कहा कहै औरन की सगहूं लगतो नगिचातो नहीं ।
अब तो जग-जोवन तेरे विना जग आपनो कोऊ दिखातो नहीं ॥९॥

आरस छोरि लहौं तुलसी-दल पारस पाइ पलौं न उमाहौं ।
गावत वे प्रभु के गुन-पावन पावत मोद पलास की छांहौं ।
या जग मैं जकरे सँकरे परौं भाग छुटे 'हरिऔध' सराहौं ।
साँवरे राजते काज कहा हमैं रावरे पायन की रज चाहौं ॥१०॥

पाइ विभौ कबहूँ गरवात कबौं हित पेट के आतुर धावै ।
मोदसों मत्त बनै कबहूँ अति-चिन्तित ह्वै कबहूं अकुलावै ।
भूलै कबौं 'हरिऔध' सनेह मैं सोक-पगो कबहूँ बिलखावै ।
या विध बावरो जीव बनो रहै कैसे कबौं गुन-रावरो गावै ॥११॥

का पदवी जन-मान विभौ मिले जो पल मैं तजि संग पराहीं ।
विद्या विवेकते काज कहा छल छोरि कैतोको न जो पतियाहीं ।

तौ 'हरिऔध' दया-निधि साँवरे और कछू कबौं चाहत नाहीं ।
काहू उपावन प्रीति बनी रहै भावन वापद-पावन माँहीं ॥१२॥

विराग

दोहा——

थोरे मैं अवसर परे ओरे लौं गरि जात ।
गोरे-गोरे-गात पै कत कोऊ गरबात ॥ १ ॥

बाहु हेरि बह कत वृथा बनि पर-सुख-ससि राहु ।
सहसन के देखे कटी सहस-बाहु की बाहु ॥ २ ॥

कोऊ बलकरि अबल पै कत बलकत इतरात ।
लखे बलूले के सरिस बहु-बल-वान बिलात ॥ ३ ॥

सारी धरती मैं रही जासु धाक की धूम ।
धूमिल सक्यो मसान करि तासु चिता की धूम ॥ ४ ॥

जाके धौंसे की रही महि मैं भरी धुकार ।
धू धू धू धू जरि भयो सो छिति-तल की छार ॥ ५ ॥

तीन हाथ महि में परो तिनको गात लखात ।
जे अवनी-तल-पति रहे अवनी मैं न समात ॥ ६ ॥

काअनगन जन वाजि गज का धन लाख करोर ।
मनुज लेत मुँह मोरि जब देखि काल दृग कोर ॥ ७ ॥

भूमिका का शुद्धाशुद्ध पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	३	फूलों	फलों
३	१	ज, जे, जे	ज़, ज़े, ज़े
,,	१	खुश	ख़ुश
,,	२	ज्जें	ज्जे
,,	२	कृ तरुह	क्रूत रूह
४	१	सप	सर्प
,,	२२	तुलसा	तुलसी
१२	२६	नम	नाम
१४	१	लहरिया	लहरियों
,,	३	ाशर	शिर
२४	१	है	हैं
,,	७	सामाजिका	सामाजिकों
,,	,,	का	को
२७	९	हा	हो
३३	२	रगमंच	रंगमंच
,,	७	हाने	होने
३९	१	का	की
,,	१०	ावकास	विकास
५५	६	दोनों	दोषों
५९	९	होगा	होता
६४	१२	तो	हो
६५	१४	उसको	उसका
६७	२६	यह	वह
७३	१७	आत्या	आत्मा
७७	२०	असमावेश	समावेश भी
७८	२१	वत्तमान	वर्त्तमान
८०	१८	अथ	अर्थ
,,	२६	यह	ए

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८१	१	ता	ते
,,	१३	रस भाव	रस और भाव
,,	१८	रस संचारी	संचारी
८३	७	लिये	के लिये
,,	२६	का	को
८६	६	बिहँग	विहंग
,,	१५	लोकान्तर	लोकोत्तर
८७	६	काई	कोई
८९	१९	विहगिनी	विहंगिनी
९१	५	वत्तमान:	वर्त्तमान:
,,	७	गण्डष	गण्डूष
९३	१४	हिनोद	द्विनोद
९८	५	यवि	पवि
१०६	९	हाती	होती
१०८	२६	निमोहक	विमोहक
११०	१६	हाता	होता
११२	२१	होगा	होगी
११३	९	होगा	होगी
११४	२	होता	होती
११६	१२	चिन्तन	चिन्तनम्
,,	२३	वणन	वर्णन
११७	७	भद	भेद
,,	,,	वणन	वर्णन
१२४	८	निराला	निराली
१२६	२१	तक	तर्क
१३२	२०	वादिना	वादिनी
१३३	१५	परकाया	परकीया
१४५	१०	बीतरागा	बीतरागी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४७	१	किन्तु यदि	यदि
,,	,,	या	यो
१४८	१३	बड़ा	बड़ी
,,	२६	उमका	उनकी
,,	,,	स्वकाया	स्वकीया
१४९	२२	येक	मेक
१५०	१५	इसका	इसको
,,	२५	नायिकाओं	नायिकायें
१५५	२	ह	हौं
१५९	११	जैसा	जैसी
१६२	१	हा	ही
१६३	४	उसका	उसकी
,,	१२	पर्मेश्वर	परमेश्वर
१६५	१६	श्रा	श्री
१७४	७	विचितत्रा	विचित्रता
१७५	८	जहन्तुम	जहन्नुम
१७७	१	रहा	रही
१८२	१०	कविजन	अलहड़ कविजन
१८३	९	प	पड़ें
१८६	९	पर	कर
,,	११	बे	वे
,,	१७	का	की
१९३	१३	बनेगा	बनेगी
१९४	५	गृहस्थ	गृहस्थ गृह
१९५	१३	मदहि	मर्दहिं
२०२	५	नाजितो	नांजितो
२०३	१३	उठाने	उठने
२०५	६	हा	ही
२०७	४	कापण्य	कार्पण्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०८	७	चमत्कार	चमत्कारक
,,	१६	यतिः	रतिः
२०९	२४	से	में
२११	९	चहूँ	चढ़ूँ
,,	१४	होईं	होइ
२१२	२२	अलोकिक	अलौकिक
२१४	२	दूसरों	दूसरे
२१५	३	कथा अमृत	कथामृत
,,	२३	उनकी	उसकी
,,	२६	से	में
२१६	११	सिद्धात	सिद्धान्त
,,	१५, १६	दरख्तान,सब्ज	दरख्तान सब्ज़
,,	१६	दफतरेस्त	दफ़तरेस्त
२१७	११	का	की
,,	२०	मान	ज्ञान
२१८	२३	ससार	संसार
,,	७	भंडार	भाण्डार
,,	२४	हा	हो
२१९	१	स्वीकृत	स्वीकृति
,,	६	रस	अन्य रस के साहित्य
२२०	१३, १५	पुष्ट	पुष्टि
२२२	५	दुहुँ	दुहूँ
२२३	१३	रग	रंग
,,	१४	आनद	आनंद
२२४	३	बजाईं	बाजई
,,	४	एरिअन	एड़िअन
२२८	१	जाव	जीव
२२९	१	का	की

—हरिऔध

शुद्धाशुद्ध पत्र

पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२	से	सों
२१	छूवै	छ्वै
१९	फू	फ्
२२	हां	हों
१७	चहूंघो	चहूंघा
२०	ह्व	ह्वै
११	वैभवों को	वैभवन
२१	भलो	भली
२१	सीस	शीश
२	बारति	वारति
२२	सोहैं	सौं हैं
१	क	के
१६	तिर छों हीं	तिरछौंहीं
११	निबारति	निवारति
९	जान	जानि
२	निबसति	निवसति
२३	हैं	है
२०	आंखन	आंखिन
१८	लाग	लाज
७	छवै	छ्वै
९	हैं	है
७	झूकि	झुकि
१०	ंवर	भँवर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११९	२५	दावि	दाबि
१२३	२	दी	दो
,,	९	वह	यह
१२४	१०	परि चारि का न	परिचारिकान
१२७	१५	का	कौ
,,	२१	करत	करहिं
१२९	१२	बहु तेरो	बहुतेरो
१३१	२०	अँखिया	अँखियाँ
१३६	८	हाने	होने
१३७	१२	भींजत	भींजति
१४३	९	वारि	बारि
१५१	११	बज	बजि
१६७	१९	चलात	चलति
१७४	१९	कबौ	कबौं
,,	२४	दूजा	दूजो
१७५	२	प्रबाह	प्रवाह
१८१	७	सारीजर तारी	सारी जरतारी
१८५	२०	हो	ह्वै
,,	२१	धाप	धाम
१८८	२१	कालिंदी	कालिँदी
१९६	१५	कहे ई	कहेई
२०४	७	तंरु	तरु
२०५	१७	परम	सकल
२०८	६	तवि	तपि
२०९	७	सिंचत	सिँचत
२१३	२५	चांदनि	चाँदनी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१४	१७	बमल	विमल
२२३	१२	प्रबाल	प्रवाल
२२६	१४	पर तेजि है	परतेजि है
२२९	१६	लसे	लखे
,,	१९	कलाल	कलोल
२३४	८	माल	भाल
२३५	२, ९	अयलज	अयतज
,,	३	शोभा	भाव
,,	१२	ये	वे
,,	१८	विलएवं	बिल
,,	१९	अप	अल्प
२३७	३	अयलज	अयतज
,,	९.	का	की
२३९	१९	बश	वेश
२४४	४	पादी	पाहिँ
२५५	३	वियाग	वियोग
,,	,,	श्रृगार	श्रृंगार
२६६	१	था	क्यों
२६७	१३	ला	लौं
२६९	१८	बोल	बोलै
,,	१९	बैठे	बैठै
२७७	२२	धरा धिपते	धराधिपते
२८५	१७	बन	बनें
२८९	१८	आँख	आँखि
२९३	४	वहाँ	तहाँ
२९४	१६	रभा	रंभा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३१०	१०	के	कै
३१९	४	डरों	ह्वै
३४३	२९	मेरा	मेरो
३४६	१	सुराधिपशमन	सुराधिप शमन
३५०	८	दिखावगे	दिखावैंगे
३५३	७	जानत	जातन
३५८	११	ग्लानि	ग्लानि
२६१	८	विष	विख
,,	१०	आमिष	आमिख
,,	१२	शूकर	सूकर
१४३	२३	चिन्तित	चिन्हित
१५१	४	खटके	खरके
१५६	८	छयलवा	सजनवाँ
२११	१७	करत	करति
२२०	२३	अैन	मैन
२७०	१७	हसत	हँसत